Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति

3636

डा० विजय बहादुर राव

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

3686

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

उत्तर-वैदिक समाज एवं संस्कृति

[एक अध्ययन]

लेखक

डॉ० विजय बहादुर राव एम० ए०, पी-एच० डी०

प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,

गोरखपुर विश्वविद्यालय

प्रवेशक

डॉ० विश्वम्भर शरण पाठक

अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,

गोरखपुर विश्वविद्यालय

भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

प्रकाशक
किशोरचन्द जैन
भारतीय विद्या प्रकाशन
पो० बॉक्स १०८, कचौड़ी गली, वाराणसी

901.954
R 3

प्रथम संस्करण १०००
१५ अगस्त १९६६
मूल्य : १२-००

मुद्रक
शरदकुमार 'साधक'
मानव मन्दिर मुद्रणालय
नरहरपुरा, वाराणसी

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

आदरणीय भ्राता

श्री मूरत नारायण राव

को

सादर

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

प्रवेशक

नित्य छिप जानेवाली और प्रतिदिन प्रभात में अपने सौन्दर्य को बिखेरने वाली, अतीत और वर्तमान के युगल तत्त्वों से विभूषित उषा के समान इतिहास-संरचन भी द्विबर्हा है—

एषा व्येनी भवति द्विबर्हा
आविष्कृण्वाना तन्वं पुरस्तात् ।

इतिहास के लेखन का आधार ही है—विगत और वर्तमान का अन्तरावलम्बन, वृत्त और वर्तिष्यमाण के बीच एक निरन्तर चलनेवाला सम्वाद । नित्य परिवर्त्तित वर्तमान नित नये ढंग से समीक्षा करता हुआ अतीत की कथा को नये-नये परिवेश में उपस्थित करता रहता है । अतः इतिहास के लेखन में पूर्व का काल और आज का समय दोनों रहते हैं—अर्धनारीश्वर के समान नहीं जिसमें शिव और शक्ति अपने आधे-आधे व्यक्तित्वों के साथ एक दूसरे से जुड़े मात्र हैं किन्तु वाक् और अर्थ के सदृश जो दोनों अविशकलित रूप में संपृक्त हैं ।

अतीत के कथा की जो नवीन व्याख्या होती चलती है, उसका आधार है वर्तमान की अपनी दृष्टि और अपनी विधा । इस विचारोत्तेजक शोधप्रबंध में उत्तर वैदिककालीन सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में लेखक ने यह अभिनव दृष्टि और यह नई विधा देने का प्रयास किया जिसके कारण कुछ नये प्रश्न उठे और फलस्वरूप पूर्वप्रतिष्ठित इतिहास-संरचन की विधा को एक मृदु आह्वान भी मिला, जिसका किंचित् विवेचन यहाँ अभीप्सित है ।

प्रथम समस्या है—पुरातात्त्विक साक्ष्य और इस काल की साहित्य-परम्परा के सामञ्जस्य की । पुरैतिहासिक काल के लिये विशेषतः सैन्धव सभ्यता के इतिहास-लेखन में पुरातत्त्वज्ञ तत्कालीन साहित्यिक साक्ष्य के विमर्श में कुछ परेशानी का अनुभव करते हैं । यह माना जाता है कि ऋग्वेदीय और सैन्धव सभ्यता किन्हीं स्थितियों में समकालीन थी । अतः साधारणतः यह निष्कर्ष निकाला जावेगा कि सैन्धव सभ्यता का कुछ विकृत अथवा प्राकृत प्रतिफलन ऋग्वेदीय साहित्य पर पड़ सकता है । किन्तु इस प्रतिफलन का शोध और पुरातात्त्विक साक्ष्य के साथ उसका सामञ्जस्य अनिर्णीत है । इस प्रसंग में प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक ने ऋग्वेद के मंत्र का उद्धरण देकर उसकी पुरातात्त्विक प्रसङ्ग में व्याख्या की है :—

स इद्दासं तुवीर वं पतिर्दन षडक्षं त्रिशीर्षाणं दमन्यत् ।
अस्य त्रितो न्वो जसा वृधानो विपा वराहमयो अग्रयाहन् ॥ १०.९९.६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

यहाँ तीन सिर वाले (त्रिशीर्ष) और छः आँख के ऐसे दास का उल्लेख है जो त्रित के द्वारा मारा गया। इस त्रिशीर्ष का उल्लेख ऋग्वेद में अन्यत्र (१०.८.८) भी है जहाँ उसे त्वष्ट्रा का पुत्र और दस्यु कहा गया। यह परम्परा ब्राह्मणों और संहिताओं में भी उपलब्ध होती है। तैत्तिरीय संहिता में—

'विश्वरूपो वैत्वाष्ट्रः पुरोहितो देवानामासीत्
स्वस्त्रीयोऽसुराणां तस्य त्रीणि शीर्षाण्या
सन् त्सोमपानं सुरापानमन्नादनं। स
प्रत्यक्षं देवेभ्यो भागमवदत् परोक्षमसुरेभ्यः।
तस्मादिन्द्रोऽबिभेदीदृङ् वै राष्ट्रं
विपर्यावर्तयतीति। तस्य वज्रमादाय
शीर्षाण्यच्छिनद्यत् सोमपानम्।' २.५.१.१.

यहाँ त्वष्ट्रा के पुत्र त्रिशीर्ष-विश्वरूप को असुरों का भागिनेय और देवों का पुरोहित बतलाया गया तथा त्रित के स्थान पर इन्द्र को उसका शिरश्छेत्ता कहा गया। यह कथा शतपथ ब्राह्मण में भी उपलब्ध होती है जिसका संक्षिप्त कथन भागवत में तथा विस्तार से पल्लवन महाभारत में है। महाभारत में—

ऐन्द्रं स प्रार्थयत्स्थानं विश्वरूपो महाद्युतिः।
तैस्त्रिभिर्वदनैर्घोरैः सूर्येन्दुज्वलनोपमैः ॥४॥
वेदानेकान् सोऽधीते सुरामेकेन चापिबत्।
एकेन च दिशः सर्वाः पिबन्निव निरीक्षते ॥५॥
स तपस्वी मृदुर्दान्तो धर्मे तपसि चोधतः।
तपस्तस्य महत् तीव्रं सुदुश्चरमरिन्दमम् ॥६॥
—उद्योग, सेनोद्योग पर्व अध्याय ९

यहाँ ऐन्द्र पद की प्राप्ति के लिए त्रिशिरा-विश्वरूप का संघर्ष व्याख्यात है। यह भी ध्यातव्य है कि त्रिशिरा-विश्वरूप को महान् तपस्वी बतलाया गया। अन्यत्र महाभारत में विश्वरूप को सत् और असत् के परे विश्वोत्तीर्ण और विश्वानुग रूप में श्रेष्ठतम देवतत्त्व के रूप से भी चित्रित किया गया है। प्रसंगात् उल्लेख्य है कि विश्वरूप के समान रुद्र को भी त्वष्ट्रा का पुत्र हरिवंश में बतलाया गया है।

विश्वरूप-त्रिशिरा के तपस्वी-रूप के प्रसंग में कौषीतिकी ब्राह्मण का वह अंश जो तैत्तिरीय संहिता के वेदार्थ प्रकाश भाष्य में उद्धृत है काफी महत्वपूर्ण

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

होगा। उसमें त्रिशिरा-विश्वरूप को अरुणमुख यतियों में गिनाया गया है जिनको इन्द्र ने मार कर भेड़ियों को खिला दिया था—

'अतएव कौषीतिकन इन्द्रवाक्यमेतदामनन्ति
यन्मां विजानीयात्त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहमरु
न्मुखान् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छम्।'

इस तीन सिर वाले दास-दस्यु-यति-तपस्वी तथा विश्वानुग और विश्वोत्तीर्ण श्रेष्ठतम देव की प्रस्तुत शोध प्रबंध के लेखक ने अत्यन्त संक्षेप में पहिचान सैन्धव सभ्यता के उस त्रिशीर्ष पशुपति से की है जो एक मुद्रा पर योगी-महातपस्वी के रूप में उत्खचित है तथा जिसको सर जॉन मार्शन ने ऐतिहासिक शिव का पूर्वरूप कहा है।

यहाँ भारतीय साहित्य के साक्ष्य के साथ ही अवेस्ता में उल्लिखित परम्परा भी द्रष्टव्य है। गोश-द्रवास्प-यश्त में :—

वीसो पुत्रे आथ्व्यानोइश्
वीसो सूरयो थ्रएतऑनो।१३
अजीं दहाकं
क्ष्वष-अषीं थ्रिकमरधम्
अशऑजङघम् दअेवीं द्रुजम्।१४

आथ्व्य के पुत्र थ्रएतऑनो ने तीन सिर वाले (थ्रिजफनं), छः आँख वाले (क्ष्वश्–अषीं) दास (दहाकं) को मारा। अवेस्ता और वैदिक साहित्य के विद्वान् 'आप्त्य' और 'त्रित' का अवेस्ता–रूपान्तर 'आथ्व्य' और थ्रएतऑनो को मानते हैं। इसलिये त्रिशीर्ष एवं षडक्ष दास का त्रित के द्वारा मारा जाने की कथा की यथावत अवेस्ता-परम्परा है थ्रिजफ़न, क्ष्वष-अषी दहाक का थ्रएतऑनो द्वारा मारा जाना।

आवाँ अर्द्री सूर यश्त, राम यश्त, अर्द यश्त तथा यस्न (९-८) में भी यह परम्परा उपलब्ध होती है। आवाँ यश्त (कर्त ९) में यह विशेष सूचना मिलती है कि अजी दहाक बब्रोइ में मारा गया। बब्रोइ की पहिचान हरवामनी अभिलेखों और जातक साहित्य के बावेरु से और इसलिये बेबिलोन से की गई है (स्पीगेलः अवेस्ता पृ० ३४ पादटिप्पणी)।

त्रिशीर्ष–विश्वरूप थ्रिजफ़न अजी दहाक और त्रिमुख सैन्धव पशुपति का विचार-सूत्र जब बेबिलोन के पास पहुँचता है तो अनातोलिया के माध्यम से बेबिलोनी संस्कृति के कुछ तत्त्व बटोरे हुये हित्ती सभ्यता में आदृत तेशुब की समस्या एक नवीन रूप धारण कर लेती है। हित्ती पुरातत्त्व से ज्ञात तेशुब,

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

वृषभवाह, त्रिशूलधारी और पशुओं से घिरा हुआ है। उसकी पत्नी हेपत सिंह वाहिनी है। ये अनेकविध तत्त्व तेशुव को शिव-पशुपति के निकट ले आते हैं (हेमचन्द्र राय चौधरी, प्रोटोटाइप्स आफ शिव इन वेस्टर्न एशिया, डी. आर. भण्डारकर कमेमोरेशन वाल्यूम पृ० ३०२)।

इसमें सन्देह स्वल्प है कि इन दो सैन्धव एवं हित्ती पुरातत्त्वों के साक्ष्य और ऋग्वेदीय तथा अवेस्ता को उपर्युक्त परम्पराओं में अनेक विध साम्य है किन्तु इन ऐतिहासिक तत्त्वों की व्याख्या-विषयक एवं इस प्रकार के साक्ष्यों के बलाबल का निर्णय करने के लिए अभी कोई मीमांसा-शास्त्र उपलब्ध नहीं, और न इस प्रकार के हेतु और हेत्वाभासों में अन्तर बतलाने वाला कोई तर्कशास्त्र ही।

इस शोध प्रबंध से जिसका साक्षात् सम्बन्ध है ऐसी दूसरी समस्या है समाजशास्त्र की उपलब्धियों से इतिहास के कलेवर सजाने की।

बीसवीं शताब्दी के प्राथमिक दशकों तक प्राचीन भारतीय सामाजिक इतिहास और समाजशास्त्र की शोध की वृत्ति और विधा में काफी समानता थी। इस परम्परा के आज भी कुछ समाजशास्त्री हैं जो अपने अन्वेषण को ऐतिहासिक भूमिका से अलंकृत करते हैं। इस प्रसंग में विशेषतः उल्लेखनीय है मेक्स वेबर का जर्मन भाषा में उपनिबद्ध भारतीय धर्मों के समाजशास्त्रीय अध्ययन का स्तुत्य प्रयास।

बाद में प्रयोगात्मक विज्ञान की शीघ्र पद्धति का प्रभाव समाज-विज्ञान के विभिन्न शास्त्रों पर पड़ा और जिस प्रकार रॉ के और मॉससेन के प्रयत्नों से इतिहास में इतिवृत्तात्मक तत्त्वों का प्राधान्य तथा सिद्धान्त-प्रतिपादन में अरुचि आई, उसी प्रकार समाजशास्त्र में क्षेत्रीय कार्य (फील्ड वर्क) में निरीक्षित सामग्री के वस्तुनिष्ठ विश्लेषण तथा उसकी सीमित व्याख्या का बोल बाला हुआ। स्वाभाविक ही था ऐसे प्रयास में प्राचीन ऐतिहासिक परिपार्श्व का धीरे-धीरे अलग हो जाना। किन्तु समाजशास्त्र अथवा समाज-नृतत्त्वशास्त्र की (यथार्थतः ये दोनों शास्त्र अभिन्न हैं—इनका भेद बनावटी है) इस प्रकार की उपलब्धियाँ भी इतिहास-संरचन के लिए महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिये श्री निवास के संस्कृतीकरण का और मेकिम मेरियट के ग्रेट ट्रेडीशन और लिटिल ट्रेडीशन के साँचे में ढला हुआ पेरोकियलाइजेशन का सिद्धान्त, भारतीय संस्कृति के विशाल अतीत में विविधता को समझने के लिए उपादेय हो सकते हैं। साथ ही आदिम जातियों का अध्ययन, ग्राम्य और नागर जीवन के परिपार्श्व में परिवर्त्तनों के कारण, ब्राह्मणों के गोत्र-प्रवर-शाखा का क्षेत्रीय विस्तार आदि विषय प्राचीन भारतीय इतिहास में नवीन पहलुओं का उद्घाटन कर सकेंगे। आधुनिक समाज-

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

शास्त्रियों में इवांस प्रिचर्ड ने इतिहास और समाजशास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार कर अध्ययन के इस द्विवर्हात्मक स्वरूप पर जोर दिया है। इसी प्रकार कतिपय इतिहासकार जैसे अमेरिकी लेखक कॉकरेन और हॉफ्सटेडर ने समाज-शास्त्रीय उपलब्धियों का इतिहास-संरचन में उपयोग किया है। भारत में तो प्राचीन इतिहास और समाजशास्त्र में शोध का उद्भव भी प्रायः साथ ही साथ हुआ। फिर, परम्परा-विभूषित भारत देश में जहाँ प्राचीन तत्त्व पाषाणीकृत अथवा दूसरे प्रकार परिवर्त्तित रूप में आज भी मौजूद हैं समाजशास्त्र और प्राचीन इतिहास एक दूसरे को प्रभावित करते ही रहेंगे।

यह सच है कि प्राचीन इतिहास और समाजशास्त्र के अध्ययन-प्रणालियों में अन्तर है—उनकी दिशा भी भिन्न है। यदि समाजशास्त्री समाज में बिखरे हुए जीवित उपकरणों का अपने अध्ययन में उपयोग करता है तो इतिहासकार साधारणतः पुरातत्त्व तथा प्राचीन लिखित सामग्री पर निर्भर रहता है। इति-हासकार विशेष (पर्टीकुलर) की विशेषता द्योतन करता है तो समाजशास्त्री विशेष की आंशिक अथवा पूर्ण सामान्यता की ओर उन्मुख है।

इसलिए इतिहासकार के सम्मुख समाजशास्त्रीय उपलब्धियों का उपयोग करने में अनेक विध समस्यायें उपस्थित होती हैं। टॉमस कॉकरेन और हाफ्सटेडर ने अमेरिकी इतिहास के प्रसंग में इन कठिनाइयों का तथा उनके दूर करने के उपायों का विवेचन किया है (द्रष्टव्य, कॉकरेन : दी सोशल साइंसेज एण्ड दी प्राब्लेम आफ हिस्टॉरिकल सिंथेसिस; हाफ्सटेडर : हिस्ट्री एण्ड दी सोशल साइंसेज़)। किन्तु प्राचीन भारतीय इतिहास और समाजशास्त्र की समस्यायें बहुत भिन्न हैं।

इंगित के रूप में इस शोध प्रबन्ध में उठाई गई 'कामचार' (प्रॉमिस्क्विटी) के प्रथा की समस्या का विवेचन किया जा सकता है। वेस्टर्मार्क आदि विद्वानों ने विवाह के पूर्व प्रचलित कामचार के रूपों का तारतमिक विवेचन कर स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के विकास का इतिहास प्रस्तुत किया। इस मूलाधार पर डा० काशीप्रसाद जायसवाल और प्रो० अनन्त सदाशिव आलेतकर ने प्राचीन भारत में विवाह का क्रमिक विकास बतलाने की चेष्टा की। महाभारत में कम से कम पाँच स्थानों पर कामचार की प्रथा का उल्लेख है (सभापर्व १२३।३-२१ और १०४।३४-३६; कर्णपर्व, ३०; इत्यादि)। ऋग्वेद में विवाह-प्रथा का प्रतिष्ठित रूप दिखाई देता है, अतः उपर्युक्त विद्वानों ने महाभारत के इन कामचारों को प्राक् ऋग्वेदीय काल की प्रतिध्वनि के रूप से स्वीकार किया। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के लेखक ने इस आधार पर आगे बढ़ कर कहा कि ये कामचार सैन्धव०

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

सभ्यता में प्रचलित थे और महाभारत के साक्ष्य को कुछ पुरातत्त्विक सामग्री से समर्थित किया। इतिहास का सतर्क विद्यार्थी इस निष्कर्ष-परम्परा को पूर्णतः स्वीकार करने में हिचकता है, क्योंकि महाभारत के ये आख्यान काल-क्रम में ठीक सँजोकर नहीं रखे जा सकते हैं। इनमें से एक आख्यान तो निश्चित ही बहुत बाद का है। कर्णपर्व के मद्र-कुत्सन अध्याय में कर्णमद्र देश की निन्दा करता हुआ कहता है :

वासांस्युत्सृज्य नृत्यन्ति स्त्रियो या मद्यविमोहिताः।
मैथुनेऽसंयतश्चापि यथाकामवशाश्चताः॥

यह निश्चित ही कामचार का अथवा यों कहें कि शिथिल दाम्पत्य जीवन का वर्णन हैं, किन्तु यह कहना कि कामचार का वर्णन मात्र होने से ही यह प्राक्ऋग्वेदीय काल का है, सिद्ध-साधन दोष से दूषित होगा। सौभाग्यवश, इस आख्यान का कुछ सामान्य ढंग से काल निश्चित किया जा सकता है। पंजाब के आचारों का वर्णन उपस्थित करते समय इस अध्याय में उक्त है :

शाकलं नाम नगरमापगा नाम निम्नगा।
जर्त्तिका नाम वाहीकास्तेषां वृत्तं सुनिन्दितम्॥

यहाँ स्पष्टतः जर्त्तिक नामक जनों के वृत्तों का वर्णन है। मैं इन जर्त्तिकों की पहिचान चन्द्र-व्याकरण के 'जर्तु' जनों से करता हूँ जहाँ लिखा गया है कि अजयज्जर्तुः हूणान्। ये जर्तु-जर्त्तिक सम्भवतः आज के जाट हैं। अतः मद्रकुत्सन अध्याय का साक्ष्य आदिम (प्रिमिटिव) जीवन भले ही व्यक्त करता हो, उसको ऋग्वेद के पूर्व की संस्कृति का साक्षी नहीं माना जा सकेगा। इस प्रकार के अन्य आख्यानों का काल निश्चित नहीं किया जा सकता है, और इसलिए इतिहास के विद्यार्थी को इस प्रकार की सामग्री के सम्बन्ध में मौन का ही अवलम्बन करना पड़ेगा।

इसी प्रकार विश्व के विभिन्न भागों में फैली हुई जन-जातियों के अध्ययन से समाज शास्त्रियों ने राज्य की उत्पत्ति, परिवार के संगठन, नागरीकरण से संस्कृति और जीवन-पद्धति में परिवर्त्तन आदि ऐसे विषयों का ऊहापोह किया है जो इतिहासकार के रुचि-वृत्त के अन्तर्गत हैं। नागरीकरण केवल आज की ही उत्पन्न प्रवृत्ति नहीं। भारतीय संस्कृति भी ग्राम्य एवं नागर जीवन की दोला पर झूलती हुई बदली है। किन्तु नागरीकरण के परिवर्त्तन की जो रूपरेखा समाजशास्त्री रखते हैं उसका उपयोग इतिहास का विद्यार्थी किस प्रकार कर सकता है—यह आज भी विवेचनीय है। राज्य की उत्पत्ति का जो सामान्य ढांचा समाजशास्त्र में उपलब्ध है वह क्या संस्कृति-विशेष के परिप्रेक्ष्य में ढूट न

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

जायगा—इसकी असंभावना कैसे की जा सकती है ? प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के लेखक ने समाजशास्त्रीय निष्कर्षों और उपब्धियों को ऐतिहासिक विश्लेपण की कसौटी पर कसा है—देश-काल-विशिष्ट साक्ष्यों से पुष्ट कर ही स्वीकार किया है।

तीसरी समस्या उठती है तुलनात्मक भाषाविज्ञान की उपलब्धियों का इतिहास-संरचन में उपयोग करने पर। भाषाविज्ञान के अनेक पक्षों का क्रमशः उद्घाटन हो रहा है—ग्लॉटो क्रॉनॉलॉजी की शाखा इतिहास के विद्वानों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगी। इनके प्रयोग के लिए इतिहासकार को अपनी कल्पविधि तो प्रस्तुत करनी ही पड़ेगी। किंतु यहाँ विचारणीय है पारम्परिक तुलनात्मक भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों का इतिहास में यथावत प्रयोग करने से उठने वाली कठिनाइयाँ। उदाहरण के लिए 'शर्व' शब्द को लें। ब्राह्मणों में शिव के अनेक नामों में शर्व भी बतलाया गया है। किन्तु ऋग्वेदीय देवतामण्डल में शर्व अनुपस्थित हैं। सर्वप्रथम शर्व के दर्शन हमें अथर्ववेद में होते हैं। अतः साधारणतः मान्य सिद्धान्त है कि 'शर्व' उत्तर वैदिककालीन भारतीय देव हैं, और इसका सम्बन्ध भारत के बाहर—भारतेरानी अथवा भारोपीय संस्कृति से नहीं। किन्तु अवेस्ता के वेंदिदाद (विदइवोदात, कर्त्त १०, १७) में इन्दरु (इन्द्र), नाञहेइति (नासत्य द्वय), जैरि (हरि) और तौरु के साथ शौरु (शर्व) का उल्लेख है। प्रायः सभी अवेस्ता साहित्य के विद्वान् शौरु के साथ शर्व की पहिचान करते हैं—उनकी अभिन्नता घोषित करते हैं (मार्टिन हॉग : एसेज ऑन दी सेक्रेड लेंग्वेज, रायटिंग्ज एण्ड रिलीज़न ऑफ दी पारसीज्, १८६२, पृ० २३०; आर्थर हेनरी ब्लेक; अवेस्ता, १८६४ पृ० ९३-९४; ज़ेइनर : दि डॉन एण्ड ट्विलाइट ऑफ ज़ोरास्ट्रियनिज्म, १९६१, पृ० ८८)। यहाँ शर्व के साथ ऋग्वेदीय देवताओं इन्द्र और नासत्य का उल्लेख द्रष्टव्य है। अथर्ववेद के शर्व को अवेस्ता के शर्व के साथ मिलाने में अनेक समस्यायें उपस्थित होती हैं। यह माना जाता है कि भारतेरानी आर्यों की एक शाखा ईरान में बसी ओर दूसरी भारतवर्ष में आई। आर्यों के भारतीय शाखा की संस्कृति ऋग्वेद में अंशतः प्रतिबिम्बित है और ईरानी आर्यों की परम्परा कुछ परिवर्त्तित रूप में अवेस्ता में संग्रहीत है। संस्कृति के जो तत्त्व अवेस्ता और ऋग्वेद में अभिन्न रूप से मिलते हैं, वे मूल भारतेरानी से लिये गये और इसलिये भारतेरानी युग के माने जाते हैं। किन्तु जब हम शर्व के दर्शन अवेस्ता में करते हैं और फिर उसे ऋग्वेद में न पाकर अथर्ववेद में देखते हैं तो उपर्युक्त मान्य सिद्धान्त में विसंगति उपस्थित होती है—यह प्रश्न उठता है कि शर्व को ऋग्वेद के अवान्तर काल का देव मानें अथवा भारतेरानी युग का।

इस प्रकार के नवीन प्रश्न और नयी समस्यायें उपस्थित कर उनके समाधान के माध्यम से प्रस्तुत लेखक ने उत्तर वैदिककाल की संस्कृति के इतिहास को

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

अभिनव सज्जा देने का प्रयत्न किया है ! स्वयं उत्तरवैदिक काल भारतीय संस्कृति के अध्ययन के लिए असाधारण महत्त्व का है क्योंकि इस काल के साहित्य में भारतीय संस्कृति के मूलाधार का रूपाङ्कन विशेष स्पष्ट है। प्रयाग के संगम में यमुना के समान किरात, निषाद आदि सहायक सांस्कृतिक-धारायें प्रमुख प्रवाह से मिलकर भी अपने योग को इस काल के साहित्य में आपेक्षिक रीति से पृथक् रूप में स्पष्ट करती हैं। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में इन सबका सतर्क विवेचन है। संस्कृति के विभिन्न पक्षों का उद्‌घाटन तो इस प्रबन्ध में प्राप्त ही होता है, किन्तु साथ में विभिन्न पक्षों के अन्तरावलम्बन पर भी दृष्टि है। इस ग्रंथ से हिन्दी साहित्य के भारती-भवन की निश्चित ही श्री वृद्धि होगी।

—विश्वम्भर शरण पाठक

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

प्राक्कथन

भारतीय संस्कृति की एक महत्वपूर्ण विशेषता इसकी ग्रहणशीलता एवं समन्वय की प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति पुरा-ऐतिहासिक काल से लेकर आज तक एक सांस्कृतिक आदर्श के रूप में सदैव उपस्थित रही है। ऐतिहासिक युग में भारतीय समाज ने जहाँ यवनों, शकों, पहलवों एवं हूणों को आत्मसात किया, वहीं पुरा-ऐतिहासिक युग में द्रविड़ (भूमध्यसागरीय) निषाद (प्रोटो-आस्ट्रलायड) किरात (मंगोलायड) एवं आर्य जाति के सम्पर्क एवं सामंजस्य के परिणामस्वरूप भारतीय समाज एवं संस्कृति का स्वरूप निर्धारित हुआ। आर्यों के भारत-प्रवेश के समय पंजाब ओर सिन्ध में समृद्ध सैन्धव संस्कृति का विस्तार था। यद्यपि आर्यों ने पराक्रम से सैन्धव संस्कृति के भौतिक कलेवर को ध्वस्त कर दिया किन्तु यह विध्वंश निरन्वय नहीं था। सैन्धव संस्कृति की परम्परायें उसके बाद भी जीवित रहीं तथा उत्तरवैदिक युग के अपेक्षया शान्त एवं सहयोगपूर्ण वातावरण में पुनरुन्मज्जित एवं विकसित हुईं। पूर्व-वैदिक युग की आर्य-संस्कृति उत्तर वैदिक-युग में पूर्ववर्तिनी आर्येतर सैन्धव संस्कृति से अतिशय प्रभावित हुई। सत्य तो यह है कि आर्य एवं आर्येतर सांस्कृतिक आदर्शों एवं उपलब्धियों के सामंजस्य से ही उत्तर वैदिक संस्कृति का स्वरूप स्थिर हुआ। उत्तर-वैदिक समाज एवं संस्कृति के निर्माण में द्रविड़ एवं आर्य जातियों के अतिरिक्त गंगा की घाटी में बसनेवाले निषादों का भी प्रबल योग था। यही प्रदेश उत्तर-वैदिक सांस्कृतिक जीवन का केन्द्र भी था। आर्य एवं आर्येतर सांस्कृतिक धाराओं में समन्वय की प्रवृत्ति उत्तर-वैदिक जीवन के विबिध क्षेत्रों में द्रष्टव्य है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के अन्तर्गत सगन्वय की इस प्रक्रिया को प्रमुख स्थान दिया गया है।

यह शोध-प्रबन्ध छः अध्यायों में विभक्त है जिनके माध्यम से उत्तर-वैदिक समाज एवं संस्कृति के कुछ प्रमुख पक्षों पर विचार किया गया है। प्रथम अध्याय में उत्तर-वैदिक संस्कृति के विकास की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई है तथा उन प्रजातियों एवं संस्कृतियों का उल्लेख किया गया है जिनके संघर्ष एवं समन्वयके परिणामस्वरूप उत्तर-वैदिक समाज एवं संस्कृति का स्वरूप निर्धारित हुआ। इस प्रसंग में पुरातात्विक प्रमाणों के साथ ही नृतत्वशास्त्रीय एवं भाषावैज्ञानिक साक्ष्यों की भी सहायता ली गई है। सर्वप्रथम प्रागार्य एवं आर्येतर सैन्धवसभ्यता का वर्णन है जिसे मुख्यतः भूमध्यसागरीय (द्रविड़) जाति की देन माना गया है। तत्पश्चात् क्रमशः निषाद, किरात एवं पूर्व-वैदिक आर्य-संस्कृति का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय में सुविदित तथ्यों एवं मतों के अतिरिक्त कुछ नवीन विचार भी प्रस्तुत किये गये हैं जिनका यहाँ संकेत मात्र

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj, Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

पर्याप्त होगा। इनमें सैंधव समाज में मातृसत्तात्मक व्यवस्था, यौन-सम्बन्धों की शिथिलता, निकटागिगमनकी परम्परा तथा सन्तान-प्राप्ति के लिये पिप्पल वृक्ष की उपासना आदि उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार मुनियों और श्रमणों की अवैदिक धार्मिक परम्परा को निषाद संस्कृति से सम्बद्ध किया गया है।

द्वितीय अध्याय में उत्तर-वैदिक युग के भौतिक जीवन एवं आर्थिक प्रगति का वर्णन है। आर्थिक दृष्टि से उत्तर-वैदिक समाज को कुछ उपलब्धियाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इस प्रसंग में समाज का लौह युग में प्रवेश, विलुप्त नागरिक-जीवन का पुनरुत्थान, विविध शिल्पों का विकास तथा वाणिज्य एवं व्यापार का सम्बर्धन आदि उल्लेखनीय तथ्य हैं। इनमें प्रथम को छोड़ कर शेष सभी के विकास में आर्येतर सैन्धव संस्कृति का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस अध्याय-की सामग्री साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों के समवेत एवं तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर प्रस्तुत की गई है।

तृतीय अध्याय में वर्ण-विभाजन की वर्धमान प्रक्रिया का विवरण दिया गया है। इस प्रसंग में कुछ बातें विशेष उल्लेखनीय हैं। उदाहरण के लिये सामाजिक श्रेष्टता एवं नेतृत्व के लिये व्याप्त वर्ण-संघर्ष, वर्ण-व्यवस्था के माध्यम से आर्य एवं आर्येतर समाज का परस्पर विलयित एवं निमज्जित हो जाना तथा अधिकांश आर्येतरों का शूद्र वर्ण के अन्तर्गत परिगणन एवं शूद्रों की हीनस्थिति युगीन वर्ण-व्यवस्था की प्रमुख विशेषतायें हैं। वर्ण-व्यवस्था के विकास के साथ ही वैश्यों की स्थिति में क्रमिक ह्रास अनार्य-सम्पर्क-जन्य था।

चतुर्थ अध्याय में उत्तर-वैदिक-युगीन पारिवारिक संगठन एवं उसको प्रभावित करने वाली विभिन्न आर्थिक, धार्मिक शक्तियों की विवेचना की गई है तथा परिवार के प्रत्येक सदस्य की स्थिति पर विचार करते हुये उनके महत्व में ह्रास अथवा विस्तार के कारणों का उल्लेख हुआ है। इस युग में स्त्रियों की दशा ह्रासोन्मुख दिखाई देती है। स्त्रियों को धार्मिक क्रियाकलापों से बहिष्कृत करने की प्रवृत्ति तथा वर्धमान बहुभार्यता के पीछे भी आर्य आर्येतर सम्पर्क एक प्रेरक तत्व माना गया है।

पंचम अध्याय में उत्तर-वैदिक युग में राजशक्ति के विकास का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इस युग में सर्वप्रथम स्थायी भूमियुक्त राज्यों की स्थापना तथा विभिन्न प्रकार की शासन-पद्धतियों की कल्पना हुई है। इनमें स्वराज्य एवं भौज्य शासन पद्धतियों का सम्बन्ध आर्येतर परम्परा से प्रतीत होता है। इस अध्याय में राजा की शक्ति, अधिकार एवं कर्त्तव्य, राजसत्ता पर अंकुश तथा राजकर्मचारियों के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण दिया गया है।

छठें अध्याय में उत्तर-वैदिक धर्म के विकास का अध्ययन है। उत्तर-वैदिक धर्म में पूर्व-वैदिक धार्मिक परम्पराओं के अन्तःविकास के साथ ही आर्येतर धर्म-

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

धाराओं का प्रचुर प्रभाव भी परिलक्षित है। आर्य एवं आर्येतर परम्पराओं का समन्वय देवतत्व, यज्ञ-तत्व एवं दार्शनिक चिन्तन के विकास के क्षेत्र में समानरूपेण उपलब्ध होता है। देवताओं में रुद्र शिव तथा प्रजापति की वर्धमान प्रतिष्ठा अंशतः अनार्य-प्रभाव-जन्य है। इसी प्रकार पुरुषमेध की अति-प्राचीन परम्परा का उन्मज्जन भी पुरातात्विक एवं साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर आर्य एवं आर्येतर सांस्कृतिक धाराओं के सम्पर्क एवं सामञ्जस्य का परिणाम प्रतीत होता है। धर्म के क्षेत्र में समन्वयात्मक सामाजिक बुद्धि का श्रेष्ठतम उदाहरण प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का सामंजस्य है। ईशोपनिषद् में निष्काम-कर्म का सन्देश प्रथम बार मुखरित हुआ है तथा साथ ही नवांकुरित आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत भी निवृत्ति एवं प्रवृत्ति के समन्वय का प्रयास द्रष्टव्य है।

इस प्रबन्ध की रचना में वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं उपनिषदों का उपयोग आधार-ग्रन्थ के रूप में हुआ है। ऋक्संहिता का उपयोग विशेषतः पूर्व-वैदिक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करने के लिये किया गया है। प्रासंगिक तथा आनुषंगिक उल्लेख के लिये अन्य परवर्ती संस्कृति एवं पालि ग्रन्थों की सहायता यत्र-तत्र ली गई है। इसके अतिरिक्त नृतत्वशास्त्र एणं भाषाविज्ञान से ज्ञात तथ्यों का भी यथास्थान प्रयोग किया गया है। पुरातात्विक सामग्रीका प्रयोग तो ऐतिहासिक अध्ययन के लिये प्रायः अनिवार्य है क्योंकि पुरातात्विक-प्रमाण साहित्यिक साक्ष्यों के लिये भी कसौटी का काम देते हैं तथा अनेक ऐसे तथ्यों का उद्घाटन एवं स्पष्टीकरण करते हैं जिनके विषय में साहित्य मौन एवं अस्पष्ट है। अतएव इस ग्रन्थ में उत्तर-वैदिक युग तथा उसकी पृष्ठभूमि से सम्बन्धित समग्र पुरातात्विक सामग्री का प्रयोग यथोचित ढंग से किया गया है।

इस प्रबन्ध के प्रणयन में अनेक आधुनिक विद्वानों के ग्रन्थों से भी यथेष्ट सहायता ली गई है। स्थानाभाव के कारण यहाँ उन सबके नामों का उल्लेख सम्भव नहीं है इसलिये मैं उन सभी विद्वानों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ जिनके नाम आधार-ग्रन्थ-सूची में उल्लिखित हैं।

इस प्रबन्ध-लेखन में लेखक को अनेक महानुभावों से सहाया एवं सहयोग प्राप्त हुआ है। प्रस्तुत विषय पर शोध कार्य की प्रेरणा डा० गोविन्दचन्द्र पाण्डे, प्रोफेसर और अध्यक्ष इतिहास और संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, ने दी थी। उन्होंने पाण्डुलिपि देखकर तथा अनेक बहुमूल्य सुझाव देकर उपकृत किया जिसके लिए लेखक उनके प्रति आभार प्रकट करता है। डा० रामवृक्ष सिंह, रीडर, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, के स्नेह एवं आशीर्वाद से ही यह शोध कार्य सम्पन्न हो सका है। उन्होंने इस प्रबन्ध की रचना में आद्योपान्त पथप्रदर्शन करके तथा दुरुह समस्याओं के समाधान द्वारा लेखक के उत्साह एवं विश्वास को सम्वलित किया

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

है। लेखक इस अनुग्रह के लिए उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता है। प्राचीन इतिहास संकृति एवं पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष डा० विश्वम्भर शरण पाठक की प्रेरणा तथा उत्साहवर्धन से ही प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशित हो सका है। उन्होंने विभिन्न व्यस्तताओं के होते हुए भी 'प्रवेशक' लिखकर लेखक को कृतार्थ किया है। लेखक इसके लिए उनका अत्यन्त अनुग्रहीत है। लेखक अपने मित्र एवं सहोगी श्री श्रीराम गोयल के प्रति भी आभारी है जिन्होंने इस प्रबन्ध रचना में लेखक को हर सम्भव सहायता सहर्ष एवं सोत्साह प्रदान की। अन्ततः लेखक प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के अपने सहयोगियों के प्रति भी हृदय से आभारी है जो समय-समय पर बहुमूल्य सुझाव देते रहे हैं। श्री किशोरचन्द जैन, भारतीय विद्या प्रकाशन, ने पुस्तक के प्रकाशन में जो शीघ्रता दिखाई है उसके लिए लेखक उसका कृतज्ञ है।

शीघ्रता में छपने के कारण पुस्तक में यत्र-तत्र मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियाँ रह गई हैं। लेखक उनके लिए क्षमा प्रार्थी है।

—विजय बहादुर राव

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

विषय-सूची

प्राग्-वैदिक एवं पूर्व-वैदिक पृष्ठ-भूमि १-३५

आर्येतर तथा आर्य संस्कृति पृ० १, सैन्धव संस्कृति पृ० २, सांस्कृतिक उपलब्धियाँ पृ० ३, धर्म पृ० ४, सामाजिक व्यवस्था पृ० ८, मातृसत्तात्मक व्यवस्था पृ० ९, निषाद संस्कृति पृ० ११, किरात संस्कृति पृ० १९, आर्यों का आगमन और सैन्धव सभ्यता का विलोप पृ० २०, पूर्व वैदिक संस्कृति पृ० २४, आर्थिक जीवन पृ० २४, राजनैतिक संगठन पृ० २६, समाज में विभाजन की प्रकिया पृ० २७, पारिवारिक व्यवस्था पृ० २९, पारिवारिक जीवन में पितृ-प्रभुत्व की सीमाएँ पृ० २९, पूर्व वैदिक आर्य धर्म पृ० ३२,

उत्तर वैदिक युगीन भौतिक जीवन एवं उपलब्धियाँ ३६-७१

भौगोलिक विस्तार पृ० ३७, उत्तर-वैदिक ग्राम पृ० ४३, भूमि पृ० ४३, भूमि पर राजकीय प्रभुत्व पृ० ४५, ग्राम्य जीवन पृ० ४६, नगरों का विकास पृ० ४७, कृषि पृ० ४९, विविध धान्य पृ० ५३, पशुपालन पृ० ५४, विविध शिल्प एवं व्यवसाय पृ० ५७, धातु विज्ञान और लौह युग में प्रवेश पृ० ६२, व्यापार एवं वाणिज्य पृ० ६४, गृह निर्माण एवं विविध घरेलू उपकरण पृ० ६८।

वर्ण-व्यवस्था ७२-१२५

वर्ण व्यवस्था के विकास में धार्मिक परिस्थिति का योग पृ० ७६, आर्थिक विकास और सामाजिक व्यवस्था पर उसका प्रभाव पृ० ७९, ब्राह्मण वर्ग की सामाजिक स्थिति पृ० ८२, सामाजिक प्रधानता पृ० ८७, विशेषाधिकार पृ० ९०, राजसत्ता के प्रभाव से मुक्ति का प्रयत्न पृ० ९१, उत्तरदायित्व एवं कर्त्तव्य पृ० ९२, अध्यापन पृ० ९५, यज्ञसम्पादन पृ० ९६, ब्राह्मण-क्षत्रिय प्रतिस्पर्धा पृ० ९७, राजन्य वर्ग और उसकी सामाजिक स्थिति पृ० १०१, वैश्य पृ० १०३, वैश्यों की सामाजिक स्थिति में क्रमिक ह्रास पृ० १०४, शूद्र पृ० १०८, शूद्रों की उत्पत्ति पृ० १०९, शूद्रों की हीन अवस्था पृ० ११२, धार्मिक जीवन से शूद्रों के पृथक्करण का प्रयास पृ० ११६।

पारिवारिक संगठन और स्त्रियों की दशा १२६-१६१

सयुक्त परिवार पृ० १२६, विघटन के प्रमुख कारण पृ० १२९, संयुक्त परिवार की अक्षुण्ण परम्परा पृ० १३१, दाम्पत्य जीवन की

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

महत्ता पृ० १३६, विवाह पृ० १३७, पति-पत्नी पृ० १४४, पिता पृ० १४५, परिवार में पुत्रों का महत्वपूर्ण स्थान पृ० १४६, कन्या की स्थिति पृ० १४९, वधू पृ० १५१, स्त्रियों की दशा पृ० १५३, वैधव्य पृ० १५९, पुनर्विवाह अथवा नियोग पृ० १६० ।

समाज और राज्य १६२-१९७

स्थायी प्रादेशिक राज्यों की स्थापना पृ० १६३, शासन पद्धतियाँ पृ० १६४, राजतन्त्र पृ० १७०, आनुवंशिक राजपद पृ० १७०, राजशक्ति का विस्तार एवं राजा के विशेषाधिकार पृ० १७२, राजशक्ति की मर्यादा पृ० १७८, राजा के कर्तव्य पृ० १८०, राजकीय आय पृ० १८२, राज-कर्मचारी पृ० १८४, राज्य के सात अंग पृ० १९५ ।

समाज और धर्म १९८-२५२

सामाजिक और आर्थिक परिवेश तथा धर्म पर उसका प्रभाव पृ० १९९, यज्ञों का विकास एवं विस्तार पृ० २०१, यज्ञों का वर्गीकरण पृ० २०३, अग्निहोत्र पृ० २०४, दर्श और पूर्णमास पृ० २०४, चातुर्मास्य पृ० २०५, आग्रयण पृ० २०५, निरूढ़ पशुबन्ध पृ० २०६, सौत्रामणी पृ० २०६, पिण्ड पितृ यज्ञ पृ० २०७, सोम यज्ञ पृ० २०८, अग्निष्टोम पृ० २०८, उक्थ्य पृ० २०८, षोडशी पृ० २०८, अतिरात्र पृ० २०८, अत्यग्निष्टोम पृ० २०९, आप्तोर्याम पृ० २०९, पुरुषमेध पृ० २०९, आर्येतरीय प्रभाव पृ० २१६, पंचमहायज्ञ पृ० २१७, यज्ञमूलक धर्म का विरोध तथा ज्ञान कीमहत्ता का प्रतिपादन पृ० २१९, देवतत्व पृ० २२०, आर्येतर प्रभाव पृ० २२१, देवताओं के महत्व में ह्रास के कारण पृ० २२२, इन्द्र और वरुण पृ० २२३, प्रजापति पृ० २२४, रुद्र पृ० २२६, विष्णु पृ० २३४, अन्य नवीन देवता पृ० २३६, औपनिषद दर्शन पृ० २३८, मूल समस्यायें पृ० २३९, ब्रह्म का स्वरूप पृ० २४१, अद्वैतवाद पृ० २४३, श्वेताश्वतर उपनिषदका ईश्वरवाद पृ० २४३, जीव और आत्मा पृ० २४४, बन्धन और मोक्ष पृ० २४५, मोक्ष के साधन पृ० २४६, पुनर्जन्म एवं कर्मवाद का सिद्धान्त पृ० २४८, औपनिषद दर्शन का सामाजिक जीवन पर प्रभाव पृ० २४९, समन्यवादी दृष्टिकोण पृ० २५१ ।

आधार-ग्रन्थ सूची तथा अनुक्रमणिका

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

संकेत-सारिणी[1]

आश्व० गृ० सू०	आश्वलायन गृह्यसूत्र
आप० ध० सू०	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आप० गृ० सू०	आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
आप० श्रौ० सू०	आपस्तम्ब श्रौत सूत्र
ऋ०	ऋग्वेद
ऐत० आ०	ऐतरेय आरण्यक
ऐत० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
ऐत० उप०	ऐतरेय उपनिषद
का० सं०	काठक संहिता
गौ० ब्रा०	गोपथ ब्राह्मण
गौ० ध० सू०	गौतम धर्मसूत्र
छान्दोग्य उप०	छान्दोग्य उपनिषद्
जै० ब्रा०	जैमिनीय ब्राह्मण
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० उप०	तैत्तिरीय उपनिषद्
बृ० उप०	बृहदारण्यक उपनिषद्
बौधा० ध० सू०	बौधायन धर्म सूत्र
बौधा० श्रौ० सू०	बौधायन श्रौत सूत्र
मै० सं०	मैत्रायणी संहिता
वाज० सं०	वाजसनेयी संहिता
शत० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
श्वेता० उप०	श्वेताश्वतर उपनिषद
शांख्या० ब्रा०	शांख्यायन ब्राह्मण
शांख्या० श्रौ० सू०	शांख्यायन श्रौत सूत्र

१. इस सूची में उन ग्रन्थों के संकेत चिह्न दिये गये हैं जिनका प्रस्तुत प्रबन्ध में संक्षिप्त नाम से उल्लेख है। शेष ग्रन्थों का उल्लेख उनके पूर्ण नाम से हुआ है।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

प्राग्-वैदिक

एवं

पूर्व-वैदिक पृष्ठभूमि

उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति का अध्ययन करने के पूर्व उन प्रजातियों (रेसेज) एवं संस्कृतियों का अध्ययन करना अनिवार्य है जिनके संघर्ष तथा समन्वय ने प्रागैतिहासिक युग से ही भारतीत संस्कृति को चेतना प्रदान की। आर्य जाति के गौरव का शंखनाद करनेवाले पुराविदों ने भारत-वर्ष में सभ्यता की रश्मियों का प्रवेश आर्यों के आगमन के साथ माना है।[1] उनके अनुसार भारतीय संस्कृति में जो कुछ स्वस्थ सुन्दर तथा प्राणवान है वह आर्य जाति की देन है। किन्तु सिन्ध तथा पंजाब की हड़प्पा संस्कृति के प्रकाशन के पश्चात् सप्त-सैन्धव में आर्यों का प्रवेश एक सभ्य प्रदेश में बर्बर जाति का आगमन प्रतीत होता है।[2] इसलिए यह बात अब प्रायः स्वीकृत होने लगी है कि भारतीय संस्कृति के निर्माण में अनार्यों का योग विशेष रूप से गुरुतर रहा है।[3] यद्यपि आर्यों ने अपनी पूर्व-वर्तिनी आर्येतर सभ्यता को नष्ट करके अपनी विशिष्ट भाषा, धर्म तथा समाज को भारत में प्रतिष्ठित किया तथापि यह निर्विवाद है कि यह सांस्कृतिक विध्वंस निरन्वय नहीं था। इस साक्षर नागरिक सभ्यता के अनेक तत्व परवर्ती आर्य-सभ्यता में अङ्गीकृत हुए। सत्य तो यह है कि अनेक धार्मिक तथा समाजिक परम्परायें, प्राचीन कथानक तथा इतिहास इन्हीं अनार्यों की संस्कृति के उपादान हैं जिन्हें आर्यों ने अपनी प्रबल भाषा के माध्यम से आत्मसात कर लिया। आर्य तथा आर्येतर संस्कृतियों का यह समन्वय भारतीय सभ्यता के निर्माण की आधार-शिला सिद्ध हुआ। इसका प्रभाव

आर्येतर तथा आर्य संस्कृति

---

१. कीथ, ए० बी०, रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद, भाग १, १९२५, पृ० १०

२. पिगट, एस०, प्रिहिस्टोरिक इण्डिया, पृ० २५६–५८

३. हाल, एच० आर, हिस्टरी आव दि नियर ईस्ट, पृ० १७८, पादटिप्पणी

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

उत्तर-वैदिक युग की सामाजिक व्यवस्था तथा आध्यात्मिक आन्दोलन में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है।[१]

सैन्धव संस्कृति

दीक्षितार, रामचन्द्रन, लक्ष्मणस्वरूप तथा शंकरानन्द आदि अनेक विद्वानों का यह विचार है कि सैन्धव संस्कृति के निर्माण का श्रेय आर्यों को दिया जाना चाहिए। किन्तु सर जान मार्शल के प्रबल तर्कों से स्पष्ट है कि सैन्धव संस्कृति आर्येतर तथा वैदिक संस्कृति की पूर्ववर्तिनी थी।[२] हड़प्पा एवं मोएनजोदड़ो से प्राप्त अस्थिपंजरों से यहाँ विभिन्न प्रजातियों के निवास का बोध होता है जिनमें मूल आस्ट्रेलिद (निषाद) भूमध्यसागरीय (द्रविड़) तथा मंगोलिद (किरात) प्रमुख थीं। इन नगरों की मिश्रित जनसंख्या का कारण सम्भवतः इनका व्यापारिक एवं औद्योगिक आकर्षण था। अभी तक परीक्षित कपालों की संख्या इतनी अल्प है कि उनके आधार पर हड़प्पा-निवासियों की जातिगत विशेषताओं का विशद वर्णन नहीं किया जा सकता। इस प्रसंग में ध्यान दिलाया जा सकता है कि हड़प्पा के 'आर ३७' और 'एरिया जी' से उपलब्ध प्रचुरतर सामग्री का नृत्तत्वीय विश्लेषण अभी कर्तव्य है।[३] भाषाविज्ञान, पुरातत्व, नृतत्वशास्त्र तथा प्राचीन तमिल साहित्य आदि साक्ष्यों पर समवेत विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि सैन्धव संस्कृति प्रधानतः द्रविड़ संस्कृति थी। इस प्रदेश में द्रविड़ भाषा के अवशेष आज भी उपलब्ध है। बलूचिस्तान की ब्राहुई भाषा में न केवल द्रविड़ भाषा के शब्द मिलते हैं बल्कि बहुसंख्यक मुहावरे भी बिखरे पड़े हैं।[४] इसके अतिरिक्त अद्यावधि परीक्षित कपालों में भूमध्यसागरीय तत्व की बहुलता तथा तमिल संस्कृति की सैन्धव संस्कृति से अनुरूपता द्वारा भी इस विचार की पुष्टि होती है।

सैन्धव सभ्यता सिन्धु नदी की उपत्यका तक ही सीमित नहीं थी। इसका प्रभाव उत्तर में शिमला की पहाड़ियों में स्थित रुपड़ से लेकर दक्षिण में भगतराव तक तथा पूर्व में मेरठ से १९ मील पश्चिम की ओर स्थित

---

१. पाण्डेय, जी० सी०, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० १
२. मार्शल, जे०, मोहनजोदड़ो एन्ड दि इंडस सिविलिजेशन, ग्रंथ १, पृ० ११०–११
३. द्रष्टव्य ह्वीलर, इंडस सिविलिजेशन, पृ० ५१–५२
४. काल्डवेल, ग्रामर आव दि द्रविडियन लैंग्वेज, भूमिका, पृ० ४३–४४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

आलमगीरपुर से लेकर पश्चिम में अरब सागर के समीप स्थित सुत्कजेन्डोर तक था।[१] इसके दो प्रधान नगर हड़प्पा और मोएनजोदड़ो एक दूसरे से चार सौ मील की दूरी पर स्थित थे। इस प्रकार सैन्धव संस्कृति का प्रभाव क्षेत्र तत्कालीन सुमेरियन तथा मिस्री सभ्यताओं के प्रभाव क्षेत्र से कहीं अधिक था। सुमेर तथा सिन्धु प्रदेश के व्यापारिक सम्बन्ध इस बात का संकेत करते हैं कि यह संस्कृति अक्काद के सारगौन काल में पूर्ण विकसित अवस्था में थी।[२] ह्वीलर महोदय ने सारगौन की तिथि २३५० ई० पू० मानी है।[३] ऐसी स्थिति में तृतीय सहस्राब्दि के उत्तरार्द्ध को सैन्धव संस्कृति का चरमोत्कर्षकाल माना जा सकता है।

सांस्कृतिक उपलब्धियाँ

यह ताम्र-प्रस्तर-युगीन संस्कृति प्रकृत्या नागरिक एवं साक्षर थी। इसका भौतिक पक्ष बड़ा ही समृद्ध एवं समुन्नत था। सैन्धव नागरिकों ने भव्य भवन, सार्वजनिक गृह, वृहद् स्नानागार आदि का निर्माण किया तथा सुख-सुविधा के विविध साधन एकत्र किये। नगर-मापन, मूर्तिकला तथा व्यापार-कौशल आदि में समुन्नत होते हुए भी यह सभ्यता शस्त्रास्त्र के विज्ञान से दुर्बल थी तथा अश्व के उपयोग से अपरिचित। इसी कारण से सैन्धव समाज आक्रामक आर्यों का सफल प्रतिरोध भी नहीं कर सका। इस विरोधाभास पर विस्मय प्रकट किया गया है कि सैन्धव सभ्यता अपने उत्तराधिकारियों को अध्यात्म-विद्या के क्षेत्र में अक्षय राशि प्रदान कर सकी जब कि उसका भौतिक कलेवर आर्यों के आक्रमण को सहने में सर्वथा असमर्थ रहा।[४] परवर्ती भारतीय धार्मिक जीवन पर सैन्धव परम्पराओं का गहरा प्रभाव सर्वथा अप्रत्याख्येय है किन्तु यह कहना कि सिन्धु-सभ्यता से केवल आध्यात्मिक तत्व ही उत्तरकालीन सभ्यता में स्वीकृत हुए, अत्युक्ति होगी। इस सभ्यता के भौतिक पक्ष के भी अनेक तत्व अनुवर्ती युगों में दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रसंग में गेहूँ, जौ और कपास की खेती, गृहविन्यास एवं दुर्ग-विन्यास तथा नाप-तौल की प्रणाली

---

१. संकालिया, इण्डियन आर्क्योलोजी टुडे, पृ० ५०, इण्डियन आर्क्योलोजी ५७–५८, पृ० १५

२. ह्वीलर, अर्ली इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृ० १०९

३. ह्वीलर, इण्डस सिविलिजेशन, पृ० ४

४. वही पृ० ९५

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

आदि विशेषतः उल्लेखनीय है।[१] यह निर्णय करना कठिन है कि कितने उत्तरकालीन शिल्प प्राचीन आर्येतर समाज की देन है किन्तु अधिकांश शिल्पियों की उत्तर काल में हीन सामाजिक अवस्था विजेता आर्यों की अपेक्षा विजित अनार्यों से उनका अधिक सम्बन्ध द्योतित करती है।

सैन्धव सभ्यता के धार्मिक और सामाजिक पक्ष भी भौतिक जीवन से कम विकसित नहीं थे। इसमें परवर्ती हिन्दू धर्म के अनेक धार्मिक विश्वास अपने आदिम रूप में दिखाई देते हैं। हिन्दू धर्म में सैन्धव सभ्यता के बहुत से ऐसे तत्व हैं जिन्हें ऋग्वैदिक आर्य घृणित और निन्दनीय समझते थे।[२]

धर्म

पशुपति, नटराज और योगी के रूप में शिव की उपासना का प्रारम्भ इसी आर्येतर समाज में हुआ था।[३] शिव का अनार्यत्व भाषावैज्ञानिक साक्ष्यों से भी अनुमोदित है। 'शिव' और 'शम्भु' शब्द तमिल भाषा के शिवन् और 'शेम्बू' शब्दों से निकले प्रतीत होते हैं जिसका अर्थ 'लाल' है। उत्तर-वैदिक साहित्य में शिव का नील-लोहित विरुद भी इस बात का संकेतक है कि शिव लोहित वर्ण के थे। रक्त या लोहित वर्ण क्रोध और भयंकरता को सूचित करता है। सिन्धुप्रदेश से प्राप्त पशुपति शिव की मुद्रा में भी इस प्रकार का भाव स्पष्टतः परिलक्षित है।

शैव मत की भाँति ही शाक्त मत का प्रचलन भी सैन्धव संस्कृति में निर्विवाद है। मोएनजोदड़ो से प्राप्त बहुसंख्यक नारी मूर्तियां तथा मुद्राओं

१. ह्वीलर, इण्डस सिविलिजेशन, पृ० ६२–६३, पिगट, प्रिहिस्टोरिक इण्डिया, पृ० १५३, सैन्धव दुर्ग-विन्यास की परम्परा पर द्रष्टव्य, जी० आर० शर्मा, एक्सकेवेसन्स ऐट कौशाम्बी, पृ० ६, तु० ह्वीलर, अर्ली इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृ० १२६

२, उदाहरण के लिए शिव को लीजिए। उत्तर वैदिक साहित्य में इस देवता को 'एक व्रात्य' कहा गया है। ऋग्वेद (७.९९.४, १०.९९.४) में जिस शृंगमुकुटधारी तथा त्रिमुखधारी दास का संकेत है वह निश्चय ही सिन्धु-घाटी का आदि शिव है जो बाद के हिन्दू धर्म में 'त्रिशूलधर' और त्र्यम्बक हो गया। इसी प्रकार ऋग्वेदिक आर्यों ने अपने शत्रु दासों को 'शिश्नदेवाः' भी कहा है और इस प्रकार लिङ्ग पूजा को निन्द्य माना है। (ऋ ७.२१.५, १०.९९.३)

३. मार्शल, मोहनजोदड़ो एण्ड इण्डस सिविलिजेशन, ग्रन्थ ३, पृ० ५२–५५

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

पर उत्कीर्ण चित्र नारी की प्रजनन-शक्ति जन्य महत्ता का संकेत करते हैं।[१] वैदिक आर्यों का मातृशक्ति की उपासना की ओर विशेष झुकाव नहीं था।[२] धर्मशास्त्रों में तो ग्राम देवता एवं देवियों के पूजक ब्राह्मणों को स्पष्टतः पतित कहा गया है।[३] फिर भी भारतवर्ष के प्रत्येक ग्राम में आज भी देवियों की पूजा प्रचलित है जिसका मूल अवैदिक और अनार्य प्रतीत होता है।[४] मार्शल महोदय सैन्धव धार्मिक जीवन में मातृशक्ति की उपासना को ही प्रधान मानते हैं। तत्कालीन भूमध्यसागरीय द्वीपों तथा पश्चिमी एशिया की संस्कृतियों में मातृ शक्ति के उपासना की लोकप्रियता को देखते हुए मार्शल का यह मत सर्वथा सम्भव प्रतीत होता है।

उमा और शिव के अतिरिक्त विष्णु, लक्ष्मी तथा कृष्ण आदि की अवधारणा भी अंशतः द्रविड़ प्रतीत होती है। सैन्धव लिपि के अभी तक अपठ्य रहने के कारण इनका अनार्यत्व पुरातात्विक सामग्री से प्रमाणित नहीं होता किन्तु भाषा-वैज्ञानिक साक्ष्यों से इस विषय पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है। विष्णु का उल्लेख सूर्य-देवता के रूप में पूर्व-वैदिक साहित्य में अवश्य हुआ है किन्तु उनके क्षीरसागरशायी अथवा लक्ष्मीपति होने का कोई उल्लेख नहीं है। सिलुस्की तथा आयंगर ने भाषा-वैज्ञानिक आधार पर यह प्रतिपादित किया है कि विष्णु आर्यों के सौर देवता होते हुए भी अंशतः द्रविड़ों के आकाश देवता हैं।[५] इनका वर्ण भी आकाश की भाँति नीला है। विष्णु की पत्नी श्री का उल्लेख भी सौभाग्य की देवी के रूप में ऋग्वेद में हुआ है किन्तु उनका गजलक्ष्मी रूप पूर्वार्य एवं द्रविड़ प्रतीत होता है। स्लेटर महोदय के अनुसार भारतीय कला की परम्परा में कृष्ण को जो श्याम वर्ण प्रदान किया गया है वह भूमध्यसागरीय जाति का जैतून जैसा बभ्रु वर्ण है जो आर्यों के गौर और निषादों के धूसर वर्ण से सर्वथा भिन्न है।[६] सम्-

---

१. एक मुद्रा पर नारी की योनि से पौधे के जन्म का दृश्य चित्रित है जो स्पष्टतः नारी की प्रजनन शक्ति का संकेत करता है।

२. ऋग्वेद के विशाल देवसमूह में मात्र अदिति ही एक उल्लेखनीय देवी है।

३. मनु ३. १५१, ३. १८०

४. पिगट, प्रिहिस्टोरिक इण्डिया, पृ० २०२

५. इण्डियन एण्टिक्वेरी, जनवरी १९३३, द्रविडिक स्टडीज, संस्करण ३, पृष्ठ ६१-६२

६. द्रविडियन एलेमेन्ट इन इण्डियन कल्चर, पृष्ठ ५५

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

सैन्धव के निवासी ऋग्वैदिक आर्यों ने भी अपने शत्रुदास-दस्यु लोगों को कृष्ण विशेषण से युक्त किया है। परवर्ती पुराकथाओं में कृष्ण द्वारा लोकप्रिय वैदिक देवता इन्द्र का विरोध उनके अनार्यत्व का एक प्रबल प्रमाण है।

सिन्धु-प्रदेश की बहुसंख्यक मुद्राओं पर अनेक पशुओं के चित्र मिलते हैं, जिनमें कुछ की धार्मिक महत्ता अप्रत्याख्येय प्रतीत होती है। हड़प्पा से प्राप्त मुद्राओं पर वृषभ-चित्र बहुत मिला है। अनेक मुद्राओं पर वृषभ किसी विचित्र उपकरण से समक्ष खड़ा प्रदर्शित किया गया है जो कोई उपयोगी पदार्थ न होकर धार्मिक प्रयोजन की वस्तु प्रतीत होता है। साधारणतया सैन्धव मुद्राओं पर चित्रित वृषभ को पौराणिक नन्दी का पूर्व रूप माना गया है किन्तु इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि हड़प्पा से प्राप्त 'आदि-शिव' को घेरे हुए जिन पशुओं का चित्रण हुआ है उनमें वृषभ अनुपस्थित है। ऐसी स्थिति में उसे सैन्धव शिव का वाहन मानना कुछ सन्देहास्पद हो सकता है। लेकिन इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि एशियामानर की हित्ती जाति में (जिसमें भूमध्यसागरीय जाति का प्राधान्य था) एक त्रिशूलधारी, पशुपति, वृषभवाह 'देवराज' और उसकी सिंहवाहिनी पत्नी की उपासना प्रचलित थी। ये दोनों शिव और दुर्गा के पूर्व रूप से प्रतीत होते हैं। अतः हो सकता है कि सैन्धव प्रदेश की भूमध्यसागरीय जाति में भी (जो मूलतः उसी सांस्कृतिक वातावरण से आई थी जिसमें हित्ती जाति तथा अन्य भूमध्यसागरीय-जातियाँ रहीं थीं) शिव के वृषभवाह रूप की कल्पना रही हो। इसका अप्रत्यक्ष संकेत अनेक सैन्धव मुद्राओं पर वृषभ के अंकन से अवश्य ही मिलता है।

पार्जीटर महोदय ने हनुमान की पूजा का सम्बन्ध भी द्रविड़ संस्कृति से स्थापित किया है।[१] उनके अनुसार इस शब्द का मूल 'अणमन्ति' शब्द तमिल भाषा का है जिसका अर्थ नरबन्दर है। बाद में अणमन्ति शब्द का संस्कृत रूप हनुमान बनाया गया तथा आर्येतर प्रभाव के कारण उसकी पूजा लोकप्रिय हो गई। वैदिक-साहित्य में भी 'वृषाकपि' का उल्लेख हुआ है किन्तु एक लोकप्रिय देवता के रूप में नहीं। सिन्धु प्रदेश के उत्खनन से कुछ कल्पनाजन्य मिश्रित आकृति वाले पशुओं के चित्र भी मिले हैं जिनके धार्मिक महत्त्व के सम्बन्ध में निश्चायक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। वास्तविक पशुओं में वृषभ और बन्दर के अतिरिक्त भैंसा, बाघ, हाथी, सूअर और कुत्ते की भी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं किन्तु इन सबको पूजा और श्रद्धा का विषय नहीं

---

१. द्रष्टव्य वैदिक एज, पृष्ठ १६४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

माना जा सकता। निश्चय ही इनमें से अनेक खिलौने के रूप में बालकों के मनोरंजन के साधन रहे होंगे।

सैन्धव धर्म में पादप-पूजा को भी स्थान प्राप्त था। पीपल का वृक्ष जिसका हिन्दू तथा बौद्ध धर्मों में महत्वपूर्ण स्थान है, सैन्धव सभ्यता में ही धार्मिक महत्ता को प्राप्त कर चुका था। यहाँ के निवासी सम्भवतः पीपल वृक्ष में दैवी शक्ति का निवास भी मानते थे। मोएनजोदड़ो की एक उल्लेखनीय मुद्रा में देवता की खड़ी हुई एक नग्न मूर्ति है, जिसके दोनों ओर अश्वत्थ की दो शाखायें हैं। वृक्ष देवता की पूजा की सूचक, एक पंक्ति में खड़ी हुई, पीठ पर लहराते हुए बालों से शोभित सात स्त्रियाँ हैं जो देवी की पुजारिन जान पड़ती हैं। पीपल वृक्ष की पूजा शायद सन्तान प्राप्ति के लिए की जाती थी। अथर्ववेद में इस वृक्ष को पुत्रदाता कहा गया है।[१] हम जानते हैं कि अथर्ववेद में ऐसे अनेक आर्येतर धार्मिक विश्वास संग्रहीत है जिनका मूल ऋग्वेद में नहीं मिलता। भारत के विभिन्न प्रदेशों में आज भी पुत्र-प्राप्ति के लिए पीपल वृक्ष के आलिंगन की प्रथा है तथा अनेक जातियों में पीपल वृक्ष की पूजा को पुत्र प्राप्ति में सहायक माना जाता है।[२] सैन्धव संस्कृति में पीपल वृक्ष की महत्ता तथा उसके विषय में उपर्युक्त मान्यता को देखते हुए दोनों का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। पीपल वृक्ष की उपासना के पीछे कारणभूत इस प्रबल धारणा का विकास सैन्धव सभ्यता के अन्तर्गत हुआ हो, यह आश्चर्यजनक नहीं हैं।

परवर्ती हिन्दू धर्म में न केवल द्रविड़ देवताओं को स्थान मिला बल्कि उनकी उपासना पद्धति को भी स्वीकार किया गया। वैदिक आर्यों का धर्म-यज्ञ-प्रधान था। यज्ञ मे देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पशुओं का मांस सोम तथा अन्य खाद्य सामग्री अर्पित की जाती थी। इसके विपरीत पूजा में उपास्य देव को पत्र पुष्प और जल इत्यादि समर्पित किये जाते थे। इसी लिए इसे पुष्पकर्म कहा गया है। पूजा शब्द की उत्पत्ति द्रविड़ भाषा के 'पू' (पुष्प) और 'जे' (करना) से हुई प्रतीत होती है जिसका अर्थ है 'पुष्पार्पण'। संस्कृत ग्रन्थों में सर्वप्रथम भगवद्गीता में पूजा की महत्ता को स्वीकार

---

१. अथर्ववेद ६.११

२. क्रुक, पापुलर रिलिजन एण्ड फॉकलोर आव नार्दर्न इण्डिया, २.९९, १०२,११२

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

किया गया है। मोएनजोदड़ो से प्राप्त बहुसंख्यक मूर्तियों से भी द्रविड़ समाज में मूर्तिपूजा का प्रचलन प्रमाणित होता है।

पूजा की भांति ही सम्भवतः भक्ति का विकास भी मूलतः द्रविड़ संस्कृति से सम्बद्ध प्रतीत होता है।[१] इसके अतिरिक्त जलप्रलय जैसे आख्यान तथा अनेक यौगिक साधनायें, कर्मकाण्ड और दर्शन विषयक विचार भी द्रविड़ लोगों की देन हैं। सिन्धु प्रदेश में लिंगपूजा, नागपूजा और जलपूजा के भी चिन्ह मिलते हैं किन्तु इनका सम्बन्ध द्रविड़ संस्कृति की अपेक्षा निषाद संस्कृति से अधिक प्रतीत होता है।[२]

सामाजिक व्यवस्था

सिन्धु प्रदेश के उत्खनन से प्राप्त सामग्री से यहाँ की सामाजिक संस्थाओं, विचारों एवं रीति रस्मों पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। इस क्षेत्र में प्राचीनतम तमिल साहित्य तथा नृतत्वशास्त्र की सहायता अपेक्षित है। द्रविड़ संस्कृति का प्राचीनतम लिखित रूप तमिल साहित्य में ही मिलता है। ऐसी स्थिति में सिन्धु-प्रदेश की द्रविड़ संस्कृति के सामाजिक पक्ष की रूपरेखा तमिल साहित्य की सहायता से प्रस्तुत करना अनुचिन नहीं होगा। इस विषय में यह कठिनाई अवश्य है कि प्राचीनतम ज्ञात तमिल संस्कृति तथा सैन्धव संस्कृति के बीच सहस्त्र वर्षों से भी अधिक का अन्तर है। अतः यह निर्धारित करना बड़ा कठिन है कि तमिल साहित्य में द्रविड़ सभ्यता का पुरा-ऐतिहासिक स्वरूप कितना आदिम और अविकल है। इस दिशा में पुरातात्विक तथा अन्य सम्भव साक्ष्यों का समर्थन निश्चय ही उपयोगी होगा। मोएनजोदड़ो की नगर व्यवस्था इस बात का संकेत करती है कि सैन्धव समाज आर्थिक आधार पर वर्गों में विभाजित था।[३] विशाल नगरों, प्राचीरों, सड़कों एवं सार्वजनिक भवनों को दृष्टि में रखते हुए ह्वीलर महोदय ने श्रम और निर्माण के लिए दास वर्ग के अस्तित्व की भी कल्पना की है।[४] सैन्धव समाज में धर्म के विकसित स्वरूप को देखते हुए यह अनायास कल्पनीय है कि इसमें

---

१. पद्मपुराण, उत्तरकाण्ड, ५०।५१ उत्पन्ना द्रविड़े चाहम कर्णाटेवृद्धि-मागता।

२. कृपया इसी अध्याय के अग्रिम पृष्ठों में देखें।

३. गार्डन चाइल्ड, न्यू लाइट आन दी मोस्ट ऐन्श्येन्ट ईस्ट, पृ० १७५।

४. जेड० डी० एम० जी०, २.२७२, उद्धृत, शूद्राज इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० १८ पर।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

पुरोहित वर्ग की स्थिति आदरणीय रही होगी। बहुत से विद्वानों ने तो यह विचार भी व्यक्त किया है कि हड़प्पा एवं मोएनजोदड़ो का शासन पुजारियों द्वारा होता था।[१] किन्तु इस मत की पुष्टि के लिए निश्चायक प्रमाणों का अभाव है। सैन्धव सभ्यता के भौतिक पक्ष की विकसित अवस्था, उसके सुमेरियन प्रदेश के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध एवं सैन्धव जनों की समुद्र यात्रा में रुचि आदि तथ्यों से उनके समाज में समृद्ध व्यापारिक वर्ग का अस्तित्व भी निर्विवाद है। सम्भवतः उसी का ऋग्वेद में पणि नाम से उल्लेख हुआ है।[२] आर्य लोग इन पणियों के वैभव को सतृष्ण दृष्टि से देखते थे तथा उनके धन के अपहरण की कामना करते थे। पणि शब्द से ही बाद में पण, पण्य, 'वणिक' और 'वाणिज्य' शब्दों की व्युत्पत्ति हुई प्रतीत होती है।[३]

सैन्धव समाज सम्भवतः मातृसत्तात्मक था। सिंधु प्रदेश से प्राप्त नारी मूर्तियाँ, मातृदेवी की उपासना की प्रधानता तथा प्राचीन क्रीट एवं अन्य भूमध्यसागरीय प्रदेशों की मातृसत्तात्मक व्यवस्था इस अवधारणा की पुष्टि करते हैं। सिन्धु के तट पर बसी प्राचीन केहोल जाति की मातृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था को सुदूर अतीत में प्रचलित सैन्धव जनों की सामाजिक व्यवस्था का अवशेष माना जा सकता है।[४] केहोल जाति की इस पुरातन व्यवस्था को आर्यों अथवा उनके अनुवर्ती किसी अन्य जाति से सम्बन्धित करना बड़ा ही कठिन है। तमिल भाषा के कुछ शब्द भी द्रविड़ समाज की मातृसत्तात्मक व्यवस्था का समर्थन करते हैं। प्राचीन तमिल भाषा का 'इलाल' शब्द जिसका अर्थ गृहस्वामिनी होता है, स्त्रीलिंग है। इसी अर्थ को देने वाले समान पुल्लिग शब्द का अभाव द्रविड़ों के पारिवारिक जीवन में नारी के स्वामित्व की ओर संकेत करता है। मलाबार तट के निवासियों तथा केरल की कुछ जातियों में मातृसत्तात्मक व्यवस्था अब भी पाई जाती है।

मातृसत्तात्मक व्यवस्था

परिस्थैतिक साक्ष्यों के आधार पर सैन्धव सभ्यता के सामाजिक संगठन

---

१. पिगट, प्रिहिस्टोरिक इंडिया, पृ० १५०, मैके, अर्ली इंडस सिविलिजेशन, पृ० १२-३

२. लुडविग, ट्रान्सलेशन आव दि ऋग्वेद ३, २१३-५

३. द्रष्टव्य वैदिक एज, पृ० २३६

४. त्रिफाल्ट, दि मदर्स, लघु संस्करण, पृ० ६८

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

की अन्य विशेषताओं के सम्बन्ध में कुछ अनुमान किया जा सकता है। महाभारत के कर्णपर्व में मद्रदेश वाह्लीक और अरट्टदेश की स्त्रियों को स्वैरिणी तथा कामचारिणी कहा गया है। वहाँ व्रज में, नगरागार में तथा सार्वजनिक स्थानों में स्त्रियाँ विवस्त्र होकर नृत्य करती थीं। महाभारत से यह भी ज्ञात होता है कि मद्रदेश में जन्म का ठिकाना न होने के कारण उत्तराधिकार पुत्र को न प्राप्त होकर भांजे को प्राप्त होता था।[1] महाभारत में वर्णित यह सामाजिक अवस्था वैदिक आर्यों की नहीं हो सकती क्योंकि वैदिक साहित्य के अध्ययन से विदित होता है कि वैदिक समाज में विवाह संस्कार तथा दाम्पत्य जीवन की पवित्रता का भाव पूर्णतः विकसित हो चुका था। ऋग्वेद की एक ऋचा से ज्ञात होता है कि पति-पत्नी परस्पर अभिन्नता एवं हार्दिक एकता की कामना करते थे।[2] ऐसी स्थिति में हमारे समक्ष एकमात्र विकल्प यही रह जाता है कि हम महाभारत में वर्णित इस अवस्था को अनार्य परम्परा का अवशेष माने जिसका प्रचलन आर्यों के आगमन के पश्चात् भी पंजाब और सिन्ध में यत्र-तत्र परम्परागत रूप से रहा। इस प्रसंग में मोएनजोदड़ो से प्राप्त कांस्य की एक नारी मूर्ति उल्लेखनीय है। विचारार्ह है कि पुरातत्ववेत्ताओं ने इसे नृत्यांगना की मूर्ति माना है। इस मूर्ति के आकर्षक केशविन्यास तथा हाथ और कण्ठ के आभूषणों के अतिरिक्त सम्पूर्ण शरीर को विवस्त्र दिखाया गया है।[3] इस तथ्य के प्रकाश में महाभारत में उल्लिखित मद्र-वाह्लीक तथा अरट्टदेश की इस प्रथा को सैन्धव संस्कृति से सम्बद्ध करना अनुचित नहीं होगा।

ऐतिहासिक युग में द्रविड़ समाज में निकटाभिगमन का प्रचलन था। धर्मशास्त्रों तथा स्मृतियों में अधिकांशतः मातुल-कन्या से विवाह का निषेध हुआ है तथापि बौधायन ने इसे दक्षिण भारतीयों का देश-धर्म माना है।[4] वृहस्पति ने भी जहाँ राजा से देश, जाति एवं कुल के धर्मों की रक्षा का आग्रह किया है वहाँ दक्षिणात्यों में मातुल-सुता से विवाह की बात को

---

१. महाभारत, कर्णपर्व, ४५।१३

२. ऋ० १०.८५.४७, समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ।

३. मार्शल, जे०, वही, भाग १, पृ० ४४, ह्वीलर, इण्डस सिविलिजेशन, फलक १७ बी

४. बौधायन धर्म सूत्र १.१.१९-२६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

स्वीकृत किया है।[१] निकटाभिगमन की इस परम्परा का मूल सैन्धव संस्कृति में ढूंढ़ा जा सकता है। यजुर्वेद में एक स्थल पर शिव और अम्बिका को भाई-बहन बताया गया है।[२] इसके विपरीत प्रायः सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में रुद्र और अम्बिका को पति-पत्नी कहा गया है। यह विरोधाभास निश्चय ही विस्मयजनक है। हम जानते हैं कि उत्तर-वैदिक काल में आर्य एवं आर्येतर सांस्कृतिक धाराओं के समन्वय के परिणामस्वरूप ऋग्वैदिक रुद्र एवं सैन्धव शिव का व्यक्तित्व परस्पर निमज्जित हो गया। इसी युग में अम्बिका का प्रथम उल्लेख होना इस बात को सूचित करता है कि रुद्र-शिव और अम्बिका के पारस्परिक सम्बन्ध की यह कल्पना भी सैन्धव-संस्कृति से ग्रहण की गई। ऐसी स्थिति में यह मानना पड़ेगा कि सैन्धव-धर्म के अन्तर्गत शिव अम्बिका का पति-पत्नी स्वरूप तथा भ्राता-भगिनी स्वरूप साथ-साथ और समान रूप से ग्राह्य था। लेकिन यह बात आर्यों की नैतिक भावना के प्रतिकूल थी। अतः उन्होंने बाद में अम्बिका-रुद्र के पति-पत्नी स्वरूप को ही ग्रहण किया। प्राचीन मिस्र में, जिसकी सभ्यता के निर्माण में भूमध्यसागरीय जाति का सहयोग निर्विवादरूपेण माना जाता है, आसिस और ओसिरिस का पारस्परिक सम्बन्ध इसी प्रकार का था। मिस्री लोगों के इस धार्मिक विश्वास का सामाजिक पक्ष भी था क्योंकि प्राचीन मिस्री समाज में भाई-बहन के विवाह की प्रथा पूर्णतः प्रचलित थी। अतः सैन्धव समाज में भी इस प्रकार की प्रथा का प्रचलन कल्पनीय हो जाता है।

आर्यों के आगमन के समय उत्तरी भारत में भूमध्यसागरीय (द्रविड़) लोगों के अतिरिक्त दो अन्य बहुसंख्यक प्रजातियां निवास करती थीं। ये थीं प्रागआस्ट्रेलिद (निषाद) एवं मंगोलिद (किरात)

निषाद संस्कृति

यद्यपि सैन्धव संस्कृति के निर्माण में भी इनका सहयोग निर्विवाद है तथापि निषाद संस्कृति का प्रमुख केन्द्र गंगा का मैदान रहा प्रतीत होता है तथा किरात जाति का हिमालय की तलहटी में। इनमें निषाद संस्कृति ने दक्षिण-पूर्व की ओर प्रसारोन्मुख आर्य संस्कृति को विशेष रूप से प्रभावित किया।

गंगा की घाटी से प्राप्त ताम्र उपकरणों से जिस पुरा-ऐतिहासिक ताम्र संस्कृति का ज्ञान होता है, उसके निर्माताओं के सम्बन्ध में पुरातत्ववेत्ताओं

---

१. बृहस्पति, स्मृतिचन्द्रिका १, पृ १० पर उद्धृत
२. यजुर्वेद (वाज० सं०) ३.५७

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

में गहरा मतभेद रहा है। प्रारम्भ में हीन गेल्डर्न महोदय का यह मत था कि ये ताम्र-उपकरण मध्य देश की ओर आने वाले वैदिक आर्यों की संस्कृति के अवशेष हैं।[१] प्रारम्भ में पिगट महोदय ने उनके इस विचार का समर्थन किया[२] किन्तु संशोधित मत के अनुसार उन्होंने पुनः यह प्रतिपदित किया कि इन ताम्र उपकरणों का निर्माण आर्यों के भीषण आक्रमण से त्रस्त होकर दक्षिण-पूर्व की ओर गतिशील हड़प्पा के प्रवासी शरणार्थियों ने किया था। किन्तु इन दोनों विकल्पों को मानने में पर्याप्त कठिनाइयां हैं। निर्माण और उपयोग की दृष्टि से ये उपकरण न तो सैन्धव सभ्यता से प्राप्त उपकरणों से समानता रखते हैं और न हस्तिनापुर से प्राप्त आर्यों द्वारा निर्मित उपकरणों से। सिन्धु-प्रदेश के विस्तृत वैज्ञानिक उत्खनन में कांटेदार बर्छे (हार्पून) तथा मानव-आकृतियां (एन्थ्रोपोमोर्फिक फिगर) जो ताम्र-संस्कृति के विशिष्ट उपकरण हैं, सर्वथा अनुपलब्ध है।

सैन् १९४९ में श्री० बी० बी० लाल ने ताम्र-उपकरणों से सम्बन्धित राजपुर परसू तथा बिसौली नामक दो स्थानों में साधारण उत्खनन कराया। इसके परिणामस्वरूप कोई नवीन उपकरण तो प्रकाश में नहीं आया किन्तु नीचे के स्तरों से कुछ भद्दे मटमैले ठीकरे (ओकर कलर्ड वेयर) उपलब्ध हुए जिन्हें श्री० बी० बी० लाल ने परिस्थैतिक साक्ष्य के आधार पर गंगा घाटी के ताम्रोपकरणों के साथ सम्बद्ध किया है।[३] इसी प्रकार के ठीकरे हस्तिनापुर के निम्नतम स्तर से मिले हैं जिसके ऊपरी स्तर में आर्यों द्वारा निर्मित चित्रित भूरे बर्तनों के ठीकरे मिलते हैं। अतः यह निष्कर्ष अपरिहार्य लगता है कि गंगा के मैदान में ताम्रोपकरणों के निर्माताओं की संस्कृति के विकास का इतिहास आर्येतर एवं प्रागार्य है।

इस संस्कृति के निर्माता ही सम्भवतः मिर्जापुर की पहाड़ियों से प्राप्त प्रागैतिहासिक भित्तिचित्रों के निर्माता थे। लेकिन नृतत्वशास्त्रीय अध्ययन के आधार पर इन भित्तिचित्रों को प्राग्-आस्ट्रेलिद जाति की कृति माना गया है। ऐसी स्थिति में प्राग्-आस्ट्रेलिद जाति को ही ताम्र-संस्कृति तथा

---

१. आर्क्योलाजिकल ट्रेसेज आव वैदिक आर्यन्स, जर्नल आव इण्डोलोजिकल सोसाइटी, नं० ४, १९३६

२. प्रिहिस्टोरिक कापर होर्ड इन गैन्जेटिक वैली, एन्टिक्विटी १८, १९४४

३. ऐन्श्येन्ट इण्डिया (१९५१) नं० ७, पृ० २०-३९

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

भद्दे मटमैले मृद्-भाण्डों का निर्माता मानना होगा।[१] इस प्रदेश में बसने वाली निम्नस्तरीय-जातियों में आस्ट्रेलिद शारीरिक लक्षणों की बहुलता तथा इस प्रदेश में व्यवहृत होनेवाली भाषा में आष्ट्रिक शब्दों का विशेष समावेश इस मत को सजीव और सशक्त बना देते हैं। आष्ट्रिक भाषा परिवार की मुण्डा भाषा एक समय गंगा घाटी तथा मध्य भारत के विस्तृत भूभाग में बोली जाती थी।[२] मिर्जापुर के अनेक गाँवों के नाम आज भी मुण्डा भाषा के हैं।[३] वराहमिहिर की बृहत्संहिता में निषाद जाति की स्थिति मध्यदेश के दक्षिण पूर्व में बताई गई है।[४] सम्भावना इस बात की प्रतीत होती है कि मध्य देश में आर्यों के प्रवेश के कारण इन लोगों को दक्षिण और दक्षिण-पूर्व की ओर खिसकना पड़ा था। विन्ध्य पर्वतमाला तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों में निषाद संस्कृति का आदिम और अविकल स्वरूप दीर्घकाल तक अरण्यवासी जातियों में जीवित रहा। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि उत्तरवैदिक काल में गंगा की घाटी में बसे बहुसंख्यक निषाद क्रमशः वैदिक समाज में अंगीकृत हो चले थे। उनकी महत्वपूर्ण स्थिति का अनुमान राजसूय के प्रसंग में उनके प्रति प्रदर्शित राजकीय अनुग्रह से किया जा सकता है। इतना अवश्य है कि अभी ये समाज की चातुर्वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत स्थान नहीं पा सके थे। निरुक्त एवं बृहद्देवता में इन्हें पंचम वर्ण कहा गया है।[५] उत्तर वैदिक साहित्य में निषादों का अनेकशः उल्लेख हुआ है। शबर नाम भी इन्हीं का था ऐसा अनुमान किया जाता है। महाभारत में निषादों को कद का छोटा, जली लकड़ी की भाँति काला और लोहिताक्ष कहा गया है। भागवतपुराण में उ की गाल की उभड़ी हुई हड्डियों, दबी हुई नाक तथा ताम्रवर्ण केशों का उल्लेख है।[६]

निषाद लोग अधिकांशतः नदियों के किनारे रहते थे तथा मछलियों एवं अन्य जंगली पशुओं का शिकार करते थे। भाषा-वैज्ञानिकों ने मुण्डा तथा अन्य आस्ट्रिक भाषाओं का संस्कृत भाषा से तुलनात्मक अध्ययन करके कुछ

---

१. वही
२. लिंग्विस्टिक सर्वे आव इण्डिया, ४, पृष्ठ ६
३. जे० ए० एस० बी, भाग ३, पृ० ६२–३ (१६०३)
४. बृहत्संहिता, १४. १०
५. द्रष्टव्य वैदिक इण्डेक्स १, ४५३
६. भागवत पुराण, ४. १४. ४४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

ऐसे शब्दों को ढूंढ़ निकाला है जिन्हें उत्तरकालीन आर्य भाषा में ग्रहण किया गया। निश्चय ही इनमें से अनेक शब्दों को आर्यों ने सम्भवतः उन वस्तुओं से अपरिचयजन्य शब्दाभाव के कारण अपनाया। इन शब्दों का आर्य भाषा में प्रवेश भारतीय संस्कृति में निषाद तत्वों के अंगीकरण का सूचक है। चावल, कदली, नारिकेल, ताम्बूल, बैंगन, लौकी, जामुन, कपास और सिम्बल आदि का उत्पादन, मोर, मातंग तथा कृकवाक आदि पशु-पक्षियों से परिचय, हस्तिपालन की विधि आदि भारतीय-संस्कृति में निषाद तत्व माने जा सकते हैं। निषादों ने सम्भवतः कुदाल या छड़ी से भूमि खोदकर झूम प्रणाली से खेती करने की विधि का अविष्कार कर लिया था।

निषादों ने भारतवर्ष की धार्मिक परम्पराओं को भी समृद्ध करने में अपना विशिष्ट योग दिया। शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्रचलित लिंगपूजा जिसका प्रचलन सैन्धव संस्कृति में भी पाया गया है, मूलतः आस्ट्रेलिद प्रतीत होती है। जीन सिलुस्की के अनुसार लिंग लगुड आदि शब्द आष्ट्रिक भाषा के ही हैं। भाषाविदों के मतानुसार ऐसे अनेक धार्मिक विश्वासों एवं परम्पराओं का मूल आस्ट्रेलिदहोना चाहिए जोभारोपीय और द्रविड़ संस्कृतियों के अंग न होते हुए भी हिन्दू समाज में प्राचीन काल से ही विद्यमान हैं। यद्यपि उन सब की निषाद उत्पत्ति सिद्ध करना प्रमाणों के अभाव में प्रायः असम्भव है किन्तु आत्मा के पुनर्जन्म में विश्वास, धार्मिक कृत्यों में ताम्बूल, हल्दी और सिन्दूर का प्रयोग, निछावर तथा निषेध (टैबू) में विश्वास, चन्द्रमा की कला के आधार पर तिथियों की गणना तथा कोड़ी में गणना करने की प्रथा आदि का मूल प्रायः आस्ट्रेलिद माना गया है।[१] नृतत्वशास्त्रियों का विश्वास है कि आस्ट्रेलिद जाति के लोग घोर टोटमवादी थे।[२] इसलिए बहुत से पशुओं जैसे नाग, मकर, कच्छप और हाथी की पूजा भी बीजरूपेण इन्हीं की संस्कृति की देन मानी जा सकती है। हो सकता है कि मत्स्य और कच्छप अवतार की कथायें मत्स्यगन्धा आख्यान, तथा पंचतन्त्र और हितोपदेश में सुरक्षित पशुओं की कथाएँ मूल रूप में आस्ट्रेलिद जाति की देन रही हों।

निषाद जन नदी-जल की पवित्रता और उसकी पाप मोचन की शक्ति में भी विश्वास करते थे। मृत्यु के पश्चात् दिवंगत आत्मा की शान्ति के लिए

---

१. द्रष्टव्य, वैदिक एज, पृ० १५०–५५

२. बिहार में ओरांव जाति में ७३ और संथाल जाति में ६१ भेद है जो टोटम पर आधारित है।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

जल में अस्थि-विसर्जन की प्रथा भी इन लोगों में प्रचलित थी। संथाल जाति के लोग जब तक दामोदर नदी में मृतकों की अस्थियों को विसर्जित नहीं कर लेते हैं, तब तक मृतात्मा को शान्ति नहीं मिलती, ऐसा उनका विश्वास है। गंगा शब्द का ज्ञान भी सम्भवतः आर्यों को निषाद जाति से ही प्राप्त हुआ। निषाद लोग गंगा शब्द के मूल आष्ट्रिक रूप का प्रयोग सम्भवतः नदी के अर्थ में करते थे।[१] आज भी बंगला भाष में गांग का अर्थ नदी है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के निवृत्तिमूलक धार्मिक विचारों का बीज भी निषाद संस्कृति में ही था। निवृत्तिमूलक धार्मिक परम्पराओं को प्रायः मुनियों और श्रमणों की अवैदिक धारा से सम्बद्ध किया गया है[२] किन्तु इनकी निषाद उत्पत्ति की सम्भावना ने विद्वानों का ध्यान यथेष्ट रूप से आकर्षित नहीं किया। इसका प्रमुख कारण निषाद संस्कृति को अत्यन्त हीन और अविकसित समझने का पूर्वाग्रह रहा है। निवृत्तिमार्गीय मुनियों का स्पष्ट उल्लेख ऋक्संहिता के केशि-सूक्त में हुआ है। इस प्रसंग में केशधारी, मैले 'गेरुए' कपड़े पहने हवा में उड़ते, जहर पीते, मौनेय से 'उन्मदित' और 'देवेषित' मुनियों का विलक्षण चित्र अभिलिखित है।[३] मुनियों का उल्लेख ऋक्संहिता में अन्यत्र भी है, पर विरल है, और ऐसा लगता है कि चमत्कार दिखलाते हुए मुनियों के दर्शन ने सूक्त-कार को विस्मय में डाल दिया था। वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि मुनियों की यह परम्परा ऋग्वैदिक आर्यों के लिए जितनी विचित्र है उतनी ही कदाचित भी। पूर्व-वैदिक-कालीन ब्राह्मण धर्म की प्रवृत्तिवादी और देववादी दृष्टि मुनि-श्रमण दृष्टि के प्रतिकूल थी। जहाँ मुनियों के लिये प्रवृत्तिमूलक कर्म बन्धनात्मक और हेय था तथा ब्रह्मचर्य, तपस्या योग आदि निवृत्तिपरक क्रियायें ही उपादेय थीं, ब्राह्मण धर्म में ऐहिक और आमुष्मिक सुख मुख्य पुरुषार्थ था और यज्ञात्मक कर्म-प्रधान साधन। शङ्कराचार्य ने कहा है कि वैदिक धर्म द्विविध है, प्रवृत्तिलक्षण और निवृत्तिलक्षण।[४] पर यह स्मरणीय है कि पूर्ववैदिक-कालीन ब्राह्मण धर्म केवल प्रवृत्तिलक्षण था। निवृत्ति लक्षण धर्म के अनुयायी इस समय केवल मुनि-श्रमण थे। किन्तु आर्य लोग जैसे-जैसे पूर्व की ओर बढ़ते गये

---

१. वैदिक एज, पृ० १५४
२. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ४-६
३. ऋ० १०.१३६
४. गीताभाष्य का उपोद्घात।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

वैसे-वैसे वैदिक समाज पर मुनि-श्रमण विचारधारा का प्रभाव भी बढ़ता गया। उपनिषद युग तक मुनियों के उदात्तस्वरूप का दर्शन होने लगता है[१] श्रमण शब्द का सकृत् प्रयोग है[२], यद्यपि मुण्डकोपनिषद स्पष्ट रूप से यज्ञ-विधि के निन्दक मुण्डित-शिर भिक्षुओं की कृति प्रतीत होता है। ये मुनि-श्रमण तप को महत्व देते थे। ऐतरेय ब्राह्मण (३३.११) में तापस धर्म के विरोध की क्षीण प्रतिध्वनि सुनाई देती है किन्तु उपनिषद काल तक धार्मिक जीवन में तप की प्रतिष्ठा निर्विवाद रूप से स्थापित हो चुकी थी। छान्दोग्य उपनिषद में 'तप' को तीन धर्मस्कन्धों में से एक माना गया है।[३] उपनिषत्कालीन संस्कृति का केन्द्र मध्य देश तथा उसके दक्षिण-पूर्व में कोशल तथा विदेह तक का भूप्रदेश था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैदिक आर्यों का तापस धर्म से घनिष्ठ परिचय पंजाब में न होकर गंगा की घाटी में हुआ। ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डलों में मुनियों का विरल उल्लेख इस बात का संकेत करता है कि तप की परम्परा उनकी अपनी अथवा सैन्धव जनों की नहीं हो सकती। जैसा कि यह देख चुके हैं, आर्यों के आगमन के समय गंगा-घाटी में निषाद-संस्कृति का विकास हो रहा था। ऐसी स्थिति में तापस-धर्म के विकास के पीछे निषाद प्रभाव ही एक स्वस्थ विकल्प प्रतीत होता है। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि मगध और विदेह के समीपवर्ती प्रदेशों में छठीं सदी ई० पू० के पर्याप्त पहले, सम्भवतः उत्तरवैदिक युग में ही निवृत्तिपरक जैनधर्म के मूल सिद्धान्त अस्तित्व में आ चुके थे। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की तिथि महावीर जैन से २५० वर्ष पूर्व बताई जाती है। जिससे जैन धर्म का प्रारम्भिक इतिहास ८वीं सदी ई० पू० तक निश्चित रूप से पहुँचता है। स्मरणीय है कि परम्पराओं के अनुसार पार्श्वनाथ काले थे तथा सर्प उनका जातीय लांछन था।[४] ये दोनों विशेषतायें निषाद जाति की हैं। सुविदित है कि बृहत्संहिता में मध्यदेश के दक्षिण पूर्व के प्रदेश को ही निषाद संस्कृति का केन्द्र कहा गया है।[५] वैदिक युग के अन्त में इन्हीं प्रदेशों में यज्ञ प्रधान ब्राह्मण धर्म का विरोध तथा नैराश्यमूलक

१. बृहदारण्यक उपनिषद ३.४.१, ४.४.२५, तैत्तिरीय आरण्यक २.२०
२. वही ४.३.२२
३. छान्दोग्य उप० २.२३.१
३. छान्दोग्य उप० २.२३.१
४. मिथ्स एण्ड लीजेन्ड्स एबाउट इण्डिया, पृ० १९९।
५. बृहत्संहिता १४–१०।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

बौद्ध धर्म का उदय एवं जैन धर्म का बिकास हुआ। वैदिक धर्म के विपरीत इन नवोदित धर्मों की लोकप्रियता इस प्रदेश में दीर्घकाल तक सम्भवतः इसलिये बनी रही कि इनके सिद्धान्त स्थानीयजनों की प्राचीन एवं उदात्त धार्मिक परम्परा के सर्वथा अनुकूल थे।

यद्यपि तप शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में अनेकशः हुआ है किन्तु प्रायः सभी प्रसंगों में इसका अर्थ तेज, सन्ताप अथवा दाह है तपस्या नहीं। यहां पर यह भी स्मरणीय है कि निवृत्तिपरक अथवा क्लेश-लक्षण तप ऋक्संहिता के सुविदित जीवन दर्शन के विरुद्ध था तथा योगजन्य सिद्धियां उनकी अपरिचित थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरवैदिक काल में यह (तप) आष्ट्रिक 'तपु' अथवा 'तबु' शब्द का पर्यायवाची हो गया जिसका अर्थ 'त्याग' अथवा 'निषेध' था। इसी के परिणामस्वरूप 'तप' शब्द को तपस्या के अर्थ में प्रयुक्त किया जाने लगा। विचारार्ह है कि आष्ट्रिक 'तपु' अथवा 'तबु' शब्द से ही पालीनेशियन 'टैबू' शब्द की व्युत्पत्ति हुई।

श्री सुनीतिकुमार चटर्जी कुछ अन्य दार्शनिक विचारों को भी मूल रूप में आष्ट्रिक संस्कृति की देन मानते हैं।[१] पोलीनेशियन आस्ट्रेलिदों में 'मन' (Mana) की अवधारणा रही है जिसे वे सर्वव्यापी ईश्वरीय शक्ति मानते हैं। वैदिक युग के अन्त तक आरण्यकों एवं उपनिषदों में अदृश्य किन्तु सर्वव्यापी ईश्वरीय सत्ता का 'ब्रह्मन्' के रूप में विस्तरशः उल्लेख हुआ है। सम्भव है कि ब्रह्मन् की कल्पना के पीछे आष्ट्रिक 'मन' की धारणा आधार रूप में रही हो क्योंकि भारत के आदिम आस्ट्रेलिदों में 'मन' सम्बन्धी विश्वास अवश्य प्रचलित रहा होगा। सुविदित है कि 'ब्रह्मन्' के प्रति वैदिक आर्यों की आस्था तथा आकर्षण में वृद्धि मध्यदेश तथा उसके दक्षिण-पूर्व (काशी, कोशल, विदेह) में हुई। इसी प्रदेश को निषाद जाति की निवास-भूमि भी माना गया है।

निषादों के सामाजिक जीवन की कल्पना मध्यभारत की कतिपय-आष्ट्रिक भाषा-भाषी असभ्य एवं अर्ध-सभ्य जातियों की आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था के आधार पर की जा सकती है। इस विषय में कठिनाई इस बात की है कि उन लोगों ने पड़ोसीसभ्य जातियों के प्रभाव के कारण अनेक आदिम परम्पराओं का त्याग कर दिया है। फिर भी इनके कुछ विचित्र

---

१. कल्चरल हेरिटेज आव इण्डिया, ग्रंथ १, पृ० ७८

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

रीति-रिवाज आज भी प्रायः अपरिवर्तित तथा मौलिक रूप में द्रष्टव्य है। एस० सी० राय के अनुसार ओरांव तथा बिहार की अन्य जनजातियों में पितामह और पौत्री के विचित्र विवाह का प्रचलन रहा है। आस्ट्रेलिद जाति की यह परम्परा मेलेनेशिया में भी पाई जाती है।[१] संथाल, हो, ओरांव भील आदि सभी जातियों में असुर-विवाह का भी प्रचलन है। असम्भव नहीं है कि आस्ट्रेलिद समाज में पुरा-ऐतिहासिक काल से ही क्रय विवाह की परम्परा रही हो। इससे आस्ट्रेलिद समाज में नारी की उपयोगिता तथा बहुमूल्यता सूचित होती है।[२] धर्मग्रन्थों के विरोध के होते हुए भी निषादों द्वारा स्वीकृत क्रय-विवाह भारतीय समाज में सदैव प्रचलित रहा है।[३] संथाल, मुण्डा और ओरांव आदि जातियों में बाल विवाह का भी प्रचलन है। यद्यपि निश्चायक ढंग से कुछ कहना कठिन है तथापि धर्मसूत्रों के काल तक हिन्दू समाज में बाल-विवाह के विस्तृत प्रचार की पीछे निषाद प्रभाव अनायास-कल्पनीय हैं।

किरात-संस्कृति

भारतवर्ष की प्रागार्य प्रजातियों के सांस्कृतिक इतिहास में किरातों का विशेष योग नहीं रहा है, फिर भी इस प्रसंग में उनका अध्ययन सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। मंगोल जातियां प्रागैतिहासिक युग से ही भारत वर्ष में आती रही हैं और हिमालय के गिरिपादीय प्रदेशों—असम, नैपाल, लद्दाख आदि में बसती रही हैं। मोएनजोदड़ो के विशाल जनसंकुल में मंगोलतत्व विद्यमान था। वहाँ से उपलब्ध मूर्तियों से पँखे के आकार की जिस शिरोभूषा का ज्ञान होता है उसकी तुलना असम–प्रदेश में प्रचलित किरात जाति की शिरोभूषा से की जा सकती है। वैदिक साहित्य से भी उनके पर्वतीय प्रदेश का निवासी

---

१. एस० सी० राय, दि ओरांव, पृ० ३५२-५४

२. लुई, प्रिमिटिव सोसाइटी, पृ० १८ २०

३. महाभारत के अनुसार जब भीष्म ने कन्या-शुल्क चाहनेवाले शल्य की भर्त्सना की तब शल्य ने तर्क उपस्थित किया था कि उचित अथवा अनुचित,इस प्राचीन कुलधर्म का त्याग करने में वे असमर्थ है।

महाभारत १.१२३६ (कुम्भको० संस्करण)

पूर्वैः प्रवर्तितं किंचित्कुले स्मिन्नृपसत्तमैः। साधु वा यदि वासाधु तन्नातिक्रान्तुमुत्सहे।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

होने का ज्ञान होता है। वाजसनेयी संहिता में उन्हें गुहानिवासी तथा अथर्ववेद में पर्वतीय प्रदेश का निवासी कहा गया है।[१] महाभारत में इन्हें हिमवन्त प्रदेश का निवासी बताया गया है।[२] अर्जुन से किरातों का संघर्ष उत्तरी अभियान में ही हुआ था। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार ऋग्वेद में वर्णित आर्यों का प्रमुख प्रतिद्वंदी शम्बर इन्हीं पहाड़ी लोगों का नेता था।[३] इस शम्बर के सौ पर्वतीय दुर्गों के उल्लेख से इस अवधारणा की अंशतः पुष्टि भी होती है[४]। ऋग्वेद की अन्य ऋचाओं से भी इसका सम्बन्ध पहाड़ी प्रदेश से सूचित होता है[५]।

सांस्कृतिक दृष्टि से अविकसित होने के कारण किरात लोग निषादों तथा आर्यों के समक्ष सांस्कृतिक संघर्ष में टिक नहीं सके। उन्होंने अधिकांशतः हिन्दू संस्कृति को अपना लिया। जो इस प्रभाव से मुक्त रहे उनकी सांस्कृतिक परम्परायें आज भी अव्याहत रूप से असम के पहाड़ी प्रदेशों में पाई जाती हैं। वर्तमान किरात जनजातियों की सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि इनका समाज मातृवंशीय, मातृसत्तात्मक तथा मातृस्थानीय था। खासी और गारो जातियों में यह व्यवस्था आज भी पूर्ण विकसित रूप में मिलती है। खासी लोग अपनी वंशावली का प्रारम्भ स्त्रियों अथवा राजकुमारियों से मानते हैं। इनमें सृष्टि-निर्माण का देवता भी नारी-गुणोपेत है। इन लोगों में सम्पत्ति पिता की नहीं बल्कि माता की समझी जाती हैं। माता की मृत्यु के उपरान्त इस सम्पत्ति के उत्तराधिकारी भी लड़के नहीं वरन् लड़कियां ही होती हैं। मनुष्य के व्यक्तिगत आय की स्वामिनी विवाह के पूर्व माता और विवाह के पश्चात् पत्नी हुआ करती है। विवाहोपरान्त पति प्रायः पत्नी के घर पर ही निवास करता है। खासी जाति में पौरोहित्य का कार्य भी प्रायः स्त्रियाँ ही सम्पादित करती हैं। हिन्दू धर्म तथा सामाजिक व्यवस्था के प्रभाव के कारण इनके समाज में भी स्त्रियों के प्रभुत्व का ह्रास होता जा रहा है। गारो लोगों की सामाजिक व्यवस्था भी इसी प्रकार मातृसत्तात्मक

---

१. वाज० सं० ३०.१६, अथर्व० १०.४.१४।
२. महाभारत ७.४.७, हिमवद्दुर्गनिलयाः किरातः।
३. ऋग्वैदिक आर्य, पृ०८१–२
४. ऋ० २. १४. ६।
५. ऋ० १. १३०. ७, ४.३०. १४, ६.२६.५, २.२४.२ पर्वतेषु क्षिपन।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

है। इनकी सन्तानें माता के कुल एवं वंश से सम्बद्ध समझी जाती है। गारो लोग अपना मूल पूर्वज एक स्त्री को मानते हैं। इन लोगों में एक विचित्र प्रथा यह है कि सास के विधवा हो जाने पर नोकोम (दामाद) को उससे विवाह करना पड़ता है। सास सम्पत्ति की स्वामिनी होती है। ऐसी स्थिति में उसकी सम्पत्ति को अपनी पत्नी के लिए सुरक्षित करने के लिए दामाद उससे विवाह कर लेता है।

किरातों की एक अन्य उल्लेखनीय सामाजिक परम्परा बहुभर्तृता का प्रचलन है। आजकल लद्दाख, उसके समीपवर्ती प्रदेशों तथा जानसरबावर की पहाड़ियों में इस प्रथा का प्रचार है। वेस्टरमार्क ने इस प्रथा का कारण स्त्रियों की संख्या की कमी माना है किन्तु सुमनेर, लुई, कनिंघम और वेल्यू आदि विद्वानों ने इसका मूल कारण गरीबी बताया है।[१] पहाड़ी जीवन की कठोरता एवं संघर्ष ने इन लोगों को जनसंख्या-नियोजन के लिये विवश किया होगा।

आर्यों का आगमन और सैन्धव सभ्यताका विलोप

वैदिक साहित्य के विकास का इतिहास, बोकजकुई अभिलेख तथा आर्य-भाषा पर हुए आर्येतर प्रभाव को दृष्टि में रखते हुए भारत में आर्यों के आगमन की तिथि द्वितीय सहस्राब्दि ई० पू० के प्रारम्भ में मानी जा सकती है।[२] स्थूलतः यही वह समय था जब बैबीलोनिया में कसाइट, एशिया-माइनर में हित्ती और यूनान में एकियन प्रविष्ट हुए थे। भारत में प्रवेश के पश्चात् ऋग्वेदिक आर्यों ने सप्तसैन्धव प्रदेश को अपना प्रारम्भिक आवास बनाया। सुविदित है कि यही प्रदेश पूर्ववर्तिनी अनार्य सैन्धव संस्कृति के विकास का भी केन्द्र था। ऐसी स्थिति में यह सम्भावना उत्पन्न होती है कि सैन्धव संस्कृति के विनाश का कारण आर्यों का आक्रमण ही था।[३] लगातार आनेवाली बाढ़ों से सैन्धव संस्कृति स्वतः ह्रासोन्मुख हो चली थी जिसके परिणामस्वरूप विजातीय आक्रमणकारियों का सफल प्रतिरोध नहीं हो सका। मोएनजोदड़ों में परवर्ती युगों का वर्धमान

---

१. लुई, प्रिमिटिव सोसाइटी, पृ० ४३, सुमनेर, फॉक वेज, पृ० ३०२, डा० रामनारायन, सोशल इकोनोमी आव दी पोलियन्ड्रस पिपुल, पृ० ३२।
२. विन्टरनिट्ज, हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर, भाग १, पृ० ३१०
३. ह्वीलर, इण्डस सिविलिजेशन, पृ० ९४–९५।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

ह्रास तथा अन्तिम विनाश, दोनों के चिन्ह मिले हैं। आर्यों द्वारा संस्कृति के विनाश के सूचक प्रबल साहित्यक तथा पुरातात्विक संकेत उपलब्ध हैं।

ऋक्संहिता में ऐसे अनेक उद्धरण है जिनसे स्पष्ट होता है कि ऋग्वैदिक आर्य सैन्धव संस्कृति से सुपरिचित तथा उसके विध्वंसक थे। इस ग्रन्थ में दास-दस्यु लोगों की जिन विशेषताओं का उल्लेख हुआ है उनसे स्पष्टतः वे लोग सैन्धव संस्कृति के निर्माता ही प्रतीत होते हैं। उन्हें अपरिचित भाषा में बोलने वाला (मृद्धवाक्), वैदिक कर्मो से रहित (अकर्मन), वैदिक देवों को न मानने वाला (अदेवयु), यज्ञों से शून्य (अयज्वन्) एवं व्रतों से रहित (अव्रत) कहा गया है। इन नकारात्मक विशेषणों से दास-दस्यु लोगों का अनार्यत्व मात्र सूचित होता है किन्तु अन्यत्र उन्हें 'शिश्नदेव' भी कहा गया है।[१] लिंगपूजा की यह परम्परा सैन्धव समाज में प्रचलित थी। इसके अतिरिक्त दास-दस्यु लोगों के विपुलकाय पुरों तथा दुर्गों का भी उल्लेख हुआ है जिन्हें स्थान-स्थान पर आयसी, अश्ममयी, उर्वी, गोमती, शतभुजी और शारदी आदि विशेषणों से युक्त किया गया है। इससे स्पष्ट है कि दास-दस्यु लोग किसी समृद्ध नागरिक संस्कृति से सम्बन्धित थे। लिंगपूजक दास दस्यु लोगों की यह नागरिक संस्कृति सैन्धव संस्कृति ही हो सकती है क्योंकि सम्पूर्ण उत्तरी भारत में आर्यों की पूर्ववर्तिनी किसी अन्य नागरिक सभ्यता का अस्तित्व अज्ञात है।[२]

दास-दस्यु लोगों से ऋग्वैदिक आर्यों का सम्बन्ध शत्रुतापूर्ण एवं संघर्ष-मय था। आर्य-दास संघर्ष की प्रतिध्वनि ऋक्संहिता में सर्वत्र उपलब्ध होती है। मंत्र ५. ३४. ५ में आर्यो द्वारा दासों के पराजय और वशीकरण का संकेत है। दासों के पुरों को नष्ट करने के लिए इंद्र तथा अग्नि से अनेकशः

---

१. ऋ० ७. २१. ५; १०. ९९. ३

२. इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में दास-दस्यु की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए छः आंखों से युक्त (ष डाक्षः) तीन सिर वाला (त्रिशीर्षाणः) और शृंगमुकुटधारी कहा गया है (ऋ० १०. ९९. ६; ७. ९९. ४)। इस वर्णन पर ध्यान देने पर अनायास सिन्धु-घाटी के उस अनार्य देवताओं की याद आती है जिसे शिव का आदि रूप माना गया है।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

निवेदन भी किया गया है[१] तथा इन्द्र को पुरन्दर (पुरों का भेदन करने-वाला) का विरुद प्रदान किया गया हैं।[२] ऋग्वेद १. १४७. ७-८ में पृथ्वी को दास लोगों की श्मशान-भूमि कहा गया है। एक स्थान पर इंद्र को कृष्णयोनि दासों का विनाश करने वाला तथा अन्यत्र उन्हें नीचे की गुफा में फेंकने वाला कहा गया है।[३] मंत्र ४. १६. १३ में पचास सहस्र कृष्णवर्ण दासों को युद्धभूमि में मारने तथा उनके पुरी को नष्ट करने का उल्लेख है। इन उद्धरणों से यह सिद्ध होता हैं कि ऋग्वैदिक आर्यों ने दास-दस्यु संस्कृति के विनाश का पूर्ण प्रयास किया, जिसमें उन्हें यथेष्ठ सफलता भी प्राप्त हुई। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि मोएनजोदड़ो की सड़कों से प्राप्त अस्थिपंजर तथा रानाघुण्डाई तृतीय में अग्निकांड के दृश्य से भी किसी आक्रमण तथा तज्जनित विध्वंस का संकेत मिलता है। इस प्रकार साहित्यिक एवं पुरातात्विक प्रमाणों की सम्मिलित सूचना की पृष्ठिभूमि में सैन्धव संस्कृति के विनाश का कारण वैदिक आर्यों के आक्रमण को मानना अपरिहार्य हो जाता है।

सैन्धव सभ्यता का प्रभाव क्षेत्र बहुत विस्तृत था, इसलिए इसका ह्रास तथा इसके भौतिक पक्ष का विलोप सर्वत्र समान रूप से नहीं हुआ। सिन्ध एवं पंजाब में यह संस्कृति प्रायः विनष्ट हो गई क्योंकि हड़प्पा में सैन्धव संस्कृति के ऊपर 'कब्रिस्तान एच' नामक सैन्धवोत्तर संस्कृति के अवशेष मिलते हैं। यह संस्कृति भी आर्येतर थी किन्तु सैन्धव संस्कृति की तुलना में अत्यन्त हीन और अविकसित थी। इसी प्रकार चन्हूदड़ों में 'झूकर' और 'झंगर' संस्कृतियों के अवशेष मिले हैं। लोथल और रंगपुर के साक्ष्य से स्पष्ट होता है कि सौराष्ट्र में यह संस्कृति दीर्घकाल तक जीवित रही। इस प्रदेश में सैन्धव संस्कृति का क्रमशः ह्रास के साथ रुपान्तर हुआ किन्तु आकस्मिक विनाश नहीं। पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश को सैन्धवों के पश्चात् कुछ अन्तराल के उपरान्त 'चित्रित भूरे मृत्पात्र' संस्कृति के निर्माताओं ने अधिकृत कर लिया। श्री बी० बी० लाल ने इस संस्कृति का निर्माता भारत में आने वाले प्रारम्भिक आर्यो को माना है।[४] किन्तु यह असन्दिग्ध नहीं है। 'चित्रित भूरे मृत्पात्र' संस्कृति की परम्परा रुपड़ से

१. ऋ १०. २२. ८, ७. ५. ३
२. ऋ १. १०३. ३
३. ऋ २. १२. ४
४. एन्श्येन्ट इण्डिया, १०. ११. पृ० ५-१५१

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

कौशाम्बी तक मिली है। यह संस्कृति प्रधानतः गंगा की घाटी तक सीमित होने के कारण उत्तर-वैदिक आर्यों की प्रतीत होती है। यदि यह प्रारंभिक आर्यों से सम्बद्ध होती तो इसके अवशेष सप्तसिन्धु प्रदेश में अधिक मिलते क्योंकि भारत में प्रवेश के पश्चात् आर्य सर्वप्रथम वहीं बसे थे।

आर्यों एवं अनार्यों के बीच का यह संघर्ष दीर्घकालीन नहीं रहा। प्रारम्भिक कलह की स्थिति के समाप्त होते ही इनका पारस्परिक दुराव मिटने लगा। ऋग्वेद में दाशराज्ञ-युद्ध का जो उल्लेख है उसमें सुदास के विरुद्ध युद्ध में भाग लेने वाली जातियों में अनार्य भी सम्मिलित थे।[१] प्रारम्भ में विजित अनार्यों को आर्यों ने दास (स्लेव) बनाये। ऋग्वेद में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनमें दासों को गायों और भेड़ों के साथ दान में देने का उल्लेख है।[२] ये दास पराजित अनार्य (दास-दस्यु) ही थे। यहां यह उल्लेखनीय है कि सैन्धव संस्कृति का विविध प्रभाव आर्यसभ्यता के प्रथम आविर्भाव के समय कम था और पीछे क्रमशः अधिक। प्रारम्भ में विजेता आर्य और विजित पलायमान अथवा दासकृत आर्येतर जातियां परस्पर संघर्ष में निरत थीं। इस प्रकार का युद्धजन्य सम्पर्क सांस्कृतिक आदान प्रदान अथवा समन्वय के लिए उपयोगी नहीं होता। उत्तरवैदिक युग तक जब आर्येतर लोग वर्ण-व्यवस्था के माध्यम से वैदिक समाज में अंगीकृत हुए तब सांस्कृतिक समन्वय के लिए भी स्वस्थ वातावरण उपलब्ध हुआ।

ऋग्वैदिक संस्कृति की विकास-भूमि 'सप्तसिन्धु[३]' की भौगोलिक परिधि पश्चिम में कुभा से लेकर पूर्व में यमुना तक विस्तृत थी। ऋक्संहिता के

---

१. ऋ० ७. ३३. २; ५, ८३. ८

२. ऋ० ८. ५६. ३

३. ऋग्वेद मे 'सप्तसिन्धु' शब्द का प्रयोग एक भूभाग विशेष तथा 'नदियों का समूह' दोनों अर्थों में हुआ है। इसकी सात नदियों में मेक्समूलर पंजाब की नदियों, सिन्धु तथा सरस्वती की गणना करते हैं। लुडविग तथा विन्टरनित्ज सरस्वती के स्थान पर कुभा को मानते हैं। पंडित क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय 'सप्तसिन्धु' शब्द का प्रयोग 'सब नदियां' के अर्थ में हुआ मानते है जो पूर्व-वैदिक आर्यो से परिचित थीं। प्रारम्भ में सप्तसिन्धु शब्द निश्चय ही सात नदियों का सूचक रहा होगा किन्तु ज्यों ज्यों नई नदियों से पूर्व-वैदिक आर्यो का परिचय होता गया उन सबकी गणना 'सप्तसिन्धु' के अन्तर्गत होती गई।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

पूर्व-वैदिक संस्कृति

एक उत्तरकालीन मंत्र में गंगा का भी उल्लेख हुआ है।[१] किन्तु इस विरल उल्लेख से यह सूचित है कि इस नदी से पूर्व-वैदिक आर्यों का विशेष परिचय नहीं था। इस युग में गंगा न तो सप्तसिन्धु की नदी थी और न इसे परवर्ती युगों की प्रतिष्ठा ही प्राप्त हो पाई थी उत्तर-वैदिक युग के सांस्कृतिक केन्द्र मध्यदेश तक अभी आर्य-संस्कृति का विस्तार नहीं हो सका था[२]।

आर्थिक जीवन

यद्यपि पूर्व-वैदिक आर्यकृषि और पशुपालन में समान रूप से रुचि रखते थे तथापि उनका प्रधान व्यवसाय पशुपालन ही था। ऋग्वेद का ऋषि जितना गायों और घोड़ों के लिये लालायित है उतना किसी अन्य आर्थिक महत्व की वस्तु के लिये नहीं। गाय का आर्थिक महत्व उसके 'अघ्न्या' विशेषण से भी स्पष्ट है।[३] अगर मांसाहार के लिये गायों का बध किया भी जाता था तो प्रायः वन्ध्या गायों की ही हत्या होती थी। इसीलिये ऋग्वेद के मंत्रों में अग्नि को 'वसान्न' कहा गया है। पशुधन के प्रति आर्यों का मोह दो विशिष्ट वैदिक कथाओं से भी प्रकट है। शुनः शेप के पिता ने गायों के लोभ में पुत्र का विक्रय किया था तथा ऋज्राश्व के पिता ने भेड़ों की क्षति के कारण कुपित होकर अपने पुत्र को अन्धा बना दिया था। धीरे-धीरे कृषि का महत्व भी बढ़ रहा था।[४] ऋग्वेद (१०,३४) में जुआरी को द्यूत के

---

१. ऋ० १०. ७५ : ५

२. कुछ विद्वानों ने ऋग्वैदिक आर्यों का प्रसार पूर्व में बिहार तक माना है। उनके अनुसार वैदिक संस्कृति को विदेह में प्रतिष्ठित करनेवाले विदेघमाथव के पुरोहित गौतम राहूगण ऋग्वेद के ऋषि हैं किन्तु इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि गौतम राहूगण का उल्लेख ऋग्वेद के दशम मंडल में हुआ है जिसकी प्राचीनता पूर्णतः सन्दिग्ध है। उपर्युक्त मत के लिए द्रष्टव्य—राधाकुमुदमुकर्जी, हिन्दू सभ्यता, पृ० ९५, पादटिप्पणी, उपेन्द्र ठाकुर, हिस्टरी आव मिथिला, पृ० २३।

३. ईरान में भी गोहत्या के विरुद्ध जरथुस्त्र ने नियम बनाये। द्रष्टव्य—कैम्ब्रिज हिस्टरी आव इण्डिया, भाग १, पृ० १०२

४. कृषि का ज्ञान आर्यों को हिन्द-ईरानी युग से ही था। यह बात 'यवम्-कृषि' और 'यवो करेश' की समानता से प्रकट है।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

व्यसन को त्याग कर कृषि-कर्म में प्रवृत्त होने का संदेश दिया गया है। ऋग्वेद में कृषि-कर्म से सम्बन्धित विभिन्न यन्त्रों का उल्लेख हुआ है। हल चलाने का कार्य अधिकांशतः बैलों से लिया जाता था। यत्र-तत्र घोड़ों के उपयोग का भी संकेत मिलता है।[१] पैदावार की वृद्धि के लिये 'शकृत' 'करीष' जैसे उर्वरक पदार्थों का प्रयोग भी होने लगा था। सिंचाई के कृत्रिम साधनों का विकास भी अनेक मंत्रों से सूचित होता है।[२] खेती में उत्पन्न होने वाले अन्न को यव और धान्य कहा गया है।[३]

ग्राम्य जीवन के सरल होने के बावजूद इन लोगों ने अनेक उपयोगी शिल्पों का विकास कर लिया था। बढ़ई (तक्षन्) शिल्पियों का अगुआ था।[४] वह युद्ध और सवारी के लिये रथ तथा माल ढोने के लिये अनस् का निर्माण करता था।[५] धातु का काम करने वाले 'कर्मार' कहलाते थे। इन लोगों ने धातु को गलाना सीख लिया था।[६] सोनार सोने के आभूषण बनाता था। सोना सिन्धु जैसी नदियों से तथा भूमि से प्राप्त किया जाता था।[७] कर्मकार और बुनकर का भी उल्लेख हुआ है। चमड़ा कमाने की कला ज्ञात थी।[८] कपड़ा बुनने का काम अधिकांशतः स्त्रियाँ करती थीं।[९] इस युग में वस्तुओं के विनिमय की भी प्रथा थी। दस गायों को देकर इन्द्र की एक प्रतिमा लेने की बात एक मंत्र में कही गई है।[१०] बाजार के भाव-ताव तथा क्रय-विक्रय के नियमों से सम्बन्धित कुछ संकेत भी मिलते हैं।[११] यत्र-तत्र सामुद्रिक व्यापार का भी उल्लेख हुआ है ऋग्वेद ७.९५.२ में समुद्र शब्द का अर्थ

---

१. ऋ० १०.१०१.७
२. ऋ० १.१६१.१०, ७.४९.२, ३.४५.३, १०.९९.४
३. ऋ० १.११७.२१, ६.१३.४
४. ऋ० ९.११२.१
५. ऋ० ३.३३.९
६. ऋ० १०.७२.२, ५.९.५
७. ऋ० ६.६१.७, १.११७.५
८. वैदिक इण्डेक्स १, २३४, २५७
९. ऋ० १.९२.३
१०. ऋ० ४.२४.१० क : इमं दशमिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः।
११. ऋ० ४.२४.९

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

निश्चित रूप से सागर है क्योंकि इस मंत्र में सरस्वती नदी के पर्वत से समुद्र तक बहने का उल्लेख है। समुद्र से प्राप्त होने वाले धन (रयिं समुद्रात, वसूनि समुद्रात) का भी वर्णन है[१] जिसका अर्थ मोती या समुद्री व्यापार से होने वाला लाभ हो सकता है। ऋक्संहिता १.२५.७ में 'नाव : समुद्रिय :' का उल्लेख भी सामुद्रिक नौ-यात्रा तथा व्यापार से पूर्व-वैदिक आर्यों का सम्बन्ध सूचित करता है। ऋग्वेदिक संस्कृति के ग्राम्य स्वरूप को देखते हुए समुन्नत व्यापार प्रायः अकल्पनीय है फिर भी उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में यह बात स्वीकृत की गई है कि पूर्ववैदिक आर्य सामुद्रिक व्यापार करते थे।[२]

राजनीतिक संगठन

पूर्व-वैदिक समाज जनों और ग्रामों में विभक्त था ग्राम का मुखिया ग्रामणी होता था। वह राजा को शासन कार्य में सहायता देता था। राजा सम्पूर्ण जन का नेता था। सामान्यतः वह निर्वाचित हुआ करता था[३] किन्तु वंशानुगत रूप से शासन करनेवाले राजवंश भी अज्ञात नहीं थे।[४] समिति और सभा जैसी लोकप्रिय संस्थायें शासन कार्य में राजा की सहायता करती थीं। राजा स्वयं समिति में उपस्थित होता था तथा उसके सदस्यों के सहयोग की कामना करता था।[५] पूर्ववैदिक युग में राजतंत्र पर इन परिषदों का विशेष नियंत्रण था। इस युग में राज-पद् उन परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम था जो शत्रुओं के साथ युद्ध-निरत रहने से उत्पन्न हुई थीं। ऐसी स्थिति में सैनिक नेतृत्व राजा का प्रधान कर्तव्य था। इसके अतिरिक्त आंतरिक शान्ति एवं व्यवस्था की सुरक्षा भी उसके कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत परिगणित होने लगी था। राजा के प्रधान सचिव के रूप में पुरोहित न केवल उसके हित तथा समृद्धि के लिये देवताओं को प्रसन्न करने का

---

१. ऋ० १.४७.६, ७.६.७, ९.९७.४४

२. द्र० वेदिक एज, पृ० ३९७

३. ऋ० १०.१२४.८

४. उदाहरण के लिये दिवोदास और सुदास, पुरुकुत्स और त्रस दस्यु इत्यादि। द्र० प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० ६६

५. ऋ० ९.९२.६, १०.१६६.४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

प्रयास करता था वरन् युद्ध-भूमि में में भी राजा के साथ रहता था।[१] राजा को प्रजा से कर भी प्राप्त होने लगा था। ऋक्संहिता के मंत्रों में उसे 'वलिहृत' कहा गया है।[२] किन्तु कुछ मंत्रों से इस बात की भी सूचना मिलती है कि कर ग्रहण नियमित और अनिवार्य नहीं हो सका था।[३] ऋग्वेद मे केवल जनों का ही उल्लेख है, इससे यह प्रकट होता है कि विभिन्न आर्यजन अभी निश्चित भू-प्रदेशों में स्थिर नहीं हो पाये थे। यह स्थिति राज्यसंस्था के समुचित विकास में बाधक थी। स्थायी जनपदों की स्थापना सर्वप्रथम उत्तर वैदिक युग में ही हो पाई।

समाज में विभाजन की प्रक्रिया

उत्तर वैदिक युगीन वर्णव्यवस्था तथा वर्गगत विषमताओं और विशेषताओं का जो चित्र समसामयिक-साहित्य में मिलता है वह ऋक्संहिता में सर्वथा अनुपलब्ध है। ऋग्वेद के ऋषि सामाजिक विभाजन से बिल्कुल अपरिचित नहीं थे। ऋग्वेद एवं अवेस्ता के सम्मिलित साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि आर्यों ने श्रम विभाजन का विकास हिन्द-ईरानी युग में ही कर लिया था। समाज में विभिन्न व्यवसायों का उदय हो चुका था जिनके अनुसरण करनेवाले 'गायों की भाँति एक ही स्थान में विश्राम करते थे।[४] एक ही परिवार में पिता वैद्य, पुत्र कारु और माता पिसनहरी का कार्य कर सकती थी।[५] दूसरे शब्दों में विविध व्यवसाय अभी वंशानुगत नहीं हो पाये थे। विश्वामित्र, जो भरत जन के सहयोगी तथा सुदास के पुरोहित थे,[६] कुशिक कुल में उत्पन्न राजन्य थे।[७] ऋषि भृगु के वंशजों में कुछ रथकार भी थे[८] तथा उन्होंने सशस्त्र सैनिकों की भाँति दाशराज्ञ युद्ध में भाग भी लिया था।[९] ऋग्वेद के

१. ऋ० ७.१८.१३
२. ऋ० ७. ६. ५, १०. १७३. ६
३. ऋ० १०. १६३. ६
४. ऋ० ९. ११२. ३
५. ऋ० ९. ११२. ३
६. ऋ० ३. ५३
७. ऋ० ३. ३३. ५, निरुक्त २. ४४
८. ऋ० ४. १६. २०, १. ३९. १४
९. ऋ० ७. १८.६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

के एक अन्य पुरोहित देवापि निरुक्ति द्वारा राजपुत्र बतलाये गये हैं। महाभारत में इन्हें राजा शान्तनु का भाई कहा गया है। इस प्रकार विभिन्न व्यवसायों को धारण करनेवाले लोग समान थे तथा सामूहिक रूप से विश के अन्तर्गत। समाज में न तो उच्च-निम्न की भावना थी और न रोटी बेटी के सम्बन्धों में कोई वर्गगत दुराव ही था। फिर भी ब्राह्मणों एवं राजन्यों के विशिष्ट व्यवसाय क्रमशः सचेष्ट रूप से आत्मचेतन वर्गों का स्वरूप ग्रहण कर रहे थे। राजशक्ति की वृद्धि तथा याज्ञिक अनुष्ठानों के विस्तार के साथ-साथ उपर्युक्त दोनों वर्गों के प्रभाव में वृद्धि हुई। परिणामतः वे अपने को सर्वसाधारण से पृथक समझने लगे। कालक्रम से शिक्षा-संस्थाओं के अभाव तथा प्रबल स्वार्थ-बुद्धि ने ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों को अपने-अपने सम्मान्य व्यवसाय को वंशानुगत बनाने की प्रेरणा तथा सुअवसर-प्रदान किये। कतिपय प्रसंगों में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग वंशानुगत पुरोहित के अर्थ में किया गया है।[१] इसी प्रकार कुछ मंत्रों में क्षत्रिय का अर्थ भी शासक वर्ग से सम्बन्धित व्यक्ति है।[२] यहाँ उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में वंशानुगतरूपेण शासन करनेवाले राजवंशों के विरल उदाहरण भी उपलब्ध है। धार्मिक नेतृत्व के कारण ब्राह्मणों की वर्धमान प्रतिष्ठा अनेकशः सूचित है। एक स्थल पर उनका उल्लेख पितरों के साथ हुआ है।[३] अन्यत्र यह कहा गया है कि ब्राह्मण का आदर करने वाले राजा के लिये पृथ्वी समृद्धशालिनी होती है तथा मनुष्य स्वेच्छया उसके समक्ष नत होते हैं।[४] ब्राह्मणों और क्षत्रियों के अतिरिक्त शेष लोग अभी 'विश' की सीमा के अन्तर्गत थे। इसी शब्द से उत्तर वैदिक युग में वैश्य शब्द की व्युत्पत्ति हुई। सम्पूर्ण ऋग्वेद में पुरुष-सूक्त' के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी वैश्य और शूद्र शब्दों का उल्लेख नहीं है। चार वर्णों का स्पष्ट उल्लेख करने वाला यह सूक्त ऋग्वेद में प्रक्षिप्तांश माना गया हैं।[५] ऐसी स्थिति में यह निश्चायक ढंग से कहा जा सकता है कि पूर्व-वैदिक आर्य चातुर्वर्ण-व्यवस्था से अपरिचित थे।

---

१ म्यौर, वैदिक इण्डेक्स २, २४८ पर उद्धृत

२ ऋ० ४. ४२. १, ८. १०४. १३, १०. १०९. ३

३ ऋ० ६. ७५. १०, ब्राह्मणासः पितरः शिवे नो द्यावा पृथ्वी अनहसा।

४ ऋ० ४. ५०. ८

५ मेक्समूलर, हिस्टरी आव ऐन्श्येन्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० ५७०

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

आर्यों का समाज पितृस्थानीय एवं पितृवंशीय था। परिवार में प्रायः पितृ-परम्परा से सम्बन्धित लोग ही परिगणित होते थे।[१] श्राद्ध तथा अन्य अवसरों पर पि[illegible]रों के आह्वान की परम्परा से ज्ञात होता है कि [illegible]रवार प्रायः संयुक्त होते थे और उनमें तीन या [illegible]चार पीढ़ी के लोग साथ-साथ रहते थे।[२] सद्यः विवाहिता बधू के लिए यह [illegible]कामना की जाती थी कि वह अपने घर में पुत्र-पौत्रों के साथ खेलते हुए पूरी [illegible] आयु का उपभोग करे।[३] पिता के जीवन काल में सभी भाई प्रायः साथ-स[illegible]ाथ रहते थे इसीलिए वधू को देवर पर शासन करने वाली भी कहा गया है। वैदिक युग की परिस्थिति संयुक्त परिवार के लिए अधिक अनुकूल थी। [illegible] सुरक्षा तथा समृद्धि दोनों दृष्टि से संयुक्त परिवार एकाकी परिवारों की अ[illegible]पेक्षा अधिक हितकर एवं लाभदायक थे।

पारिवारिक व्यवस्था

यह धारणा प्रायः प्रचलित है कि पू[illegible] वैदिक समाज पितृसत्तात्मक था। [illegible]पि सन्तान पर पिता के प्रभाव एवं [illegible]धिकार के पर्याप्त संकेत मिलते हैं तथापि पारिवा[illegible]रक जीवन में नारी के समक्ष पुरुष [illegible]रिवारिक जीवन में की प्रधानता अ[illegible]वा पत्नी के उपर पति के प्रभुत्व [illegible]तृ प्रभुत्व की सीमाएँ का कोई प्रमाण [illegible] नड़ीं मिलता। ऋग्वेद में 'दम्पति' शब्द का अनेक[illegible]ः प्रयोग परिवार में पति-पत्नी के [illegible]मूहिक स्वामित्व का सूचक है। इसी प्रकार 'गृहपति'[४] और 'गृहपत्नी'[५] [illegible]ब्दों का उल्लेख भी दोनों की सम[illegible]स्थिति का संकेत करता है। ऋग्वेद (१०. ८५) मे वधू को न केवल प[illegible] के एक महत्वपूर्ण पुरुष सदस्य देवर पर शासन करने का आशीर्वाद दिया [illegible]या है वरन् उसे परिवार के प्रधान

---

१ ऋ० १०. ३४. ४ के आधार पर [illegible]टे ने सुझाव रखा है कि यदाकदा परिवार में सास भी सम्मिलित हो[illegible] थी। किन्तु यह मत निराधार है [illegible] केवल [illegible] कहता है कि मेरी सास मुझ से

२ द्रष्टव्य वैदिक इण्डेक्स २, २४०

३ ऋ० १०. ८५. ३६

४. ऋ० ५.४.१०, प्रजाभिरग्नेः अमृतत्वम्[illegible]यूरोपियन कल्वर, पृ० ४४–४५

५. ऋ० १०. ८५. २६

६. ऋ० १.९१. १३, १.९१.२०, ३.१.१०

७. १०.२७.१२, भद्रा वधू भवत्यत्सुपेशा[illegible]

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

पुरुष सदस्य श्वसुर पर भी शासन करने वाली कहा गया है।[१] ब्रिफाल्ट महोदय इस मंत्र को मातृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था का अवशिष्ट प्रभाव मानते हैं।[२] ऐसी स्थिति में समाज में पुरुष की प्रधानता, पिता की निरंकुश सत्ता,[३] एवं पुरुष की तुलना में स्त्री की स्थिति चल-संपत्ति की तरह होना,[४] ये सभी कल्पनाएँ निराधार प्रतीत होती है। सन्तान के भविष्य-निर्धारण में माता का मत पिता से कम महत्वपूर्ण नहीं समझा जाता था। रथवीति की कन्या का विवाह उसके माता के विरोध के कारण ही रुक गया था।[५] पत्नी के ऊपर पति की प्रभुता को सिद्ध करने के लिए बहुधा ऋग्वेद १०, ३४ को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया जाता है और यह अस्वस्थ निष्कर्ष निकाला जाता है कि पति अपनी पत्नी को द्यूत में दाँव पर लगा सकता था।[६] इस कल्पना की निस्सारता को सिद्ध करने के लिये इतना बताना पर्याप्त होगा कि इस सूक्त में जुआ द्वारा पत्नी को दाँव पर लगाने का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। उसमें केवल यह कहा गया है कि 'अन्य पुरुष उसकी पत्नी का स्पर्श करते हैं।[७] किन्तु इसका कारण केवल पत्नी का दाँव ऋग्वेद पर लगाया जाना ही नहो हो सकता। इसका कारण उसकी आर्थिक हीन भी उप- एवं अरक्षित स्थिति भी मानी जा सकती है। पूर्व-वैदिक युग में स्त्रियों अनेकशः पुरुषों से हीनतर अवस्था में विश्वास करने वाले विद्वानों ने प्रायः उन में[३] अन्यत्र को भी उद्धृत किया है जिनमें कहा गया है कि तत्कालीन राजा एवं ये पृथ्वी समृद्ध पुरुष पुरोहितों को गायों और घोड़ों के साथ सैकड़ों वधुओं से भोते हैं।[४] हुये रथ भी देते थे[८] और यह निष्कर्ष निकाला है कि इन स्थलों में वधुअसीमा के का उल्लेख निश्चित रूप में चल-सम्पत्ति के रूप में हुआ है किन्तु इन स्थलों में वर्णित वधुओं का रूप पूर्व-वैदिकारी के स्वतंत्र और अधिकारपूर्ण जीवन के साथ संगत नहीं लगता। इस समाज में स्त्रियों का इतना बाहुल्य

१. ऋ० १०.८५. ५१।
२. ब्रिफाल्ट, दि मदर्स, (लघु स्रण), पृ० ७६
३. जिमर, वैदिक इण्डेक्स १. पर उद्धृ
४. अल्तेकर, पोजीशन आव वीमेन, ४८ पर उद्धृत
५. वैदिक इण्डेक्स २. ४००
६. अल्तेकर, पोजीशन आव वीमेन, १३, १०. १०९. ३
७ ऋ १०. ३४. ४, अन्ये जायां परमृ सः पितरः शिवे नौ द्यावा पृथ्वी अनहसा।
८ ऋ० १. १२६. २–२
ऐन्श्येन्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० ५७०

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

भी नहीं था कि वे रथों में भरकर, दान में जा सकें।[१] जिमर महोदय का यह विचार कि इन प्रसंगों में 'वधू' शब्द अर्थ दासी (अनार्या) है, युक्ति-संगत प्रतीत होता है।[२] वैदिक आर्य अनार्यों के संघर्ष के समय बहुसंख्यक स्त्रियों का अपहरण किया होगा जिनसे उनके अन्तःपुर की सीमाएँ बढ़ी होंगी। उन्होंने अपने पुरोहितों तथा आत्मीयजनों को इन्हीं अनार्य 'वधुओं' को उपहार में देकर प्रसन्न किया होगा। ऐसी ही वधुओं के गर्भ से औशिज कक्षीवन्त, दीर्घतमस, कवषऐलूष, और व्यास प्रभृति ऋषियों का जन्म हुआ होगा।

साधारणतः पूर्व वैदिक पारिवारिक जीवन बड़ा ही सुखद था। दाम्पत्य जीवन की सबसे बड़ी कामना सन्तानोत्पत्ति।[३] पिता सन्तति के माध्यम से अमृतत्व की कामना करता था।[४] नवपरिणीता वधू को दस पुत्रों की माता बनने का आशीर्वाद दिया जाता था।[५] ऐसी स्थिति में पिता का संतानों के प्रति अपार स्नेह प्रकट करना सर्वथा स्वाभाविक है।[६] यद्यपि ऋक्संहिता में सर्वत्र पुत्र के लिए ही उत्कंठा है तथा कन्या के प्रति उपेक्षा संकेतित है फिर भी कन्याओं को सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन में सुख सुविधाएँ पुत्रों की भाँति ही उपलब्ध थीं। इस युग की कन्या भार के लिए दुर्वह भार नहीं थीं। वह गृहकार्यों का उत्तरदायित्व भी वहन करती थी। दुहिता शब्द की उत्पत्ति से स्पष्ट है कि पशुपालक आर्य परिवारों में गो-दोहन का कार्य कन्यायें ही करती थीं। उनकी शिक्षा की व्यवस्था भी पुत्रों की ही भांति थी किया जाते थे। पति के चुनाव के लिये उन्हें पर्याप्त स्वतंत्रता प्राप्त थी।[७] विवाहों में जिन आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख हुआ है उनमें अधिक प्रचलन के चिन्ह ऋग्वेद में

---

१ डी० डी० कोशाम्बी, ऐन इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी आव इण्डियन हिस्टरी, पृ० ८२

२ द्रष्टव्य वैदिक इण्डेक्स २, २४०

३ ऋ० १०. ८५. ३६ म्।

४. ऋ० ५.४.१०, प्रजाभिरग्नेः अमृतत्वम् त्यादि।

५. ऋ० १०. ८५. २६ सा मित्रं वनुते जने चित्।

६. ऋ० १.९१. १३, १.९१.२०, ३.१.१०

७. १०.२७.१२, भद्रा वधू भवत्यत्सुपेशा

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj, Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

मिलते हैं।[१] समाज में बहुभर्तृता की प्रथा समाप्त हो चुकी थी।[२] तथा बहु-भार्यता के परिणामस्वरूप सपत्नियों के कलह के कारण पारिवारिक जीवन की शांति भंग होने का यत्र-तत्र संकेत हुआ है।[३]

पूर्व-वैदिक आर्यों का धर्म बहुदेववादी था। भौतिक प्रकृति तथा मानव जीवन के विविध व्यापारों के पीछे बहुविधि शक्तियां अधिष्ठातृ रूप में विद्यमान है। इन शक्तियों का ही देवता शब्द से अभिधान हुआ है। देवताओं की सत्ता शुभ ज्यो-तिर्मय एवं अमर मानी गई है। ऋक्संहिता में देवताओं की कल्पना अधिकांशतः मानवीय रूप में की गई है किन्तु सभी देव-ताओं का मानवीकरण समान रूप से पूर्णता नहीं प्राप्त कर सका है। अनेक स्थलों पर उनके शारीरिक अवयव द्वारा प्राकृतिक दृश्यों के रूपात्मक प्रतिनिधि हैं जिनके वे वस्तुतः प्रतीक हैं। उदाहरणार्थ सूर्य के बाहु उसकी रश्मियां हैं और अग्नि की जिह्वा उसकी ज्वाला। आर्य लोग अपने विभिन्न देवताओं को मंत्र एवं यज्ञ के माध्यम से प्रसन्न करने का प्रयास करते थे। जिसका प्रमुख उद्देश्य लौकिक सुख, समृद्धि और कल्याण था। उनकी कल्पना में यह जगत—पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश में विभक्त था तथा प्रत्येक लोक में देवताओं का निवास था। वैदिक ऋषियों ने इन देवताओं के व्यक्तित्व में प्रायः समान गुणों का आरोप किया है तथा स्तुति करते समय प्रायः किसी भी देवता को सर्वोच्च घोषित किया है। मैक्समूलर ने इस प्रवृत्ति को उपास्यदेव-श्रेष्ठतावाद (हेनोथीज्म के) नाम से अभिहित किया है[४] तथा कुछ अन्य विद्वानों ने इस प्रवृत्ति को एकेश्वरवाद का सूचक माना है[५]। इतना

पूर्व-वैदिक आर्य धर्म

---

१. भगवत शरण उपाध्याय, वीमेन इन दि ऋग्वेद, पृ ६४।

२. ऋ० १०. ८५ में नवविवाहिता वधू को आशीर्वाद देते हुए कहा गया है 'देवृकामा भव'। इसे आर्य-समाज में बहु-भर्त्तता के पूर्व प्रचलन का सूचक मानना चाहिये, क्योकि स्वयं ऋग्वेदिक युग में इस प्रथा के प्रचलन का कोई अन्य प्रमाण नही मिलता।

३. ऋ० १. १०५.८ में सपत्नियो युक्त व्यक्ति की दुर्दशा का संकेत है। इसी प्रकार ऋ० १०.१४५ में सपत्नीवाधन का प्रयास दिखाई देता है।

४. मैक्समूलर के इस मत का खंडन हो चुका है। द्र० वेदिक माइथालोजी, पृ० १०

५. श्मिट—ओरिजिन एण्ड ग्रोथ ऑव रिलिजन, पृ० १७२

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

सुनिश्चित है कि विभिन्न देवताओं में समान गुणों के आरोप तथा प्रत्येक की श्रेष्ठता के प्रतिपादन के परिणामस्वरूप एकेश्वरवाद तथा सर्वेश्वरवाद के विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ। ऋग्वेद के कुछ ऋषियों ने स्पष्टतः बहुदेववाद को चुनौती दिया है। प्रथम मण्डल में उस एक सत् की कल्पना की गई है जिसे ज्ञानी लोग इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, मरुत और मातरिश्वा आदि विभिन्न नामों से पुकारते हैं।[१] इसी प्रकार अन्यत्र देवताओं के असुरत्व को एक माना गया है।[२] दशम् मण्डल के कुछ सूक्त, जिनकी प्राचीनता संदिग्ध है, दार्शनिक चिन्तन का भी संकेत करते हैं। इस प्रकार 'पुरुष सूक्त' में सृष्टि का कारणभूत मूल तत्व विराट-पुरुष को तथा नासदीय सूक्त में अव्यक्त 'तदेकम्' को बताया गया है। ऋक्संहिता में बहुदेववाद तथा एकेश्वर के सूचक मन्त्रों का साथ-साथ होना विस्मयजनक नहीं है क्योंकि प्रत्येक समाज में एक ही समय में धार्मिक विश्वासों के विविध स्तर दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार की स्थिति प्रायः बौद्धिक वैषम्य के कारण उत्पन्न होती है।

ऋग्वेद के अनेक देवताओं में इन्द्र का प्राधान्य है।[३] वह युद्ध और बल का देवता है।[४] यहाँ तक कि इन्द्रिय शब्द प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में भी बल का पर्यायवाची है। आर्य-प्रसार के युग में संग्रामों का बाहुल्य उनकी लोकप्रियता का कारण था। उत्तरकाल में इन्द्र वर्षा के देवता के रूप में अर्चित हुए और इस प्रकार लोकप्रिय बने रहे। वरुण सत्य और ऋत के पालक के रूप में माने जाते थे।[५] उनके सूक्तों में ऋक्संहिता के नैतिक आदर्श प्रकाश पाते हैं। वरुण को असुर भी कहा गया है जो ईरानी देव अहुरमज्द से सम्बन्धित है। कुछ विद्वानों ने वरुण को मूलतः आकाश का देवता माना है।[६] किन्तु पण्डित क्षेत्रशचन्द्र चट्टोपाध्याय का यह मत कि वरुण रात्रि का

---

१. ऋ० १.१६४.४६।
२. ऋ० ३.५५
३. वैदिक देवताओं एवं देववाद पर सामान्यतः द्रष्टव्य—मैक्डानल, वैदिक माइथालोजी, कीथ, रिलिजन एण्ड फिलासफी आव दि वेद, हिस्ट-ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आफ रिलिजन
४. वैदिक माइथालोजी, पृ० ५४
५. ऋ० १. २३. ५
६. वैदिक माइथालोजी, पृ० २७ कीथ, रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेदाज़ एण्ड उपनिषद्स, भाग १, पृ० १०२

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

सूर्य है, अधिक समीचीन प्रतीत होता है।[१] आकाशीय देवताओं में वरुण के अतिरिक्त द्यौस् उल्लेखनीय हैं जिनकी कल्पना आकाश-देव के रुप में की गई। भाषाविदों ने यूनानी देवता जियस के साथ उसकी अभिन्नता स्वीकार की है। इस प्रकार वह वैदिक आर्यों का प्राचीनतम देवता प्रतीत होता है। आकाशीय देवताओं में सूर्य भी उल्लेखनीय हैं जिनकी उपासना पाँच रूपों में प्रचलित थी जिन्हें सूर्य, सवितृ, मित्र, पूषन और विष्णु नाम से अभिहित किया गया है। इनमें विष्णु, जो ऋग्वेद में आकाशचारी सूर्य के रूप में उल्लिखित हैं, उत्तरकाल में सम्भवतः किसी अनार्य देवता को आत्मसात कर लेने के कारण अधिक लोकप्रिय हो गया।[२] उसकी उपासना भी पृथक देव के रूप में होने लगी। इसी प्रकार अन्तरिक्षीय देवताओं में इन्द्र के अतिरिक्त रुद्र का स्थान महत्वपूर्ण माना जा सकता है क्योंकि इस देवता ने उत्तरवैदिक युग तक अतिशय महत्ता प्राप्त की तथा सैन्धव शिव को आत्मसात करने में समर्थ हुआ। ऋग्वेद में वह प्रकृति के उग्र रुप का प्रतिनिधित्व करता है। अनेक प्रसंगों के अध्ययन से वह झंझावात के साथ आनेवाले विद्युत्धारी घने काले मेघों का दैवीकरण प्रतीत होता है। मरुत सम्भवतः झंझावात के देवता तथा रुद्र के सहायक थे। पृथिवी के देवताओं में अग्नि, बृहस्पति और सोम-विशेष रूप से ब्राह्मणों के देवता थे। इस वर्ग के देवताओं में स्वयं पृथ्वी की भी गणना हुई है जिसका उल्लेख अधिकांशतः द्यौस के साथ हुआ है। ऋग्वेदिक देवियों में उषा का वर्णन अत्यन्त हृदयग्राही है। यह उल्लेख्य है कि उषा के व्यक्तित्व को आर्येतर प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं माना जा सकता।[३] देवताओं का उस समय मुख्यतया ऐहिक प्रसाद प्रार्थित था। ऐसी स्थिति में और्ध्वदेहिक जीवन के विषय में पूर्ववैदिककालीन धारणाएं अस्पष्ट थीं। यह माना जाता था कि देवताओं का यजन करने वाले सत्पुरुष मृत्यु के पश्चात् पितृलोक में निवास करते हैं। अनृत परायण व्यक्तियों की और्ध्वदेहिक अवस्था के विषय में कुछ स्पष्ट नहीं कहा गया है।

---

१. पाण्डेय, जी० सी०, ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्म, पृ० २६८ पर उद्धृत

२. दी कल्चरल हैरिटेज आव इण्डिया, वाल्यूम १, पृ० ८२ वैदिक एज, पृ० १६२

३. वैदिक उषा और उर्वशी का सिन्धु-संस्कृति से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। द्रष्टव्य—इण्डिया पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट, पृ० १६३ और आगे

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

देवता के लिए मंत्रपूर्वक द्रव्यत्याग को यज्ञ कहते थे। ईरान में एक समय प्राचीन आर्य लोग हवि को अग्नि में नहीं डालते थे।[१] भारतीय आर्यों में बहुत पहले ही वैदिक काल में अग्नि हव्यवाह के रूप में प्रकटहोते हैं, यद्यपि यह स्मरणीय है कि यहाँ भी उत्तरकालीन सिद्धान्त के अनुसार हवि का अग्नि में प्रक्षेप 'प्रतिपत्ति कर्म' ही समझा जाता था। यज्ञ का प्रारम्भिक स्वरुप सरल था। ऋत्विक् के द्वारा देवता के स्तुतिपरक मंत्र पढ़े जाते थे और हवि के रुप में विविध धान्य अथवा गोरस से निर्मित अन्न, पशु अथवा सोमरस अर्पित किए जाते थे। क्रमशः अनेक यज्ञों में ऋत्विक् के कार्य का चतुर्धा विभाजन भी होता है। होता नामक ऋत्विक् ऋक्संहिता की ऋचाओं का पाठ करता था। अध्वर्यु कर्मकांड का भार वहन करता था उद्गाता सामगान करता था तथा ब्रह्मा यज्ञ कर्म का अध्यक्ष होता था। इनके साथ सहायक भी होते थे। कुछ यज्ञ इतने विस्तृत एवं व्यवसाध्य हो चले थे जिन्हें राजा अथवा समृद्ध (मघवन्) लोग ही सम्पन्न कर सकते थे।

---

१. द्रष्टव्य-हेरोडोटस, हिस्टररीज़, (पेंग्विन क्लासिक्स में अनुवाद), पृ० ६८-६९।

—:०:—

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

उत्तर वैदिक युगीन भौतिक जीवन एवं उपलब्धियाँ

परवर्ती संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं उपनिषदों का काल उत्तर-वैदिक युग के नाम से अभिहित किया जाता है।[१] इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि वैदिक साहित्य के विभिन्न भाग अधिकांशतः एक दूसरे में से विकसित होते गये। ऋक्संहिता मूल ग्रन्थ था। उसी के मंत्रों से सामवेद संहिता का कलेवर बना।[२] किन्तु यजुर्वेद की कृष्ण तथा शुक्ल इन दो संहिताओं में पर्याप्त नई सामग्री भी है। वह उन मंत्रों के रूप में है जो यज्ञीय कर्मकाण्डों के समय अध्वर्यु के लिये आवश्यक थीं। कृष्ण-यजुर्वेद संज्ञा इस कारण पड़ी कि इसमें मूल-मंत्र-भाग और उसकी मद्यात्मक व्याख्या सम्मिलित रूप से सन्निविष्ट है। शुक्ल-यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता में मंत्र-भाग और यजुष भाग तो है किन्तु व्याख्यात्मक गद्य-भाग 'शतपथ-ब्राह्मण' के रूप में बिल्कुल अलग संग्रहीत है। चौथी संहिता अथर्ववेद संहिता है। वह यज्ञ के निरीक्षक 'ब्रह्मा' के उपयोग के लिये थी। इस संहिता में कुछ मंत्र तो ऋक्संहिता से लिए गये तथा कुछ की प्रकृति नितान्त नवीन तथा विचित्र है। इसमें विविध अभिचार, विवाह और प्रेम सम्बन्धी गीत तथा राजा एवं राष्ट्र सम्बन्धी मन्त्र भी संग्रहीत हैं। इस संहिता से सामान्य जनों की सामाजिक स्थिति एवं धार्मिक विश्वासों पर अधिक प्रकाश पड़ता है। संहिताओं के बाद ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिषदों का विकास हुआ। ब्राह्मण भारतीय गद्य साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इनमें वैदिक यज्ञीय कर्मकाण्ड के सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों का विवेचन है और तत्सम्बन्धी अनेक कथाओं के द्वारा कर्मकाण्ड का महत्व समझाया गया है एवं कर्मकाण्ड की उत्पत्ति पर भी विचार किया गया है। उनका सम्बन्ध संहिताओं से है। ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेद से सम्बन्धित है और उसमें सोम-यज्ञ और राज्याभिषेक-विधि का वर्णन

१. इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद का दशम् मंडल भी अधिकांशतः उत्तरवैदिक-कालीन माना गया है। अतः ऋग्वेद के दशम् मंडल की सामग्री का उपयोग भी यथास्थान किया गया है।

२. इस ग्रन्थ में केवल ७८ नई ऋचायें हैं।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

किया गया है। पंचविंश ब्राह्मण का सम्बन्ध सामवेद से है जिसमें व्रात्यस्तोम यज्ञों का वर्णन है जिनके द्वारा व्रात्य लोग आर्य-समुदाय में सम्मिलित किये जाते थे। शतपथ का सम्बन्ध शुक्ल-यजुर्वेद से है। इसमें अनेक विषय हैं और यह वैदिक युग का सबसे मूल्यवान ब्राह्मण ग्रन्थ है। गोपथ-ब्राह्मण का सम्बन्ध अथर्ववेद से है।

ब्राह्मणों के अन्तिम भाग आरण्यक हैं। उनका यह नाम इसलिये पड़ा क्योंकि उनमें वर्णित दार्शनिक एवं रहस्यात्मक विषयों के लिये अरण्य का एकान्तवास आवश्यक था। आरण्यक ब्राह्मणों और उपनिषदों के बीच की कड़ी थे। आरण्यकों में ही सर्वप्रथम यज्ञ-कर्म की प्रतीकात्मक व्याख्या प्रारम्भ हुई तथा कर्म से विद्या का अधिक महत्व समझा और घोषित किया गया। उपलब्ध आरण्यक ग्रन्थों में ऐतरेय, कौशीतकी और तैत्तरीय हैं, जो उस नाम के ब्राह्मण के ही भाग हैं। पहले दो का सम्बन्ध ऋग्वेद से और तीसरे का कृष्ण-यजुर्वेद से है। उपनिषद ब्राह्मण साहित्य के अन्तिम विकास को सूचित करते हैं और आरण्यकों का अन्तिम रूप उनमें पाया जाता है। उनकी भाषा लौकिक संस्कृत के अत्यन्त निकट है, जिससे ज्ञात होता है कि वे वैदिक युग के समाप्तिकाल की रचनायें हैं। उपनिषदों का सम्बन्ध ब्राह्मणों के प्रमुख विषय यज्ञ एवं उसकी विधि से नहीं बल्कि आत्म-विद्या से है, जिसकी सहायता से जीवात्मा संसार से मुक्त होकर विश्वात्मा अथवा ब्रह्म में लीन हो जाती है। सामवेद का छान्दोग्य और शुक्ल-यजुर्वेद का बृहदारण्यक सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण उपनिषद हैं। प्रसिद्ध एवं सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण उपनिषदों में कठ, ईश, श्वेताश्वतर, मैत्रायणीय, तैत्तरीय, मुण्डक, प्रश्न, माण्डूक्य और केन उल्लेखनीय हैं। इनमें कठ के अतिरिक्त अन्य उपनिषद बुद्ध से अधिक प्राचीन नहीं माने जाते। उत्तर-वैदिक समाज एवं संस्कृति के स्वरूप को निर्धारितकरने के लिये उपर्युक्त विविध-विषयक विशाल साहित्य का आश्रय लेना अपरिहार्य है।

भौगोलिक विस्तार

पूर्व-वैदिक युग में आर्यों की भौगोलिक परिधि अफगानिस्तान से यमुना-गंगा तक सीमित थी।[1] उनके सांस्कृतिक जीवन का केन्द्र पंजाब तथा सरस्वती का तटवर्ती प्रदेश था। किन्तु उत्तर-वैदिक युग तक आर्यों की भौगोलिक सीमा में अतिशय विस्तार दिखाई देता है। दक्षिण-पूर्व की ओर अग्रसर आर्यजन गंगा की घाटी में बसने लगे थे और स्थायी जनपदों की

१. ऋ० १०. ७५.६ गंगा का एकाकी उल्लेख यहीं हुआ है।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

स्थापना भी होने लगी थी। ऋग्वेद के प्रतापी भरत-जन अस्तित्वहीन हो चुके थे। पुराने पंचजनों की ख्याति का भी लोप हो चुका था।[१] इस युग में इसे 'ध्रुव मध्यमा दिशि' नाम से अभिहित किया गया है।[२] इस प्रदेश में निवास करने वाले जनों में कुरु-पंचाल प्रमुख थे। ये सम्मिलित राष्ट्र प्रतीत होते हैं क्योंकि ब्राह्मण साहित्य में कुरु-पंचाल का उल्लेख साथ-साथ हुआ है। दूसरे, प्रारम्भ में ये दोनों एक ही नरेश द्वारा शासित होते थे।[३] ब्राह्मण ग्रन्थों में इनकी प्रकृष्ट प्रशंशा की गई है। कुरु-पंचाल के राजा राजसूय यज्ञ करते थे।[४] शीतकाल में वे दिग्विजय करते थे तथा ग्रीष्म में घर लौट आते थे।[५] उनकी यज्ञविधि सर्वोत्तम मानी जाती थी।[६] उपनिषत्काल तक कुरु-पंचाल के ब्रह्मण एवं राजन्य अपनी प्रतिभा और विद्वत्ता के लिए विश्रुत हो गये थे। इस प्रदेश के निवासी अपने उच्चारण की शुद्धता के लिये प्रसिद्ध थे। संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना भी अधिकांशत: कुरु-पंचाल के विद्वानों द्वारा की गई।[७] कुरुक्षेत्र की सीमा का संकेत करते हुये तैत्तरीय आरण्यक में कहा गया है कि इसके उत्तर में तूर्घ्न, दक्षिण में खाण्डव और पश्चिम में परीण: की स्थिति थी।[८] महाभारत में कुरुक्षेत्र को सरस्वती और दृशद्वती के बीच का भूभाग माना गया है। कुरु जनपद की भौगोलिक स्थिति का संकेत करने वाले विविध प्रसंगों के समवेत अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि स्थूलत: वर्तमान थानेश्वर, दिल्ली और गंगा-घाटी का ऊपरीभाग कुरु जनपद के अन्तर्गत था।[९] जैसा कि नाम से ही संकेतित है, पंचाल जन के अन्तर्गत क्रिवि, तुर्वश, केशिन, संजय और सोमक ये पांच जन सम्मिलित

---

१. यास्क ने पंचजना: का अर्थ 'चत्वारो वर्णा: निषादस्तुपंचम:' किया है। द्र० निरुक्त ३.८.

२. ऐत० ब्रा० ८. ३

३. ऐत ब्रा० ८.१४

४. शत० ब्रा० ५.५.२.३

५. तै० ब्रा० १.८.४.१–२

६. शत० ब्रा० १.७.१.८

७. वैदिक एज, पृ० २५३

८. तै० आर ५.१

९. राय चौधुरी, पोलिटिकल हिस्टरी आव एन्शयेन्ट इण्डिया, पृ० २२

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

थे।[१] पंचाल जनपद के अन्तर्गत बरेली, बदायूं, फर्रुखाबाद तथा पश्चिमी उत्तरप्रदेश के कुछ अन्य पड़ोसी जिले सम्मिलित थे।[२] कुरु जनपद की राजधानी आसन्दीवन्त थी। यहीं परीक्षित-पुत्र जनमेजय का अभिषेक और अश्वमेध सम्पन्न हुआ।[३] कुरु-पंचालों के अन्य प्रमुख नगर परिचक्रा, काम्पिल्ल और कौशाम्बी थे। कौशाम्बी तो हस्तिनापुर की बाढ़ से विनष्ट होने के पश्चात् निचक्षु के काल में कुरु-जनों की राजधानी भी बनी।[४] सम्भव है छान्दोग्य उपनिषद में उल्लिखित मटची के प्रकोप से उत्पन्न अकाल की स्थिति के कारण भी राजधानी का परिवर्तन हुआ हो। निचक्षु-कालीन बाढ़ एवं तज्जन्य विनाश का संकेत हस्तिनापुर के उत्खनन से भी मिलता है।[५] ऐतरेय ब्राह्मण (८.१४) में वशों एवं उशीनरों को कुरु-पंचालों का पड़ोसी माना गया है तथा इनकी स्थिति भी मध्यदेश में स्वीकार की गई है। गोपथ ब्राह्मण में इनका उल्लेख उदीच्यों के साथ हुआ है।[६] इससे प्रकट है कि इनकी स्थिति मध्यदेश के उत्तरी भाग में कहीं थी। कुरु-पंचाल, वश और उशीनर के साथ ही मत्स्य का भी उल्लेख हुआ है।[७] मत्स्य तथा उनके पड़ोसी शाल्व राजस्थान में वर्तमान जयपुर, भरतपुर और अलवर के प्रदेश में निवास करते थे।[८]

पूर्व की ओर काशी, कोशल और विदेह तक वैदिक संस्कृति का विस्तार हो चुका था। उपनिषदयुगीन विदेह में ब्रह्मविद्या के अनेक प्रकाण्ड पण्डित हुए। स्वयं विदेह-नरेश जनक अपनी विद्वता के लिए दूर-दूर तक विख्यात थे। शतपथ ब्राह्मण में विदेघ-माथव और गोतम राहूगण द्वारा कोशल और विदेह के उपनिवेशन की महत्वपूर्ण घटना का जिस प्रकार उल्लेख हुआ है

---

१. ब्रह्म पुराण १३. ६४
२. पोलिटिकल हिस्टरी आव एन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ७०
३. ऐत० ब्रा० २६. ७. शत० ब्रा० १३. ५. ४. २
४. द्रष्टव्य, पार्जीटर, डाइनेस्टीज आव दि कलि एज, पृ० ५
५. ऐन्श्येन्ट इण्डिया नं० १०-११, पृ० १४
६. गो० ब्रा० २,६ जिमर महोदय ने इसके आधार पर इन्हें उत्तर-पश्चिम का निवासी माना है तथा रामप्रसाद चन्दा ने वाहलीक का।
७. कौषीतकी उपनिषद ४. १
८. पोलिटिकल हिस्टरी आफ एन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ६६-६७

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

उससे प्रतीत होता है कि अपने पूर्वाभिमुख प्रसार के समय आर्यों को गंगा की घाटी के दीर्घारण्यों को विदग्ध करना पड़ा था।[१] प्रसार की इस प्रक्रिया में कोशल का आर्यीकरण विदेह के पूर्व सम्पन्न हुआ होगा। सदानीरा इन दोनों जनपदों के बीच सीमा थी। काशी, कोशल और विदेह के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण थे और किसी समय इन तीनों का एक ही पुरोहित होता था।[२] काशी का प्रथम बार उल्लेख अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा में उपलब्ध होता है।[३] जनक का समकालीन काश्य अजातशत्रु भी दार्शनिक विवाद में विदग्ध था। मगध और अंग का पूर्ण आर्यीकरण अभी नहीं हो सका था। यही कारण है कि अथर्ववेद में तक्मन (ज्वर) को पूर्व में मगध और अंग की ओर जाने के लिए कहा गया है।[४] इसी प्रकार अथर्ववेद के व्रात्यकाण्ड में मागधों का सम्बन्ध व्रात्यों से बताया गया है।[५] ऐतरेयारण्यक में वंश, वगध (मगध) और चेर के निवासियों को पक्षी कहा गया है जिसका सांकेतिक अर्थ अनार्य प्रतीत होता है।[६] पुण्ड्र, वंग और कलिंग जैसे प्रदेशों को चतुर्थ सदी ई० पू० तक अनार्य एवं अपवित्र समझा जाता था, इसीलिये बौधायन धर्मसूत्र में इन प्रदेशों की यात्रा करने वाले व्यक्ति के लिये प्रायश्चित का विधान है।[७] मगध में वैदिक संस्कृति का प्रवेश निश्चित रूप से छठी सदी ई० पू० के कुछ पहले हो चुका था क्योंकि इस प्रदेश में जैन एवं बौद्ध धर्म के प्रवर्तकों ने अपने उपदेश मागधी या प्राकृत में दिए, जिनका विकास वैदिक संस्कृत भाषा से हुआ था। इन प्रदेशों में दीर्घकाल तक ब्राह्मण धर्म एवं विचारों की दुर्बलता का कारण समुन्नत स्थानीय परम्पराओं की सशक्तता को माना जा सकता है।

---

१. शत० ब्रा० १. ४. १. १०. इसी प्रकार महाभारत में खाण्डव वन को जला कर हस्तिनापुर को बसाने का उल्लेख है।

२. शांखायन श्रौत सूत्र १६. २९. ५

३. द्र०, वैदिक इण्डेक्स, २. ११५

४. अथर्ववेद ५. २२. १४

५. अथर्ववेद १५. २. १–४

६. ऐतरेय आरण्यक २. १. १ इमः प्रजा :···गंगावगाधाश्चेरपादा : अकर्म-भीतो विविश्र : :

७. बौधायन धर्मसूत्र १. १. २. १४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

दक्षिण के प्रसंग में ऐतरेय ब्राह्मण में सत्वतों का उल्लेख है। सत्वत लोग उत्तर-वैदिक युग में मध्यदेश के दक्षिण में निवास करते थे। महाभारत में पंचाल की दक्षिणी सीमा चर्मण्वती (चम्बल) तक बताई गई है।[१] अतः सम्भावना इस बात की है कि सत्वत लोग चर्मण्वती के दक्षिण में निवास करते थे।[२] ऐतरेय ब्राह्मण में इन लोगों में भोज्य शासन प्रणाली के प्रचलन का उल्लेख मिलता है। दक्षिण में आर्यों का परिचय विदर्भ से भी था ऐतरेय ब्राह्मण में भीम वैदर्भि का उल्लेख है जिन्होंने ऋषि नारद और पर्वत से उपदेश प्राप्त किया।[३] प्रश्नोपनिषद में भार्गव वैदर्भिका वर्णन है जो पैप्पलाद ऋषि के पास ब्रह्म ज्ञान के लिए गये थे।[४] उनके नाम से स्पष्ट है कि वे भृगुवंशी थे तथा विदर्भ के निवासी थे। वृहदारण्यक उपनिषद में विदर्भ के कौण्डिनेय को प्रारम्भिक उपदेशकों में स्थान दिया गया है।[५] जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण में भी विदर्भ का उल्लेख है।[६] विदर्भ के अन्तर्गत वर्तमान बरार और उसके समीप स्थित वर्धा और वैन गंगा के बीच का भूभाग था। विदर्भ से आर्यों का घनिष्ट परिचय तथा इस प्रदेश का वैदिक ऋषियों एवं ब्रह्म-विद्या आदि के साथ उल्लेख इस बात का संकेतक है कि उत्तर-वैदिक युग में आर्यों का प्रवेश न्यूनाधिक रूप से विन्ध्य के दक्षिण में भी हो चुका था। शतपथ ब्राह्मण (३.२.१.२) में नाड नामक राजा का विरुद 'नैषधि' बताया गया है। सम्भवतः वह नैषध देश का निवासी था। नैषध की स्थिति भी

---

१. महाभारत १. १३८. ७४ दक्षिणांश्चापि पाञ्चालात् यावच् चर्मण्वती नदी

२. पोलिटिकल हिस्टरी आफ एन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ९०।

३. ऐत० ब्रा० ७. ३४

४. प्रश्नोपनिषद १. १

५. वृहदारण्यक उपनिषद २. ५. २२, ४. ५ २८

६. द्रष्टव्य, वैदिक इन्डेक्स २. ४४० प्राचीन अनुश्रुतियों में दक्षिण की ओर जाने वाले ऋषियों में अगस्त्य अग्रणी माने गये हैं। ऋग्वेद में अगस्त्य और लोपामुद्रा का वार्तालाप है तथा महाभारत में अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा को विदर्भ राज की कन्या कहा गया है। यदि यह कथानक सत्य है तो मानना पड़ेगा कि ऋग्वेदिक युग में ही आर्यों के कुछ समूहों का प्रवेश विदर्भ जैसे सुदुरस्थ प्रदेशों में हो गया था।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

विदर्भ के समीप ही रही होगी। ऐतरेय ब्राह्मण में अन्यत्र विन्ध्य पर्वतमाला तथा उसके दक्षिण में बसने वाली आर्येतर जातियों का भी उल्लेख है।[१] इस प्रसंग में यह बताया गया है कि विश्वामित्र के जिन पुत्रों ने शुनःशेप को अपना बड़ा भाई मानते से इनकार किया उन पचास पुत्रों को पिता के शाप के कारण आन्ध्र, मूतिब, शबर तथा पुलिन्द आदि म्लेच्छ जातियों में परिगणित होना पड़ा। आन्ध्रों की तत्कालीन भौगोलिक स्थिति के सम्बन्ध में निश्चायक ढंग से कुछ कहना कठिन प्रतीत होता है। डा० स्मिथ का यह विश्वास है कि आन्ध्र लोग सुदूर अतीत से ही गोदावरी और कृष्णा के मुहाने के समीप निवास करते थे। पी० टी० श्रीनिवास आयंगर ने आन्ध्रों को मूलतः विन्ध्य-प्रदेश में निवास करनेवाली जाति माना है जो परवर्ती युगों में गोदावरी और कृष्णा की घाटी में जा बसी।[२] उनका यह मत अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है क्योंकि ऐतरेय ब्राह्मण में शबर पुलिन्द आदि जिन जातियों के साथ आन्ध्रों का उल्लेख हुआ है वे मध्य प्रदेश में रहने वाली जातियाँ हैं। मत्स्य और वायु पुराण में शबर और पुलिन्दों को 'दक्षिणा-पथ-वासिनः' कहा गया है।[३] इन लोगों की स्थिति आधुनिक ग्वालियर, रायपुर, सम्बलपुर और गंजाम आदि स्थानों के आस-पास रही होगी।[४] पुलिन्द लोगों की राजधानी दशार्ण के दक्षिण पूर्व में स्थित थी।[५] इनका निवास वर्तमान बुन्देलखण्ड में दसान नदी के तटवर्ती प्रदेश में था।[६] मूतिबों की वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में कुछ भी कहना कठिन है। शांखायन श्रौतसूत्र में इन्हें मूवीय कहा गया है।[७] नाम-साम्य के आधार पर डा० रायचौधुरी इन्हें मुसी नदी के समीप का निवासी मानते हैं [illegible] माणों के अभाव के कारण उन्होंने इस सम्भावना को स्वयं सन्दिग्ध म[illegible]।

---

१. ऐत० ब्रा० ७. १८
२. इण्डियन एण्टिक्वेरी, पृ० २७६-७८ (१९१३)
३. मत्स्य, ११४.४६–४८, वायु ४५.१२६
४. जे० ए० एस० बी, पृ० २८९ (१८९०) इण्डियन एण्टिक्वेरी, पृ० २८३ (१८७९)
५. महाभारत २. ५. १०
६. जे० ए० एस० बी० पृ० २५३ (१८९५)
७. शांखा० श्रौ० सू० १५.२६, ६
८. पोलिटिकल हिस्टरी आफ एन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ९४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

उत्तर-वैदिक युग तक परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण हम आर्थिक विकास में नवीन गति और दिशा पाते हैं। आर्य लोग अब स्थायी ग्रामों एवं जनपदों में रहने लगे थे।[१] विजित उर्वर प्रदेशों में ग्राम की स्थापना होने लगी थी। विजेता के रुप में विस्तृत उर्वर भूमि पर्याप्त रूप में उपलब्ध हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में आर्थिक विकास का क्रम स्वभावतः तीव्रतर हुआ। ग्राम आर्थिक व्यवस्था के केन्द्र बने तथा ग्रामीण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक व्यवसायों और उद्योगों का विकास हुआ। दक्षिण-पूर्व की ओर गतिशील आर्यों को वनों को साफ करके अपने ग्रामों की स्थापना करनी पड़ी थी। इन्हीं वनों को साफ करके भूमि को कृषि योग्य बनाना पड़ता था। उत्तर-वैदिक साहित्य से उपलब्ध प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि क्षेत्र और अरण्य आस-पास हुआ करते थे। शतपथ ब्राह्मण में दीर्घारण्यों का उल्लेख हुआ है।[२] ऐतरेय ब्राह्मण में पूर्वी भारत के वनों का वर्णन है[३] जिनका धीरे-धीरे विनाश किया जा रहा था। अनेक प्रसंगों से ऐसा प्रतीत है कि छोटे-छोटे ग्राम बड़े ग्रामों में तथा बड़े ग्राम नगरों में विकसित हो रहे थे। यजुर्वेद संहिता तथा ब्राह्मणों में महापुरों का उल्लेख मिलता है।[४]

उत्तर वैदिक ग्राम

ग्राम के अन्तर्गत निवास भूमि के अतिरिक्त कृषि-योग्य भूमि तथा गोचर भूमि का सन्निवेश था भूमि के स्वामित्व के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने विस्तरशः विचार किया है।[५] ऋग्वेद के ही अनेक मंत्रों से निवास-भूमि पर वैयक्तिक स्वामित्व की पुष्टि होती है।[६] इस प्रसंग में गृहपति और गृहपत्नी

भूमि :

---

१. शत० ब्रा० ४. १. ५. २-७ में शर्यात मानव को अपने ग्राम के साथ घूमने वाला बताया गया है। इससे प्रकट होता हैं कि अपवानस्वरूप कुछ जन-समूह अब भी यायावर जीवन व्यतीत कर रहे थे।

२. शत० ब्रा० १३. ३. ७. ११

३. ऐत० ब्रा० ३. ४४

४. तै० सं० ६. २. ३, १, काठ० सं० २४. १०, मैत्रा० सं० ३. ८. १, ऐत० ब्रा० १. २३. २, गो० ब्रा० २. २. ७।

५. विस्तृत अध्ययन के लिए द्रष्टव्य—मेन, हिन्दू ला, बेडेन पावेल, इण्डियन विलेज कम्यूनिटी।

६. ऋ० ८, ५४ तथा ५५।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

शब्द भी उल्लेखनीय हैं। छान्दोग्य उपनिषद में तो स्पष्टतः क्षेत्र एवं आयतन को व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में परिगणित किया गया है।[१] मेन महोदय ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भूमि के रूप में स्थावर सम्पत्ति पर पहले पंचायतों का सामूहिक अधिकार होता था तथा बाद में इन सामूहिक अधिकारों में से पृथक् पृथक अधिकारों की उत्पत्ति हुई। पहली अवस्था सामुदायिक स्वामित्व की थी और इसके पश्चात् वैयक्तिक स्वामित्व का जन्म हुआ।[२] बेडेन पावेल महोदय ने भूसम्पत्ति की ऐतिहासिक विवेचना करते करते हुए सतर्क सिद्ध किया है कि वैदिक युग में सामूहिक स्वामित्व का सूचक कोई प्रमाण नहीं मिलता।[३] वैदिक साहित्य में भूमि-सम्पत्ति पर वैयक्तिक स्वामित्व के सूचक अनेक प्रबल प्रमाण उपलब्ध हैं। कृषि योग्य भूमि पर भी ऋग्वेदिक युग से ही वैयक्तिक स्वामित्व स्वीकृत हो चुका था। यह बात ऋग्वेद में क्षेत्र-पति, क्षेत्र-पत्नी, क्षेत्र-जेषा, क्षेत्रजय आदि शब्दों के अनेकशः उल्लेख से स्पष्ट है।[४] ऋक्संकिता के एक प्रसंग के अनुसार अपाला ने इन्द्र से तीन वर मांगे थे—मेरे पिता का सिर गंजा है, उसमें बाल पैदा करो, उसका खेत ऊसर है उसमें अन्न पैदा करो और मेरा त्वग्दोष दूर करो।[५] परवर्ती संहिताओं में क्षेत्र-विजय के अनेक उल्लेख मिलते हैं। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि पड़ोसी के साथ भूमि सम्बन्धी कलह होने पर इन्द्र और अग्नि को आहुति देनी चाहिए।[७] विचारार्ह है कि अनार्यों के विशाल भूभागों के अपहरण तथा अनार्य नगरों एवं अरण्यों के विध्वंश की प्रक्रिया में आर्यों ने इन्हीं देवताओं से प्रेरणा एवं साहाय्य के लिए निवेदन किया। वैदिक इण्डेक्स के लेखको ने यह दावा किया है कि वैदिक वाङ्मय में भूमि पर सामूहिक स्वामित्व का कोई उल्लेख नहीं है तथा

---

१. छा० उप० ७.२४.२।
२. हिन्दू ला, पृ० ३१७–१९।
३. इण्डियन विलेज कम्यूनिटी (१८९९)
४. ऋ० १.३३. १५, ४.५७.१–२, ७.५५.१०, १०.६६.१–३, ६.२०१ इत्यादि।
५. ऋ० ८.९१.५–६, इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र विरोहय, सिरस्ततो-र्णामादिदं म उपोदरे।
६. तै० सं० ३.२.८.५,काठ० सं० ५.२, मै० सं० ४.१२.३
७. तै० सं० १,२,१

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

इसके विपरीत वैयक्तिक स्वामित्व पूर्णतया प्रमाणित है।[१] यह मत अधिकांशतः सत्य होते हुये भी निरपवाद नहीं है क्योंकि निवास-भूमि तथा कृषि-योग्य भूमि पर वैयक्तित स्वामित्व अवश्य स्थापित हो चुका था किन्तु गोचर भूमि पर नहीं।[२] व्यक्तिगत गोचर-भूमि का उल्लेख सर्वथा अनुपलब्ध है। ऋ० १०.१९.३-४ में ग्राम के सभी पशुओं का एक ही व्यक्ति के संरक्षण में साथ-साथ चरने का उल्लेख है। धर्मसूत्रों तथा अर्थशास्त्र में भी गोचर भूमि को ग्रामवासियों के सामूहिक उपयोग की वस्तु माना गया है। विशेषतः उत्तर-वैदिक युग में, जब कि अरण्यानी से आच्छन्न विस्तृत भूभाग खाली पड़े थे, गोचर भूमि को अधिकृत करने के व्यक्तिगत प्रयास का प्रश्न नहीं उठता।

ब्राह्मण साहित्य में यत्र-तत्र भू-सम्पत्ति के लेन-देन का विरोध संकेतित है किन्तु अनेक प्रसंगों में स्पष्ट रूप से यज्ञ का सम्पादन करनेवाले पुरोहितों को दान में भूमि देने का वर्णन हुआ है।[३] शतपत ब्राह्मण में गार्हपत्य अग्नि के प्रसंग में इस बात का संकेत है कि क्षत्रिय लोग राजा द्वारा प्रदत्त भूमि का विभाजन पारस्परिक समझौते के आधार पर करते थे।[४] ऋक्संहिता (१०. ३४) में जुआरी द्वारा द्यूत में सब धन दांव पर लगा देने का उल्लेख है जिसमें उसका घर भी शामिल है। इन प्रमाणों की पृष्ठभूमि में भूमि के हस्तान्तरण का प्रचलन सिद्ध होता है। छान्दोग्य उपनिषद में क्षेत्र और आयतन को व्यक्तिगत सम्पत्ति माना गया है जिनका हस्तान्तरण पूर्णतः सम्भव था।[५]

भूमि पर राजकीय प्रभुत्व : वैदिक साहित्य में राज्य की सम्पूर्ण भूमि पर राजा का अधिकार सूचित करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है। पूर्ववैदिक काल में राजा को जनता से केवल कर प्राप्त होता था।[६] वह ग्राम की भूमि का अधिकारी नहीं था। ग्राम की भू-सम्पत्ति पर ग्राम वासियों का ही अधिकार था। अथर्ववेद (४.२२.२) में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह राजा को ग्राम में भाग दिलाये।

---

१. वैदिक इण्डेक्स १.१००
२. एन० सी० वन्द्योपाध्याय, इकोनोमिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ११४।
३. शत० ब्रा० १३.६.२.१८, १३.७.१.१३ और १५।
४. शत० ब्रा० ७.१.१.४।
५. छा० उप० ७.२४.२।
६. ऋ० १०.१७३।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

इससे स्पष्ट है कि उत्तर-वैदिक युग के पूर्वार्द्ध में भी ग्राम की सम्पूर्ण भूमि राजा के प्रभुत्व के अन्तर्गत नहीं मानी जाती थी। सम्भवतः ग्रामवासियों द्वारा कुछ भूमि राजा एवं राजकर्मचारियों के भरण-पोषण के लिए [illegible] जाती थी। यदि राजा सम्पूर्ण भू-सम्पत्ति का स्वामी होता तो फिर [illegible] प्रकार की प्रार्थना की कोई आवश्यकता नहीं थी। सत्य तो यह है कि वैदिक युगमें भूमि सम्पत्ति विस्तृत थी तथा उसकी तुलना में जनसंख्या कम थी। जिस व्यक्ति ने भूमि को साफ किया तथा उस पर कृषिकार्य प्रारम्भ किया वहीं उसका स्वामी बना। राजकीय विधि-नियमों के विकास के अभाव में इस प्रकार की व्यक्तिगत भूमि पर राज्य द्वारा हस्तक्षेप का कोई प्रश्न नहीं उठता। इतना अवश्य था कि कालक्रम से राजाओं के अधिकार में भी विस्तृत भूभाग आ गये थे। उपनिषद युग तक ग्रामदान का उल्लेख मिलने लगता है। छान्दोग्य उपनिषद से ज्ञात होता है कि राजा जनश्रुति पौत्रायण ने रैक्व नामक व्यक्ति जो महावृष में 'रैक्वपर्ण' नामक ग्राम दान में दिया।[२]

ग्राम्य-जीवन

उत्तर-वैदिक युगीन ग्राम आत्मनिर्भर इकाई के रूप में संगठित थे। इनके निवासी रक्त-सम्बन्ध, समान रीति-रिवाज, समान उद्देश्य एवं समस्याओं के कारण परस्पर सामुदायिकसूत्र में आबद्ध थे। सहयोग एवं सहानुभूति के बिना ग्राम्य-जीवन की सुरक्षा, शान्ति एवं स्वपर्याप्तता सम्भव नहीं थी। ग्राम की आन्तरिक व्यवस्था ग्राम सभाओं द्वारा की जाती थी। ग्रामणी ग्राम का प्रधान होता था। राजसूय के प्रसंग में रत्निन-सूची के अन्तर्गत ग्रामणी का भी उल्लेख हुआ है जिससे उसका राजनैतिक महत्व प्रकट होता है। ग्राम्यवादिन गाँव के झगड़ों को तय करता था। इस प्रकार वैदिक ग्राम स्वशासित एवं आन्तरिक मामलों में पूर्णतः स्वतन्त्र थे। ग्राम्य-जीवन प्रायः सुखी और सम्पन्न था। आवश्यकता की विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन ग्राम में ही हो जाता था। गाँवों में कृषक, पशुपालक तथा विविधशिल्पों को धारण करनेवाले लोग रहते थे जो वस्तु-विनमय के द्वारा एक दूसरे की आवश्यकता की पूर्ति करते थे। पूर्व-वैदिक युग की भाँति ही

---

१. छा० उप० ४.२.४।
२. छा० उप० ४. २, ४.
३. इण्डियन विलेज कम्यूनिटी, पृ० ६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

बहुसंख्यक पशु इस युग में समृद्धि के सूचक थे। पशुपालन और कृषि से भोजन की सामग्रियाँ प्रभूत मात्रा में प्राप्त हो जाती थीं। यजुर्वेद के एक प्रसंगसे तत्कालीन समाज की आर्थिक आत्मनिर्भरता एवं समृद्धि का आभास मिलता है।[१] इस प्रसंग में यह कहा गया है कि अन्न से भंडार भरे हैं, पशुओं से गोशालाएँ परिपूर्ण हैं दूध-दही आदि रस-पदार्थों का कोई अभाव नहीं है। सभी अभीप्सित सुख सुलभ हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद में परीक्षित के राज्य में रहने वाले लोगों के सुख एवं समृद्धि का उल्लेख हुआ है।[२] इन साहित्यिक उल्लेखों से तथा यज्ञों में व्यय होने वाले प्रभूत धन-धान्यों से इस बात की पुष्टि होती है कि उत्तर-वैदिक युग आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न और समृद्ध था। गंगा-घाटी के उर्वर खेतों तथा चरागहों ने आर्यों के अन्न-धन एवं पशु-धन, दोनों को अधिक समृद्धि प्रदान किया। किन्तु आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होते हुये भी उत्तर-वैदिक समाज भौतिक प्रगति की दृष्टि से काफी पीछे था। आर्थिक जीवन में कृषि और पशुपालन की प्रमुखता के कारण नागरिक सभ्यता का समुचित विकास नहीं हो सका। व्यापार और वाणिज्य की ओर भी लोगों का ध्यान यथेष्ट रूप से आकर्षित नहीं हुआ जिसके परिणाम स्वरूप सुख, विलास एवं ऐश्वर्य के उत्तम साधनों का निर्माण नहीं हो पाया। साहित्यिक विवरण तथा हस्तिनापुर रूपड़ आदि स्थानों से उपलब्ध पुरातात्विक संकेतों से उत्तर-वैदिक आर्यों की संस्कृति का जो स्वरूप मिलता है उससे उनकी भौतिक हीनता द्योतित होती है।

नगरों का विकासस्थल

छठी शताब्दी ई०पू० तक ग्रामीण और आरण्यक-वैदिक सभ्यता अनेकत्र नगरवासिनी हो गई थी।[३] व्यापार के सुदूर-विस्तृत एवं जल पथों पर यात्रा करने वाले सार्थवाहों के उद्यम ने इन नगरों को समृद्धि प्रदान की थी।[४] नागरिक वाणिज्य एवं व्यवसाय श्रेणियों में संगठित थे और इन श्रेणियों के

---

१. शुक्ल यजुर्वेद ३. ४३

२. अथर्व० २०. १२७. ७-१०

३. द्रष्टव्य--कैम्ब्रिज हिस्टरी आव इण्डिया, जिल्द १, पृ० १८६, इकोनौमिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, जिल्द १, भाग ३, ओरिजिन्स आव बुद्धिज्म, पृ० ३१४–१५।

४. व्यापार पथों एवं सार्थवाहों पर, द्रष्टव्य--राइज डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १०३-१०५, मोतीचन्द, सार्थवाह।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

प्रधान श्रेष्ठी समाज में तथा राजभवन में प्रतिष्ठा प्राप्त करते थे।[१] बुद्ध के युग में भारतीय संस्कृति द्रव्य के युग में अवतीर्ण हो रही थी। यह श्रमणों का ही नहीं श्रेष्ठियों का युग था। चम्पा के मेण्डक, श्रावस्ती के अनाथ-पिण्डक और कौशाम्बी के घोषक इन धनाढ्य श्रेष्ठियों के कुछ ज्वलन्त उदाहरण हैं। बौद्ध युग में नागरिक जीवन का यह सुविकसित स्वरूप आकस्मिक नहीं हो सकता। नगरों के विकास की प्रक्रिया निश्चित रूप से उत्तर-वैदिक युग में ही प्रारम्भ हो चुकी होगी। जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण में जानश्रुतेय को नगरिन (नगर-वासी) कहा गया है।[२] इसके अतिरिक्त उत्तर-वैदिक साहित्य में काम्पील[३], परिचक्रा[४], कौशाम्बी[५], अयोध्या[६] आदि नगरों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में नगर-रक्षक परिखा का भी वर्णन है।[७] वैदिक साहित्य की धार्मिक प्रकृति के कारण तत्कालीन-नगर-व्यवस्था एवं निर्माण पद्धति के विषय में विशेष सूचना नहीं मिलती किन्तु पुरातात्विक प्रमाणों से यह संकेतिक है कि इस युग में गंगा की घाटी-में नगरों के अभ्युदय का जो इतिहास प्रारम्भ हुआ उसके निर्माण में सैन्धव परम्पराओं का महत्वपूर्ण योग था। कौशाम्बी की निर्माण-पद्धति पर हरप्पा परम्पराओं का प्रभाव स्पष्टतः दृष्ट है।[८] कौशाम्बी में नगर-रक्षक प्राचीर तथा मेहराबों का निर्माण प्रारम्भिक स्तरों में पूर्णतः हड़प्पा-पद्धति पर हुआ है।

ऋग्वेद तथा जेन्द-अवेस्ता के साक्ष्य का समवेत अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि हिन्द-इरानी युग में ही खेती आर्यों का महत्वपूर्ण व्यवसाय

---

१. श्रेणियों पर द्रष्टव्य-मजुमदार, कारपोरेट लाइफ इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया।

२. जै० उप० ब्रा० ३.४०.२

३. तैत्तिरीय संहिता, ७.४.१९, मैत्रायणी संहिता, ३.१२.२०

४. शत० ब्र० १३.५.४.७

५. ऐत० ब्रा० ८.१४. शत० ब्रा० १२.२.२.१३

६. ऐत० ब्रा० ७.३.१

७. शत० ब्रा० ७.१.१.१३

८. एक्सकेवेसन्स ऐट कौशाम्बी, पृ० १४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

बन चुका था।[१] किन्तु पूर्व-वैदिक युग में हम कृषि का महत्व पशुपालन की अपेक्षा गौण पाते हैं। इसका प्रधान कारण ऋग्वैदिक आर्यों का अव्यवस्थित एवं अटनशील जीवन था। उन्हें कृषि के लिए ऐसी सुविधाएँ प्राप्त नहीं थीं जो उत्तर-वैदिक युग में स्थायी जीवन प्रारम्भ करने के पश्चात् मिलीं। उत्तर-वैदिक युग तक समाज में कृषि का महत्व बढ़ने लगा था जो स्थायी ग्रामीण सभ्यता के लिये सर्वथा स्वाभाविक था। कृषि के द्वारा उत्पन्न अन्न को ही लोग सम्पूर्ण जगत का पालक मानने लगे थे। तैत्तिरीय उपनिषद के अनुसार 'अन्न ही ब्रह्म है। अन्न से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं और अन्न से ही सबका जीवन चलता है। विनष्ट होकर सभी अन्न में मिल जाते हैं तथा अन्न में ही एकरूपता प्राप्त करते हैं।[२] उपनिषदों में अधिक अन्न उत्पन्न करने का सन्देश (अन्न बहु कुर्वीत) सर्वप्रथम सुनाई देता है।

कृषि

पुरोहितों तथा युद्धकर्मा राजन्यों को छोड़ सभी लोग कृषि-कर्म में योग देते थे। खेती में अधिकांशतः वैश्य लोग प्रवृत्त थे इसीलिए अष्ट्रा वैश्यों का चिह्न बतलाया गया है।[३] कृषि-कार्य में शूद्रों के श्रम का भी पर्याप्त उपयोग होता था। ये शूद्र सम्पन्न एवं सम्भ्रान्त लोगों की भूमि पर काम करते थे तथा यदा-कदा भूमि सहित दान में भी दे दिये जाते थे।[४] सम्भव है कि कुछ धनी शूद्र व्यक्तिगत भूमि पर भी कृषि-कर्म करते रहे हों। बेडेन पावेल महोदय की यह कल्पना कि वैदिक समाज में कृषि-कर्म अनार्य श्रमजीवियों द्वारा होता था[५], सत्यांश मात्र प्रतीत होती है क्योंकि, जैसा कि देखा जा

---

१. कृषि का हिन्द-ईरानी युग से ही प्रचलित होना ऋक्संहिता के 'यवम् कृषि' और अवेस्ता के 'यवो करेश' की समानता से प्रकट होता है। ऋग्वेद १०.३४.१३ में कृषि-कर्म की महत्ता का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

२. तै० उप० ३.२

३. काठकसंहिता ३७.१

४. शांखायन श्रौत सूत्र—'सहपुरुषां च दीयते'। कात्यायन श्रौत सूत्र २२.१० में उल्लिखित 'भूमिशूद्र वर्जनम्' भी आंशिक रूप से इस प्रथा के प्रचलन का संकेतक है।

५. इण्डियन विलेज कम्यूनिटीज, पृ० १८०

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

चुका है, हिन्द-ईरानी युग से ही आर्यों में कृषि-कर्म की स्वस्थ परम्परा थी। ऋग्वैदिक युग में भी कृषि कर्म विकासोन्मुख था तथा कृषक-जीवन समादृत। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि वैदिक आर्यों के प्रवेश के पूर्व उत्तरी भारत में जो जातियाँ रहती थीं उनमें भी कृषि-कर्म का सन्तोषजनक विकास हुआ था। उन्होंने भी अपने अनुभव और ज्ञान के द्वारा उत्तर-वैदिक युगीन कृषक जीवन को समृद्ध किया। सिन्धु-प्रदेश के उत्खनन में गेहूँ के जो नमूने उपलब्ध हुए हैं वे जंगली नहीं हो सकते। यहाँ की विशाल जनसंख्या के पोषण के लिए पर्याप्त अन्न की आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति समुन्नत कृषि कर्म के बिना सम्भव नहीं थी। यहाँ की उर्वर भूमि तथा वर्षा की प्रचुरता निश्चय ही उत्पादन की वृद्धि में सहायक हुई होगी। कृषि-कर्म के निमित्त यहाँ के निवासी हल का प्रयोग करते थे या नहीं, यह प्रायः अनिश्चित है क्योंकि उत्खनन से यहाँ इस प्रकार के किसी उपकरण का अवशेष नहीं प्राप्त हुआ है। सम्भव है काष्ठ-निर्मित होने के कारण काल-प्रवाह में वे नष्ट हो गये हों। तत्कालीन सुमेर में कृषि-कर्म हल और बैल की सहायता से ही होता था। हम जानते है कि सुमेरियन एवं सैन्धव संस्कृति के निर्माताओं के भौतिक जीवन में बड़ी समानता थी। ऐसी स्थिति में सैन्धव जन कृषि-कार्य के लिये हल और बैल का प्रयोग करतें होंगे, यही अनुमान अधिक सम्भाव्य प्रतीत होता है। जैसा कि पीछे बताया जा चुका है, गंगा-घाटी के निषाद भौतिक दृष्टि से अविकसित एवं हल के उपयोग से अपरिचित होते हुए भी आर्यों के आगमन के पूर्व ही छड़ी या कुदाल से भूमि को खोद कर 'झूम' प्रणाली से खेती करने लगे थे।

अवेस्ता में खेती के लिए हल-बैल के प्रयोग का उल्लेख है तथा ऋक् संहितामें भी इस बात की सूचित करने वाले प्रसंग पर्याप्त है। ऋग्वेद के एक मंत्र में मेधावी लोगों द्वारा हल चलाने का उल्लेख है।[१] एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि अश्विन देवताओं ने मनु को खेती करना तथा हल चलाना सिखाया।[२] इस ग्रन्थ में बैलों द्वारा खींचे जाने वाले हल का भी उल्लेख हुआ है।[३] सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में हल का साधारण नाम

---

१. ऋ० १०१. ४
२. ऋ० १२७. २१
३. ऋ० ६. २०. १६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

लांगल अथवा सीर मिलता है। इसके अगले नुकीले भाग को फाल कहते थे जो प्रायः नुकीला और तीक्ष्ण धार वाला होता था। हल की मूठ सम्भवतः लकड़ी की होती थी। अथर्ववेद के एक मंत्र से इसके चिकने होने का आभास मिलता है।[१] हल में एक लम्बा मोटा बांस बँधा होता था जिसे 'ईषा' कहते थे। 'ईषा' के ऊपर जुआ (युग) रखा जाता था। हल खींचने वाले बैलों की संख्या छः, आठ, बारह और चौबीस तक होती थी[२], जिससे हलों के प्रायः वृहदाकार और भारी होने का अनुमान होता है।

कृषि की सफलता के लिए उत्तर-वैदिक समाज में इन्द्र, पूषन, शुनः सीर सीता आदि अनेक देवी देवताओं की स्तुति की जाती थी। बैलों को हल में जोतने, बीजवपन करने तथा नवान्न को प्रथम बार ग्रहण करने के लिये अनुष्ठानों की व्यवस्था थी। किसान फसल के पक जाने पर उसका संग्रह करते समय देवताओं के प्रति श्रद्धा स्वरूप कुछ अंश वहीं छोड़ देता था। कृषि से सम्बन्धित इन धार्मिक अनुष्ठानों के पीछे दो भावनायें थीं। प्रथमतः कृषक प्रकृति के प्रकोप से फसल की रक्षा के लिये देवताओं को प्रसन्न करने का प्रयास करता था। दूसरे धान्य संचय के समय कृतज्ञता प्रकाशन के लिये वह देवताओं को बलि देता था। वस्तुतः आज की ही भाँति उस युग में भी भारतीय कृषि कर्म प्राकृतिक संकटों से ग्रस्त रहता था। अनावृष्टि से खेतों की क्षति होती थी अतः अनेकशः वृष्टि के लिये प्रार्थना की गई है।[३] इसके अतिरिक्त अतिवृष्टि एवं विद्युत्पात से भी खेतों को हानि पहुँचती थी। इन दैवी प्रकोपों से मुक्ति के लिये अथर्ववेद में तंत्र-मंत्र का उल्लेख हुआ है।[४] उत्तर वैदिक युग में गंगा की घाटी में बसे कृषकों के लिये बाढ़ भी एक भीषण समस्या रही होगी। पुराणों से ज्ञात होता है कि निचक्षु के समय में गंगा की भीषण बाढ़ से हस्तिनापुर नष्ट-भ्रष्ट हो गयाथा। इस बाढ़ के चिह्न हस्तिनापुर के उत्खनन से भी प्राप्त हुये हैं।[५] अथर्ववेद में उपक्वस, जम्य, तथा पतंग आदि कृषिनाशक कीड़ों के नाम दिये गए

---

१ अथर्ववेद ३. १७. ३
२ काठक संहिता १५. २
३ अथर्ववेद ७. १८. ३९
४ अथर्ववेद ७.१८
५. ऐन्श्येन्ट इण्डिया, नं० १०-११, पृ० १४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

हैं जिनसे खेती की रक्षा के लिये अनेक यंत्र तथा उपाय बताये गये हैं। छान्दोग्य उपनिषद से ज्ञात होता है कि टिड्डियों से फसलकी बड़ी क्षति होती थी। एक बार टिड्डियों के कारण समस्त कुरु जनपद अकाल-ग्रस्त हो गया था।[१]

संहिताओं तथा ब्राह्मणों में कृषक-जीवन से सम्बन्धित अनेक कार्यों का उल्लेख मिलता है। शतपथ में कर्षण (जीतना) वपन (बोना) लवन (काटना) तथा मर्दन (माड़ना) इन चार ही शब्दों में कृषि की सम्पूर्ण प्रक्रिया का वर्णन कर दिया गया है।[२] मर्दन के पश्चात् चलनी (तितउ) अथवा शूर्प की सहायता से अन्न को भूसे से पृथक् किया जाता था।[३] इस कृषि के कर्त्ता को धान्यकृत कहते थे।[४] अनाज को नापकर उसे सुरक्षित रूप से रखने की व्यवस्था की जाती थी। नापने वाले वर्तन को ऊर्दर कहा जाता था और जिस घर में अनाज रखा जाता था उसे स्थिवि कहते थे।[५]

कृषि की सफलता के लिये सिंचाई के विविध साधन विकसित किये जा चुके थे। अथर्ववेद में वर्षा और कूप के पानी के अतिरिक्त नहरों के पानी का भी उल्लेख हुआ है।[६] खेतों में पानी पहुँचाने वाली नालियों (कुल्या) का भी उल्लेख हुआ है।[७] कूप से पानी निकालने के लिये यदा-कदा सम्भवतः रहट (चक्र) का भी प्रयोग होता था। वैदिक आर्यों के निवास-भूमि पंजाब और गंगा की घाटी के क्षेत्र (कृषि योग्य भूमि) प्रायः उपजाऊ होते थे। नदियों की बाढ़ से नई मिट्टी आती रहती थी जिससे भूमि की उर्वरा-शक्ति बनी रहती थी। खेतों को प्रायः उनकी उर्वरता के कारण ही उर्वर भी कहा जाता था। फिर भी पैदावार की वृद्धि के लिए खाद का प्रयोग किया जाता था। शतपथ में गोबर (करीष) की खाद का उल्लेख है।[८] और अथर्ववेद में पशुओं की प्राकृतिक खाद को मूल्यवान माना गया है।[९]

---

१. छान्दोग्य उप० १०.१-३, मटची हतेषु कुरुषु
२. शत० ब्रा० १.६.२.३
३. ऋ० १०.७१.२
४. द्रष्टव्य वैदिक इण्डेक्स १.१८२
५. ऋ० १०.६८.३
६. अथर्ववेद ३.१३
७. ऋ० १०.४३.७, ३.४५.३
८. शत० ब्रा० २.१.१.७
९. अथर्ववेद १९.३१.३

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

उत्तर-वैदिक युग तक कृषकों ने विभिन्न प्रकार के अन्न पैदा करना सीख लिया था। ऋक्संहिता में यव और धान्य का उल्लेख है। यव (जौ) सम्भवतः एक विशेष प्रकार का अन्न था,[१] किन्तु धान्य अनाजों का साधारण नाम प्रतीत होता है। यद्यपि सैन्धव-स्थलों के उत्खनन से उनके निवासियों में धान की खेती के प्रचलन का संकेत मिलता है[२] तथापि ऋग्वैदिक आर्य धान की खेती से अपरिचित थे। उत्तर-वैदिक युग में धान की खेती काफी लोकप्रिय हो चुकी थी। व्रीहि शब्द जो ऋग्वेद में अनुपलब्ध है पिछली संहिताओं में खूब मिलता है। हस्तिनापुर के उत्खनन से भी चावल के दाने और धान की भूसी प्रकाश में आये हैं जिससे धान के विशेष उत्पादन की बात पुष्ट होती है। तैत्तिरीय संहिता में धान के तीन प्रमुख प्रकार बतलाए गये हैं जिन्हें कृष्ण (काला), आशु (शीघ्र पैदा होने वाला) तथा महाव्रीहि (बड़े दानों वाला) कहा गया है।[३] इन भेदों में आशु सम्भवतः साठी नामक धान को लक्षित करता है जो साठ दिन में तैयार हो जाता है।

विविध धान्य

चावल की खेती का प्रचार गंगा की घाटी में आर्यों के प्रवेश के पूर्व ही हो चुका था। श्री सुनीति कुमार चटर्जी ने यह सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है कि प्रोटो आस्ट्रलायड जाति के लोगों को चावल की खेती का ज्ञान बहुत पहले हो चुका था। चावल शब्द ही आर्य-भाषा का न होकर मुण्डा भाषा का है। हम बतला चुके हैं कि आर्यों के आने के पूर्व प्रोटो आस्ट्रलायड जाति के लोग ही गंगा के मैदान में रहते थे। ऐसी स्थिति में यह सम्भावना अधिक युक्ति-संगत-प्रतीत होती है कि आर्यों ने चावल की खेती करना निषादों से सीखा।

उत्तर-वैदिक साहित्य में यव और व्रीहि के अतिरिक्त अन्य प्रकार के अनाजों का भी उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में व्रीहि के अतिरिक्त तंदुल

---

१. जौ के लिये अवेस्ता में 'येव' और ग्रीक भाषा में 'जेअ' शब्द पाये जाते हैं जो ऋग्वेदिक 'यव' से समानता रखते हैं। इससे यह सम्भावना होती है कि ऋग्वेद में भी यव शब्द क. प्रयोग जौ के ही अर्थ में हुआ है न कि सभी प्रकार के अन्नों के अर्थ में।

२. चाइल्ड—न्यू लाइट आन दि मोस्ट ऐन्श्येन्ट ईस्ट, पृ० २०९

३. तै० सं० १.८.१०.१

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

(१०.९.२६) का वर्णन हुआ है जो धान का एक दूसरा किस्म प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त इस वेद में भाष (उड़द) श्यामाक (सांवा), शारिशाका (सरसों), गन्ना, तिल, शण आदि का भी उल्लेख हुआ है।[१] वाजसनेयी संहिता में गोधूम, यव, व्रीहि, माष, मुदग्, मसूर, तिल श्यामाक, प्रियंगु नीवार आदि की उपज का वर्णन है।[२] बदर, कुवल, करकन्धु, न्यग्रोध अश्वत्थ, विल्व, आमलक आदि उपयोगी वृक्षों के नाम भी संहिताओं में मिलते हैं। यह कहना कठिन है कि ये वृक्ष लगाये भी जाते थे या केवल जंगली होते थे। न्यग्रोध और अश्वत्थ जैसे वृक्ष तो निश्चय ही जंगली रहे होंगे। पर्याप्त भूमि अभी कृषि के उपयोग में नहीं लाई जा सकी थी। ऐसे जंगली और बिना जुते प्रदेशों में भी अन्न और फल उत्पन्न होते थे। ब्रह्मचारियों को यह सन्देश दिया गया है कि उन्हें बिना जुते भूमि से एकत्रित अन्न से जीवन बसर करना चाहिये। अनाज बोने की भिन्न-भिन्न ऋतुओं का विशिष्ट वर्णन तैत्तिरीय सहिता में हुआ है। फसलें साल में दो बार बोई जाती थीं।[३] शीतकाल में बोई गई फसल चैत के महीने में पक जाती थी। बीज बोने का समय जलवायु में विशेष परिवर्तन न होने के कारण बहुत कुछ आधुनिक युग के समान ही था।

पशु पालन

कृषि के अतिरिक्त पशुपालन आर्यों का प्रमुख व्यवसाय था। कृषि कार्य में विकास के साथ-साथ पशुओं एवं विशेषतः गाय-बैलों की महत्ता में वृद्धि हो रही थी। बैलों से खेती का काम लिया जाता था। वे विशेषतः हल जोतने और गाड़ी खीचने के काम में लाये जाते थे। जवान तथा शक्तिशाली बैल को वृषभ कहते थे। गाड़ी (अनस) खींचने वाले बैल की अनड्वान संज्ञा थी। बैलों को पालतू और अधिक उपयोगी बनाने के लिये उन्हें बधिया करने की भी प्रथा थी। ऐसे बैल को महानिरुष्ट (Castrated Bull) कहा गया है।[४] खास तौर से कृषि सम्बन्धी उपयोगिता के हीं कारण गोमाँस भक्षण का भी निषेध होने लगा था। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट घोषणा की गई है कि गाय और बैल पृथ्वी को धारण करते हैं अतः उनका मांस नहीं

---

१. अथर्व० १२.२.५४, १८.३.६ ९ १७.४, ३.१४.५, ४.३८,
२. वाज० सं० १८.१२, १९.२२, २१.२९.७,१०.२४, १२.४
३. तै० सं० ५.१.७.३
४. तै० सं० १.८.९.१, काठक सं० १५.४.९, मै० सं० २.६.५

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

खाना चाहिये।[१] फिर भी गोमांसाहार का पूर्ण त्याग अभी नहीं हो सका था। विभिन्न पशुओं का मांस लोगों के भोजन का प्रमुख अङ्ग था। हस्तिनापुर के उत्खनन से घोड़े, सूअर, भैंसा, गाय आदि पशुओं की हड्डियां प्राप्त हुई हैं।[२] उत्तर-वैदिक साहित्य में स्थान-स्थान पर अतिथि-सत्कार के लिये महोक्ष (बड़ा बैल) अथवा महाज (बड़ा बकरा) के वध की व्यवस्था मिलती है।[३] सैकड़ों बैलों के वध का श्रेय अगस्त्य नाम के एक यजमान को दिया गया है।[४] विवाह के पुनीत अवसर पर भी मेहमानों के स्वागत के लिए गोवध होता था।[५] शतपथ ब्राह्मण (३.१.२.२१) से ज्ञात होता है कि ऋषि याज्ञवल्क्य गोमांस खाने के शौकिन थे।[६] इस प्रकार स्पष्ट है कि भोजन सामग्री के रूप में भी पशुओं का महत्व पूर्ववत बना हुआ था।

गाय का दूध तथा उससे बनाये गये विविध पदार्थ तो भोजन के विशिष्ट अंग थे ही। दूध सोमरस में मिलाने तथा क्षीरोदन बनाने के लिये भी अति उपयोगी था। इससे उत्पन्न दही और घी भोजन के काम में आता था तथा साथ ही इनका यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानों में भी उपयोग होता था।

वैदिक युग में सिक्कों के कम प्रचलित होने के कारण पशु ही अधिकांशतः विनिमय के साधन थे।[७] अतः उनका आर्थिक महत्व और भी बढ़ गया था। पशुओं की संख्या से ही किसी व्यक्ति के वैभव का अनुमान लगाया जा सकता था। साधारण मनुष्य ही नहीं राज लोग भी पशुधन की कामना करते थे। अथर्ववेद के एक प्रसंग में राजा के लिए गाय, बैल और घोड़ों की प्राप्ति

---

१. शत० ब्रा० ३.१.२.३
२. ऐन्श्येन्ट इण्डिया नं० १०-११, पृ० ८५
३. शत० ब्रा० ३.४.१.२, शांखायन० गृ० सू० २.१५.२
४. तै० ब्रा० २. ७. ११. १, पंच० ब्रा० २१. १४. ५
५. ऋ० १०. ८५. १३
६. सूत्रकाल तक हम गोमांस भक्षण की व्यवस्था पाते हैं। आपस्तम्ब ने श्राद्ध में गोमांस को पितरों की सन्तुष्टि के लिये सर्वोत्तम माना है।— आप० ध० सू०, २. ७. १६. २६)
७. ऋ० ४. २४–१० में दस गायों को देकर इन्द्र की एक प्रतिमा लेने की बात कही गई है। इसी प्रकार ब्राह्मण साहित्य में गाय के बछिया के बदले सोम खरीदने का उल्लेख है।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

के निमित्त प्रार्थना की गई है।[१] इन्हीं पशुओं को दक्षिणा में देकर राजा लोग पुरोहितों को अनुग्रहीत करते थे तथा विद्वानों का संरक्षण।[२] गाय दक्षिणा के लिये सर्वोत्कृष्ट वस्तु थी यही कारण है कि दक्षिणा शब्द अनेक स्थानों पर 'गो' के पर्यायवाची के रूप में मिलता है। अनेक ऋषियों ने दानस्तुतियों में इन दक्षिणा देने वालों के प्रति आभार प्रदर्शित किया है।[३]

पूषन को पशुओं का रक्षक देवता माना गया है। ऋग्वेद (१०. १७. २) में उसे अनष्टापशुः (गोरक्षक) कहा गया है।[४] वस्तुतः ग्वालों के सजग रहनेपर भी गाएँ कभी-कभी विपत्तियों में पड़ जाती थीं। वे कुवें अथवा गड्ढे में गिर जाती थीं। ऐसी स्थिति में अंग भंग का भय बना रहता था।[५] इसके अतिरिक्त गायों के चोरी चले जाने अथवा जंगली पशुओं का शिकार बन जाने का भी भय लगा रहता था। पशुओं के समूह इतने विशाल होते थे कि उनकी पहचान के लिये उनके कानों पर नाना प्रकार के चिन्ह लगाये जाते थे।[६] गायों के कानों को छेदने की प्रथा काफी बाद तक पशुपालक समाज में प्रचलित रही क्योंकि पाणिनि के सूत्रों में भी ऐसे चिन्हों का वर्णन मिलता है।[७]

गायों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के द्योतक भिन्न-भिन्न शब्द वैदिक साहित्य में मिलते हैं जिससे इस पशु की लोकप्रियता सिद्ध होती है। प्रसव योग्य गाय को गृष्टि, दूध देने वाली गाय को धेनु, वंध्या गाय को स्तरी धेनस्तरी अथवा वशा और बच्चा देने के पश्चात् वंध्या हुई गाय को सूतवसा कहा गया है। इसी प्रकार विभिन्न आयु के बछड़ों के लिये भी पृथक् पृथक् नाम मिलते हैं। गायें दिन में प्रायः तीन बार दुही जाती थीं।[८]

---

१. अथर्ववेद ४. २२. २
२. राजा जनक द्वारा याज्ञवल्क्य की गोप्राप्ति की कथा प्रसिद्ध है। बृहदारण्यक उप० ३. ६. १, ८. १।
३. कठोपनिषद १. १. २
४. तै० ब्रा० ३. १. २. १२ में पूषन को पशुप कहा गया है।
५. ऋ० १. २०. ८
६. मै० सं० ४. २. ९, कर्करिकर्ण्यः, दात्रकर्ण्यः, छिद्रकर्ण्यः, आदि
७. अष्टाध्यायी ६. ३. ११५
८. तै० सं० ७. ५. ३. १ प्रातर्दोह, संगव और सायंदोह।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

वैदिक आर्यों के लिये गाय का अपने बच्चों के लिए रम्भाना इतना परिचित और सुखद था कि वे देवताओं को बुलाने के लिये अपने शोभन गानों की तुलना इससे करने में तनिक भी नहीं सकुचाते थे।[१]

गाय-बैल के अतिरिक्त अनेक पशुओं का उल्लेख हुआ है जिनमें घोड़ा, भैंस, भेंड़ और बकरी महत्वपूर्ण हैं। अथर्ववेद में हाथी का भी उल्लेख हुआ है। ऋग्वेदिक आर्यों का परिचय इस पशु से नहीं था। सम्भवतः हाथी पालने की कला आर्यों ने गंगा की घाटी में रहने वाले निषादों से सीखा। मिरजापुर की पहाड़ियों से प्राप्त प्रागैतिहासिक चित्रों में हम हाथी फँसाते हुए मनुष्यों का चित्र पाते हैं। इससे इस सम्भावना की पुष्टि होती है। ऐतरेय ब्राह्मण (४. ९) से ज्ञात होता है कि यदा-कदा गदहों का उपयोग भी गाड़ी खींचने के लिये होता था। अथर्ववेद में ऊँटगाड़ी का भी उल्लेख हुआ है।[२] घोड़ा तो अपनी शक्ति और गति के लिये प्रसिद्ध ही था। वह आर्य संस्कृति के प्रसार का अग्रदूत था। घोड़े का उपयोग यदा-कदा गाड़ी (अनस) के लिये भी होता था[३] किन्तु अधिकांशतः वे रथ में ही जोते जाते थे।[४] घुड़सवारी भी अज्ञात नहीं थी।[५]

सिन्धु नद के तटवर्ती प्रदेशों में घोड़े विशेष रूप से पाये जाते थे।[६] इसीलिये बाद में 'सैन्धव' शब्द घोड़े का पर्यायवाची बन गया। ऋग्वेद में कई स्थानों पर सिन्धु और सरस्वती को 'वाजिनीवती' कहा गया है।[७] इससे प्रतीत होता है कि इन प्रदेशों में घोड़ों की बहुलता थी।

विविध शिल्प एवं व्यवसाय

यद्यपि कृषि एवं पशुपालन वैदिक आर्यों के प्रधान उद्यम थे तथापि विभिन्न उद्योग और व्यवसाय भी समुचित रूप से विकसित हो गये थे। इनव्यवसायों का संगठन आर्थिक एवं सामाजिक दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण था। एक ओर तो ये व्यवसायी विभिन्न उपकरणों के निर्माण द्वारा भौतिक जीवन को समृद्ध बना रहे थे, दूसरी ओर आर्थिक विभाजन

१. ऋ० ९. १२. २
२. अथर्ववेद २०. १३७. २
३. वैदिक इन्डेक्स १. ४२
४. वैदिक इन्डेक्स १. ४२
५. ऋ० ५, ६१. १.-३, वाज० सं० ३०. १३, तै० ब्रा० ३. ४. ७. १
६. वृहदारण्यक उपनिषद ६. २. १३, शांखायन आरण्यक ९. ७
७. ऋ० १०. ७५. ८, १. ३. १०, २. ४१. १८, ६. ६१. ३-४ आदि।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

और व्यवसायिक विभिन्नता के आधार पर वे पृथक् पृथक् सामाजिक वर्गों का स्वरूप धारण करने लगे थे परिणामतः उत्तर वैदिक युग में वैश्य वर्ण के अन्तर्गत आन्तरिक विभाजन और विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। आर्येतर शिल्पियों के वैदिक समाज में प्रवेश के कारण अनेक शिल्पी, जिनका स्थान समाज में पहले आदरणीय था शूद्र वर्ण के अन्तर्गत परिगणित हुए। क्रमशः व्यवसायों और शिल्पों के आधार पर अनेक जातियों का उदय हुआ। पूर्व वैदिक युग में ही अनेक व्यवसाय और उद्योग अस्तित्व में आ चुके थे।[१] किन्तु उन्हें धारण करने वाले लोग समान रूप से विश के अन्तर्गत थे। उनका कोई पृथक् आर्थिक संगठन नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर वैदिक युग में जब ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने अपने को प्रवेश-निषिद्ध वर्गों के रूप में संगठित किया तब वैश्यों पर भी इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया हुई। वैश्य वर्ग के अन्तर्गत विभिन्न व्यवसायों के लोग थे अतः उनका सामूहिक संगठन सम्भव नहीं था। ऐसी स्थिति में विभिन्न व्यवसायों और शिल्पों को धारण करने वाले लोग पृथक्-पृथक् आर्थिक इकाई के रूप में संगठित होने लगे। ऐतरेय ब्राह्मण में श्रेष्ठी शब्द का उल्लेख है[२] जो किसी व्यावसायिक संघ का प्रधान प्रतीत होता है। वाजसनेयी संहिता में उल्लिखित गण और गणपति शब्द भी व्यावसायिक संघों के संघटन का संकेत करते हैं।[३] यद्यपि उत्तर वैदिक साहित्य से इन गणों की कार्यप्रणाली के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान नहीं प्राप्त होता तथापि परवर्ती साहित्य से उपलब्ध साक्ष्यों के प्रकाश में ऐसा प्रतीत होता है कि समान व्यवसायों के अनुसरणकर्त्ता प्रायः एक संघ के अन्तर्गत संगठित होते थे। ये संघ व्यापारिक कार्यों की देख-रेख तथा व्यवसायियों के हितों की संरक्षा करते थे।

परवर्ती संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रंथों में अनेक शिल्पियों का उल्लेख हुआ है। पाणिनि के सूत्रों में भी ग्रामों से सम्बन्धित शिल्पजीवियों का उल्लेख मिलता है।[४] नागरिक जीवन के पूर्ण विकसित न होने के कारण

---

१. ऋ० १०. १४२. ४, १. ६१. ४, ७. ३२. २०, ९. ११२. १, १०. ११९. ५, १०. ७२. २
२. ऐत० ब्रा० ३. ३०. ३
३. वाज० सं० २३. १९. १
४. अष्टाध्यायी ६. २. ६२

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

विभिन्न उद्योगों के अनुसरणकर्त्ता प्रायः गाँवों में रहते थे तथा गांव को आत्मनिर्भर आर्थिक इकाई बनाने में योग देते थे। उत्तर-वैदिक साहित्य में रथकार, कर्मार, तक्ष, क्षातृ,कुलाल, ईषुकृत, धवकृत, मृगयु, रज्जु-सर्ग, ज्याकार, वप, मणिकार, सुराकार, विदलकार, कंटककार आदि विभिन्न व्यवसायियों का उल्लेख अनेकशः हुआ है।[१] उद्योगों एवं व्यवसायों की इस विविधता से समुन्नत आर्थिक जीवन का संकेत मिलता है।

उपर्युक्त व्यवसायों तथा उद्योगों में कुछ तो निश्चय ही बड़े महत्वपूर्ण थे। उदाहरण के लिये बढ़ई रथकार लोहार ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के आधार स्तम्भ थे। बढ़ई लकड़ी की सहायता से कृषि कर्म के लिए विभिन्न उपयोगी वस्तुओं का निर्माण करता था। साथ ही वह घरेलू उपयोग की वस्तुओं को बनाता था। कुलिश अथवा परशु उसका प्रमुख औजार था।[२] व्यवसाय की महत्ता के कारण उनकी सामाजिक स्थिति भी समादृत थी। रथकार का उल्लेख ऋक्संहिता में तो नहीं हुआ है किन्तु उत्तरवैदिक युग तक अत्यन्त प्रभावशाली हो चुका था। पूर्व-वैदिक युग में सम्भवतः रथ बनाने का कार्य तक्षन ही करता था किन्तु परवर्ती युग में उसके कार्य-क्षेत्र का विस्तार होने लगा। परिणामतः रथ-निर्माताओं का एक नया व्यावसायिक वर्ग अस्तित्व में आया।[३] यह नवोदित आर्थिक वर्ग तक्षन समाज से ही निकला होगा। रथकार का व्यवसाय इतना महत्वपूर्ण था कि वह राजकीय सम्मान का विषय समझा जाता था।[४] रथकार के लिए अग्निहोत्र की व्यवस्था भी थी।[५] युद्ध एवं प्रसार की स्थिति में रथकार के व्यवसाय का

१. अथर्ववेद ३. ५. ६-७, तै० सं० ४, ५. ४. २, वान० सं० १६. २६-२८ का० सं० १७. १३, तै० ब्रा० ३. ४. १

२. ऋ० ३. २. १, का० सं० १२. १०

३ स्टुअर्ट पिगट महोदय ने रथ के विभिन्न अंगों के लिए प्रयुक्त वैदिक शब्दावली के आधार पर वैदिक रथ के आकार प्रकार का काल्पनिक चित्र प्रस्तुत किया है, किन्तु पुरातात्विक प्रमाणों तथा विस्तृत साहित्यिक संकेतों के अभाव में पिगट द्वारा कल्पित वैदिक रथ का स्वरूप असन्दिग्ध नहीं माना जा सकता है। वैदिक रथ के निर्माण पद्धति के विषय में द्रष्टव्य—प्रि-हिस्टोरिक इण्डिया, पृ० २८०

४. मै० सं० २. ६. ५, ४. ३. ८

५. तै० ब्रा० १. १. ४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

आदरणीय होना सर्वथा स्वाभाविक था। कर्मार (स्मिथ) के लिये भी उत्तर-वैदिक साहित्य में सम्मान सूचक मन्त्र उपलब्ध होते हैं। अथर्ववेद में उन्हें मनीषी शिल्पकारों में स्थान दिया गया है।[१] वह नित्य उपयोग के लिये धातु के वर्तन तथा सोमरस पीने के लिए धातु के प्याले बनाता था। स्वर्णाभूषणों के बनाने वाले को हिरण्यकार कहा गया है।[२] ये लोग स्वर्ण से निष्क, कर्णशोभन आदि विविध आभूषण बनाते थे। सम्भवतः समृद्ध लोगों के लिये स्वर्ण चषक भी बनाये जाते थे।[३]

वस्त्रों की सार्वजनिक उपयोगिता के कारण बुनकर का व्यवसाय भी विशेष महत्वपूर्ण था। इस व्यवसाय से वैदिक समाज पूर्णतः सुपरिचित था। बुनकर को वाय कहा गया है। ऋक्संहिता में प्रयुक्त वायोवाय शब्दों से जान पड़ता है कि उस समय धोती बुननेवालों तथा अन्य वस्त्र जैसे चादर, दुपट्टा, कम्बल आदि बुननेवालों में भेद माना जाता था। इस व्यवसाय से सम्बद्ध तन्तु (ताना) ओतु (बाना) वेमन (करघा) आदि पारिभाषिक शब्दों से वस्त्र निर्माण की विधि पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि हस्तिनापुर के उत्खनन से चित्रित भूरे-मृत्पात्रवाले स्तर से सुई जैसा नुकीली उपकरण भी प्राप्त हुआ है जिसका उपयोग सम्भवतः कपड़ा सीने के लिये होता था।[४] यह बात विस्मयजनक है कि उत्तर-वैदिक साहित्य में कपास का उल्लेख नहीं मिलता है किन्तु ऊर्णा शब्द का प्रयोग अनेकशः हुआ है।[५] इससे प्रतीत होता है कि ऊनी कपड़ों का विशेष उपयोग होता था। सिन्ध और पंजाब विशेष रूप से ऊनी वस्त्रों के केन्द्र थे। ऋग्वेद (१०.७५.८) में सिन्धु नदी को सुवासा और ऊर्णावती कहा गया है। इस प्रकार ऋग्वेद(१.१२६.७) में गंधार के भेड़ों से उत्पन्न उत्तम ऊन का उल्लेख है। ऋग्वेद में भेड़ों को ऊर्णावती विशेषण दिया गया है।[६] वास्तव में ऊन के कारण ही उनकी महती उपयोगिता थी। अथर्ववेद में शण का उल्लेख हुआ

---

१. अथर्ववेद ३. ५-६
२. वाज० सं० ३०. १७, तै० ब्रा० ३. ४. १४. १
३. तै०सं० ५. ७. १. ३, तै० ब्रा० १. ३. ३. ७, शत० ब्रा० ५.१. २.१९।
४. ऐन्श्येन्ट इण्डिया, नं० १०–११, पृ० १४।
५. शत० ब्रा० १२.५.१.१३, वाज० सं० १३.५०, पंचविंश ब्रा० १२.११.१०
६. ऋ०८.५६.३।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

है।[१] इससे वस्त्र, आच्छादन, बोरे और चटाइयाँ आदि बनती थीं। धनवान लोग प्रायः रेशमी वस्त्रों का उपयोग करते थे। अनेक स्थानों पर क्षौम और तार्प्य का उल्लेख हुआ है।[२] ये वस्त्र बड़े ही मूल्यवान माने जाते थे। जिन कपड़ों पर कढ़ाई का काम होता था उन्हें पेशश् कहते थे। पेशश् का उपयोग अधिकांशतः स्त्रियाँ शृंगार के लिए करती थीं। उत्सवों में सम्मिलित होनेवाली बधुएँ पति-प्राप्ति की कामना से सुन्दर पेशश् धारण करती थीं।

✓ सूत कातने, कपड़ा बुनने तथा ऊन पर कढ़ाई आदि करने का काम विशेषतः स्त्रियों का प्रतीत होता है। शतपथ ब्राह्मण में ऊन से सूत बनाने का कार्य स्त्रियों का विशेष कर्म माना गया है।[३] पंचविंश ब्राह्मण (१.८.९) में वयित्री शब्द मिलता है जिसका आशय वस्त्र बननेवाली स्त्री से है। वाजसनेयी संहिता (३०.९) में प्रयुक्त पेशश्कारी शब्द इस बात को प्रमाणित करता है कि वस्त्रों को कढ़ाई आदि के द्वारा अलंकृत करने का कार्य भी प्रायः स्त्रियाँ ही करती थीं।

लोकोपयोगी व्यवसायों में कुलाल का व्यवसाय बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था। उत्तर-वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर कुलाल का उल्लेख हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में कुलाल-चक्र के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि मिट्टी के घड़े, प्याले, तश्तरियाँ आदि चाक के ऊपर ही बनते थे।[४] हस्तिनापुर, अहिच्छत्रा रूपड़ प्रभृति स्थानों से भी मृत्पात्रों के जो टुकड़े मिले हैं वे अधिकांशतः चाक पर बने हुये हैं यद्यपि हस्तनिर्मित मृत्पात्र भी अज्ञात नहीं हैं।[५]

इन व्यवसायों के अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे व्यवसाय भी थे जो आर्थिक एवं सामाजिक दोनों दृष्टियों से हीन कहे जा सकते हैं। निश्चय ही इन व्यवसायों का अनुसरण निर्धन और साधन-विहीन लोग करते रहे होंगे। ऐसे व्यवसायियों में कण्टकीकारी, विदलकारी, कैवर्त, गोविकर्तन, दाश, धैवर, पाशिन, पुंजिष्ठ, आदि प्रमुख थे। इन व्यवसायों से स्पष्ट होता है कि समाज में कुछ लोगों की आर्थिक स्थिति बहुत खराब थी। आर्थिक रूप से हीन तथा घृणित वृत्ति के प्रचलन का कारण असभ्य एवं अर्धबर्बर

---

१. अथर्ववेद २.४५।
२. मै० त० ३.६.७, अथर्ववेद १८.४.३१, शत० ब्रा० ५.३.५.२०।
३. एतद्वा एतत्स्त्रीणां कर्म यदूर्णासूत्रम्।
४. शत० ब्रा० ९. ८. १
५. एन्श्येन्ट इण्डिया, नं० १०–११, पृ० ११–१३।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

अनार्य जातियों का वैदिक समाज में प्रवेश भी था। द्विजातियों से इन्हें पृथक् करने का जो प्रयास उत्तर-वैदिक युग से ही दिखाई देता है उसके पीछे एक प्रबल कारण इनका हीन सांस्कृतिक स्तर भी था।

धातु-विज्ञान और लौह युग में प्रवेश

उत्तर-वैदिक युग तक अनेक धातुओं का आविष्कार हो चुका था। उपयोगी धातुओं में अयस का उल्लेख बार-बार हुआ है किन्तु इसका अर्थ बड़ा ही संदिग्ध है। 'वैदिक-इण्डेक्स' के लेखक अयस का अर्थ लोहा मानते हैं किन्तु पुरातात्विक साक्ष्य से ऋग्वेदिक आर्यों का लोहे से परिचय अभी तक असिद्ध है। हस्तिनापुर के उत्खनन से भी ताम्रनिर्मित तीर-फलक ही प्राप्त हुये हैं। अतः ऋग्वेद में उल्लिखित अयस निर्मित तीर फलकों को ताम्र-निर्मित मानना ही अधिक उपयुक्त होगा। ऋग्वेद में अयस के लिए प्रयुक्त विशेषणों से इस बात का संकेत मिलता है कि यह ताम्र था, जैसा कि अग्नि के विशेषण 'अयो-द्रंष्ट्र' से स्पष्ट है।[१] वस्तुतः ऋग्वेद में अयस शब्द का प्रयोग सामान्यतः सभी धातुओं के लिए हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि इस संहिता में विभिन्न धातुओं के लिए पृथक् नाम नहीं मिलते। यह ताम्र के साथ-साथ सम्भवतः कांस्य के लिए भी प्रयुक्त होता था।[२] उत्तर-वैदिक काल में सर्वप्रथम प्रत्येक धातु को पृथक् नाम प्रदान किया गया। ताम्र को अन्य धातुओं से पृथक् करने के लिए 'लोहायस' कहा गया। अथर्ववेद तथा अन्य संहिताओं में बहुधा दो प्रकार के अयस का उल्लेख हुआ है—श्याम और लोहित।[३] शतपथ ब्राह्मण में अयस और लौहायस को अलग-अलग धातु बताया गया है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है लौहायस शब्द का प्रयोग ताम्र के अर्थ में हुआ है किन्तु श्याम, जिसका प्रथम बार उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है, निश्चित रूप से लोहा (आइरन) प्रतीत होता है। उत्तरवैदिक युग तक लोहे से आर्यों का पूर्ण परिचय हो चुका था जिसके कारण औद्योगिक क्षेत्र में प्रगति का मार्ग

---

१. ऋग्वेद १.८८.५, १०.८७. २।

२. ऋग्वेद में दास-दस्यु लोगों के 'आयसी पुरों' का उल्लेख हुआ है। यदि ये आयसी पुर सैन्धव सभ्यता के निर्माताओं के हैं जैसा कि अनेक विद्वानों ने माना है तो निश्चय ही इस प्रसंग में अयस को कांस्य का पर्यायवाची मानना चाहिए।

३. अथर्ववेद ९.५.४, मैत्रायणी संहिता ४.२.९

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

प्रशस्त हुआ। पुरातात्विक साक्ष्य से भी यह प्रतीत होता है कि लोहे से वैदिक आर्यों का पूर्ण परिचय उत्तर-वैदिक युग में ही हुआ। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि हस्तिनापुर के उत्खनन में चित्रित-भरे-मृत्पात्र वाले स्तर के ऊपरी हिस्से में ही लोहे के बने शस्त्र उपलब्ध हुये हैं।[१] तांबे और लोहे के अतिरिक्त सोना, चांदी त्रपु (टिन) और शीशा इस युग के अन्य उपयोगी धातु थे।[२] सोने और चांदी का उपयोग विभिन्न प्रकार के आभूषणों के निर्माणार्थ होने लगा था तथा आर्थिक दृष्टि से इन धातुओं को विशेष मूल्यवान समझा जाने लगा था। स्थान-स्थान पर दान और दक्षिणा में निष्क एवं शतमान देने का उल्लेख मिलता है।

निष्क, शतमान, सुवर्ण और पाद प्रभृति धातुखण्डों का उल्लेख परवर्ती संहिताओं, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में अनेकत्र ऐसे प्रसंगों में हुआ है जिनसे यह प्रतीत होता है कि इन धातुखण्डों का प्रयोग मुद्रा के रूप में होने लगा था। यद्यपि ताम्रनिर्मित मुद्राओं का उल्लेख सर्वथा अनुपलब्ध है तथा रजत-निष्कका उल्लेख पंचविंश ब्राह्मण में केवल व्रात्यों के प्रसंग में हुआ है[३] तथापि स्वर्ण-पिंडों का दान दक्षिणा के प्रसंग में बार-बार उल्लेख हुआ है। अधिकांशतः निष्क शब्द का प्रयोग आभूषण के अर्थ में हुआ है[४] किन्तु अनेक प्रसंगों में निष्क का अर्थ निश्चित रूप से मुद्रा प्रतीत होता है।[५] शतमान जो गोलाकार होता था राजसूय के अवसर पर रथ के पहिये में बांधा जाता था तथा तत्पश्चात् पुरोहित को दक्षिणा-स्वरूप दे दिया जाता था। शतमान का उल्लेख अन्यत्र भी दक्षिणा के रूप में हुआ है।[६] इसका उल्लेख सुवर्ण के साथ हुआ है तथा इसे हिरण्य भी कहा गया हैं। सम्भव है शतमान एक निश्चित तौल का (सम्भवतः १०० कृष्णल का) एक धातुखण्ड रहा हो तथा विनिमय के साधन के रूप में निष्क के साथ इसका

---

१. ऐन्श्येन्ट इण्डिया, नं० १०-११, पृ० ८५
२. पुरातात्विक साक्ष्य के लिए द्रष्टव्य— ऐन्श्येन्ट इण्डिया, नं० १०-११, पृ० १३
३. पंच० ब्रा १७.१.१४
४. निष्क ग्रीव, ऋ० ५.१९.३, निष्क कण्ठ, ऐत० ब्रा० ८.२२।
५. ऋ० १.१२६.२, शत० ब्रा० १०.४.१.१, गोपथ० ब्रा०१.३.६।
६. शत० ब्रा० १३.४.२.१०, रजतं हिरण्य दक्षिणा नाना रूपत्या शतमानं भवति शतायुर्वैपुरुषः।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

भी उपयोग होता रहा हो। निष्क और शतमान का दक्षिणा और दान की वस्तु के रूप में उल्लेख निश्चित रूप से इनके आर्थिक दृष्टि से मूल्यवान होने का संकेत करता है। काठक संहिता में हिरण्य कृष्णल का उल्लेख हुआ है[१] जो गुजा के तौल का धातुखंड प्रतीत होता है। वृहदारण्यक उपनिषद में यह कहा गया है कि विदेह राज जनक ने अपनी सभा में एक दार्शनिक-विवाद में भाग लेने वाले विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ विद्वान को एक सहस्त्र गायों को पुरस्कार में देने की व्यवस्था की थी जिनमें प्रत्येक की सींगो में दस पाद बँधे हुये थे। इस प्रसंग में पाद सिक्का प्रतीत होता है। पाद सम्भवतः निष्क, सुवर्ण अथवा शतमान का चौथाई भाग था।[२] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वैदिक साहित्य में उल्लिखित इन धातुखण्डो के नमूने अभी उपलब्ध नहीं हो सके हैं किन्तु यह सुविदित है कि छठीं शताब्दी ईस्वी पूर्व तक मुद्रा का उपयोग प्रचुर मात्रा में होने लगा था। ऐसी स्थिति में मुद्रा-निर्माण के विकास का इतिहास निश्चित रूप से उत्तर वैदिक युग में प्रारम्भ होना चाहिये। इतना अवश्य है कि उत्तरवैदिक युग में अधिकांशतः गायें ही विनिमय का साधन थीं[४] तथा निष्क सुवर्ण, शतमान और पाद जैसे धातुखण्ड न तो राज। द्वारा नियन्त्रित थे और न चिन्हित।[३] ऐसी स्थिति में इन्हें आधुनिक अर्थ में सिक्का मानना तो कठिन होगा किन्तु मुद्रा-निर्माण की प्रारम्भिक अवस्था को दृष्टि में रखते हुए इन्हें 'पंच मार्क्ड' सिक्कों का पूर्ववर्ती अविकसित रूप माना जा सकता है।

व्यापार एवं वाणिज्य

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, वैदिक आर्यों की आर्थिक व्यवस्था ग्रामीण थी। कृषि-कर्म और पशुपालन ही उनके प्रमुख व्यवसाय थे। व्यापार तथा वाणिज्य का विकास अभी शैशवावस्था में था। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में सुदूरवर्ती प्रदेशों को जाने वाले सार्थवाहों का कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है। पूर्व-वैदिक युग से ही आर्यों को साक्षात् अथवा परम्परा से

---

१. काठक० सं० ११.४।
२. ब्राह्मण साहित्य में पाद मंत्र के चौथाई भाग को कहा गया है। ऐत० ब्रा० ४.४, कौषीतकि ब्राहण २६.५, निरुक्त० ७.९।
३. ऐत० ब्रा० ५.२२.९, ७.३३.६, ८.३७.७ इत्यादि।
४. द्रष्टव्य, जे० एन० एस० आई०, नं० १५,

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

समुद्र का ज्ञान हो चुका था।[१] यत्र-तत्र समुद्र-यात्रा तथा 'नावः समुद्रियः' का भी उल्लेख हुआ है। कुछ विद्वान यहाँ तक मानते हैं कि ऋग्वैदिक आर्य कुशल नाविक थे तथा विदेशों से सामुद्रिक व्यापार भी करते थे।[२] किन्तु पूर्व-वैदिक आर्यों का भौतिक दृष्टि से अविकसित एवं अटनशील जीवन व्यापारिक समृद्धि के लिये विशेष अनुकूल नहीं था। ऐसी स्थिति में व्यापार एवं वाणिज्य के क्षेत्र में उनकी उपलब्धियाँ भी सीमित थीं। वैदिक संस्कृति की पूर्ववर्तिनी सैन्धव-सभ्यता के अन्तर्गत सामुद्रिक व्यापार समुन्नत था। आर्य ऋषियों ने यहां के व्यापारियों को सम्भवतः 'पणि' नाम से अभिहित किया है। पणियों का धन आर्यों के आकर्षण का बहुत बड़ा केन्द्र था।[३] ऋग्वेद में इन पणियों को ऐश्वर्ययुक्त[४] कृपण तथा दासों से सम्बद्ध बतलाया गया है जिनसे उनके अनार्यत्व का बोध होता है। आर्यों के आक्रमण के परिणामस्वरूप सिन्धु-प्रदेश की समुन्नत नागरिक सभ्यता धराशायी हो गई और सैन्धव नगरों के पतन के पश्चात् विदेशी व्यापार का मार्ग स्वभावतः अवरुद्ध हो गया। उत्तर-वैदिक युग में, जब आर्यों तथा आर्येतरजनों के बीच हुए सामाजिक एवं सांस्कृतिक सामंजस्य के परिणामस्वरूप नवीन सामाजिक व्यवस्था उद्भूत हुई तथा राजसत्ता के विकास के साथ-साथ शान्ति और सुरक्षा स्थिर हुई, पुनः साक्षर नागरिक जीवन का अभ्युत्थान प्रारम्भ हुआ तथा सैन्धव सभ्यता का भौतिक पक्ष भी पुनरुज्जीवित होने लगा। बहुत सम्भव है कि उत्तर-वैदिक युग के मिश्रित समाज में आर्येतर जनों द्वारा व्यापार और वाणिज्य को विशेष प्रोत्साहन मिला हो। विशेषतः सैन्धव जनो की प्रतिभा वंशानुगत एवं परम्परागत रूप से अवश्य जीवित रही होगी। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि वणिज, वाणिज, वाणिज्या आदि शब्दों की व्युत्पत्ति भी उसी मूल से हुई है जिससे 'पणि' शब्द की। इससे आर्येतर जनों का व्यापार और वाणिज्य से गहरा सम्बन्ध द्योतित होता है।

उत्तर-वैदिक साहित्य में 'वाणिज्या' के सम्बन्ध में कई स्थान पर संकेत मिलते हैं। अथर्ववेद में एक स्थान पर दूर्श (वस्त्र) पवस्त (चादर) और अजि

---

१. ऋ० १.१७.७, १.१६३.३, ३.३६.७, ७.६.७, १.११२.६
२. वैदिक एज, पृ० २४५ पर उद्धृत बेबर का मत।
३. ऋ० ६.१३.३, ६.५३.३, १.६४.४
४. ऋ० १.३३.२

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

(चर्म) खरीदने का उल्लेख मिलता है।[१] इसी ग्रन्थ से यह भी ज्ञात होता है कि व्यापारी लोग विभिन्न वस्तुओं को लेकर इधर-उधर घूमा करते थे। कभी वे इन वस्तुओं का विनिमय करते थे और कभी विक्रय। समय-समय पर उन्हें हिंसक पशुओं एवं डाकुओं का भी सामना करना पड़ता था। अथर्ववेद (३. १५) से ज्ञात होता है कि वस्तुओं को खरीदने और बेचने में खूब मोल-भाव होता था। आन्तरिक व्यापार प्रायः स्थल मार्ग से होता था। आवागमन की सुविधा के लिये कुछ सड़कें भी थीं।[२] अथर्ववेद (१६. २. १.) में व्रात्यों के प्रसंग में विपथ का जो उल्लेख हुआ है उससे सामान्यतः यह निष्कर्ष निकलता है कि कुछ सुपथ भी अवश्य रहे होंगे। व्यापारिक वस्तुओं को ढोने का काम अधिकांशतः पशुओं से लिया जाता था। ऐसे पशुओं में बैल, घोड़े, ऊँट, गदहे और भैंस मुख्य थे। शतपथ ब्राह्मण में व्याज पर धन देने वाले 'कुसीदिन' का भी उल्लेख हुआ है।[३]

उत्तर-वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र समुद्र-यात्रा तथा विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध के भी संकेत मिलते हैं। प्रकृत्या कर्मकाण्ड प्रधान होने के कारण यजुर्वेद तथा ब्राह्मण साहित्य में इस विषय पर विशेष सामग्री अनुपलब्ध है किन्तु अथर्ववेद में अनेक मंत्र एवं विशिष्ट शब्द विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध की पुष्टि करते हैं। अथर्ववेद में मोती पैदा करने वाले शंख का उल्लेख है[४] जो समुद्र से लाये जाते थे। वाजसनेयी संहिता में समुद्री यात्राओं के लिए उपयोगी सौ डांड़ों वाले बड़े जलपोत का भी उल्लेख मिलता है।[५] उपर्युक्त उद्धरणों से उत्तर-वैदिक युग में सामुद्रिक व्यापार की पुष्टि होती है। साथ ही अथर्ववेद के कुछ विचित्र शब्दों, यहूदी धर्म ग्रन्थों, बोगजकुई अभिलेख तथा अन्य असीरियन अभिलेखों के साक्ष्य से उत्तर-

---

१. अथर्ववेद ४. ७. ६

२. द्रष्टव्य-परि-रथ्य, ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, पृ० ५८७, इस प्रसंग में अथर्ववेद में उल्लिखित 'पथिकृत' भी उल्लेखनीय है। द्रष्टव्य—अथर्ववेद १८. २. ५३, ३. २५ इत्यादि।

३. शत० ब्रा० १३. ४. ३. ११

४. अथर्ववेद ४. १०. १-३

५. वाज० सं० ३१. ७, शतारित्र नौ।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

वैदिक युगीन भारत तथा पश्चिमी एशिया के राज्यों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध सूचित होता है। आर्यों के आक्रमण और सैन्धव संस्कृति के विध्वंस से उत्पन्न उथल-पुथल के कारण पुरा-ऐतिहासिक भारत एवं पश्चिमी एशिया के बीच व्यापारिक सम्बन्धों में शिथिलता आ गयी थी किन्तु उत्तर-वैदिक युग तक ये सम्बन्ध पुनः स्थापित हुये। बाइबिल में उल्लिखित ओफिर (आभीर १) कर्पस (कपास) और कोफ (कपि) एवं असुरबनिपाल (लगभग ७ वीं शताब्दी ई० पू०) के अभिलेखों में कपड़े के लिये प्रयुक्त सिन्धु शब्द इस प्रसंग में उदाहरणीय हैं। एशिया माइनर के बोगजकुई के अभिलेख (लगभग १४०० ई० पूर्व) में मित्र, नासत्य वरुण प्रभृति वैदिक देवताओं का उल्लेख हुआ है। एशिया माइनर जैसे सुदूरस्थ प्रदेशों के निवासियों का वैदिक देवताओं से परिचय निश्चित रूप से इस बात को सूचित करता है कि उत्तर वैदिक युग में भारत का पश्चिमी एशिया से पर्याप्त सांस्कृतिक सम्बन्ध था। यह सम्बन्ध व्यापारिक सम्पर्क के कारण ही उत्पन्न हुआ होगा। भारतीय साहित्य में भी भारतीय व्यापारियों के पश्चिमी देशों की ओर जाने का वर्णन मिलता है। एक जातक कथा में, जो मूलतः उत्तर-वैदिक-कालीन हो सकती है बवेरू राज्य (बैबीलोन) की यात्रा का उल्लेख है। अथर्ववेद में तैमात, उरुगूल, आलगी, विलिगी आदि अनेक ऐसे शब्द आये हैं जो विदेशी प्रतीत होते हैं। ग्रिफिथ ह्विटनी तथा ब्लूमफील्ड जैसे विद्वानों ने इन शब्दों को अस्पष्ट बतलाया है किन्तु बालगंगाधर तिलक इन्हें बैबीलोन की अक्कादी भाषा से आया हुआ मानते हैं। इनमें तैमात तो निश्चियतः बैबीलोनियन 'तियामत' प्रतीत होता है। उरुगूल शब्द का प्रयोग भी तिलक के अनुसार अक्कादी भाषा में पाताल के अर्थ में हुआ है। इसी प्रकार वैदिक शब्द अप्सु का सम्बन्ध अक्कादी शब्द 'अब्जु' से जोड़ा जा सकता है। श्री तिलक का तो यहाँ तक कहना है कि 'उरुक्रम', 'उरुगाय', 'उर्वशी' तथा 'अप्सुजित' जैसे सभी शब्द अक्कादी शब्दों से व्युत्पन्न हुये होंगे। भारतवासियों का सम्भवतः बैबीलोनियन ज्ञान विज्ञान से भी परिचय था। डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी का विश्वास है कि भारत में भार की इकाई के लिए प्रयुक्त होने वाला 'मन' शब्द 'मीना' ने निकला है। इन तथ्यों के प्रकाश में तथा छठीं शताब्दी ई० पू० में भारतीय व्यापार एवं वाणिज्य की समुन्नत दशा तथा नागरिक जीवन के विकास को दृष्टिगत करते हुए उत्तर-वैदिक युग में भारत और पश्चिमी एशिया के बीच व्यापारिक सम्बन्ध सर्वथा सम्भव प्रतीत होता है।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

गृह-निर्माण एवं विविध घरेलू उपकरण

वदिक आर्यों के पारिवारिक सुख-सुविधाओं पर विचार करना भी यहाँ अनुचित नहीं होगा। वैदिक ग्रन्थों में घर को सूचित करने वाले गृह, आयतन, पस्त्या, वास्तु, हर्म्य, दुरोण आदि अनेक शब्द मिलते हैं। सम्भवतः ये विशिष्ट नाम घरों की विशिष्टता को लक्ष्य करके रखे गये थे। चारो ओर से दीवारों से घिरे रहने के कारण घर आयतन तथा द्वार-युक्त होने के कारण दुरोण कहलाता था। निवास-स्थान के अर्थ में वास्तु और पस्त्या शब्द का प्रयोग भी होता था। हर्म्य (घर्म्य) शब्द ऐसे घरों का संकेत करता है जिसमें सरलता-पूर्वक धूप आ सकती हो। वैदिक-युगीन भवन अनेक कमरों से युक्त होते थे। यज्ञ के प्रसंग में हविर्धान, अग्निशाला, पत्नीनां सदन, तथा सदस इन चार शब्दों का विशेष उल्लेख मिलता है जिससे साधारण वैदिक गृहों के अनेक कक्षों में विभक्त होने की बात पुष्ट होती है। उत्सव तथा यज्ञों में आने वाले अतिथियों के लिये भी पृथक् घर होता था जिसे आधिसथ कहते थे।[१] तैत्तिरीय आरण्यक में धनधानी नामक एक विशिष्ट प्रकार के भवन का उल्लेख है[२] जिसका उपयोग सम्भवतः कोषागार के रूप में होता था। पशुओं के लिये भी अलग कमरे होते थे जिन्हें शाला कहते थे।

पुरातात्विक साक्ष्यों तथा वैदिक उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक युग के मकान बहुत ही साधारण और कामचलाऊ किस्म के होते थे। भवन-निर्माण के लिये बांस, मिट्टी, लकड़ी, तथा कच्चे ईंट प्रधान साधन थे। अथर्ववेद के दो सूक्तों में गृह-निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया गया है[३] किन्तु पारिभाषिक शब्दों की दुज्ञेयता के कारण रचना-पद्धति का यथार्थ विवेचन अत्यन्त दुष्कर हो जाता है। तथापि इनसे वैदिक भवनों की विशेषताओं का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। पुरातत्व एवं-साहित्य के सामूहिक साक्ष्य से ज्ञात होता है कि मकानों की दीवारें अधिकांशतः मिट्टी, कच्चे ईंट अथवा सरकण्डे (रीड्स) आदि से बनी होती थीं जिस पर मिट्टी का पलस्तर होता था।[४] यद्यपि पके हुए ईंटों का उल्लेख स्थान

---

१. अथर्ववेद ९.६.५
२. तै० आ० १०.६७
३. अथर्ववेद ३.१२, ९.३
४. ऐन्श्येन्ट इण्डिया नं० १०-११, पृ० ८५

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

स्थान पर यज्ञ-वेदी के निर्माण के प्रसंग में हुआ है किन्तु पुरातात्विक अवशेषों से भवन-निर्माण में पके ईंटों का प्रयोग अज्ञात प्रतीत होता है।[1] मकानों की छत प्रायः बांस के लट्ठों और घास-फूस तथा खर की सहायता से बनाई जाती थी। पहले बांस के टुकड़े काट कर ढांचा बनाने का काम होता था। ढांचे को सम्भवतः अक्ष कहते थे।[2] इसके ऊपर छाजन के लिए 'पलद' तथा तृण रखे जाते थे। इसके पश्चात् पूरे छाजनको रस्सियों से बांध दिया जाता था। छत को प्रायः छदिस और छन्दस नाम से अभिहित किया गया है। अथर्ववेद (३.१२.३) में एक मकान को वृहच्छन्दस विशेषण दिया गया है। इस प्रकार मकानों की बनावट बहुत कुछ आजकल के ग्रामीण झोपड़ों की भाँति रही होगी। इतना अवश्य है कि आज के युग में इन झोपड़ों के निर्माण का कारण दीनता है किन्तु वैदिक युग में इसका कारण निर्माण-कौशल का अभाव था। उस युग के समृद्ध लोग भी ऐसे हीवास्तु हर्म्य और आयतन में रहते थे जो अन्य भवनों की अपेक्षा कुछ विशाल, हवादार तथा अनेक कक्षों से युक्त रहे होंगे।

वैदिक साहित्य में पारिवारिक जीवन में काम आने वाले नाना प्रकार के उपयोगी उपकरणों का उल्लेख मिलता है। उनकी विविधता तथा-बनावट से भी तत्कालीन भौतिक जीवन पर कुछ प्रकाश पड़ता है। सर्वप्रथम हम घरेलू उपयोग की वस्तुओं में सोने और बैठने के लिये निर्मित विभिन्न आसनोंपर विचार करेंगे। याज्ञिक अनुष्ठानों के अवसर पर कुश के बने हुये प्रस्तर[3] 'वर्हि' और 'कूर्च'[4] का उपयोग किया जाता था। बैठने और लेटने के लिये चटाइयां भी बनाई जाती थीं। कशिपु (सेज) का निर्माण सम्भवतः

---

१. हस्तिनापुर के उत्खनन से इस युग से सम्बन्धित स्तर में केवल एक खण्डित ईट प्राप्त हुई है पके ईंटों से बस्ती एक भी दीवाल का अवशेष नहीं मिला। यही स्थिति रूपड़ के उत्खनन से भी प्रमाणित है।

२. अथर्ववेद ८.८.१८ (अक्षजालाभ्याम), ९.३.१८, इस शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। किन्तु मकान के प्रसंग में ठाठ ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

३. ऋ० १०.१४.४, अथर्ववेद १६.२.६, तै० सं० १७.७.४, वाज० सं० २.१८।

४. तै० सं० ७.५.८.५, वृहदारण्यक २.११.१, ऐत० आ० ५.१.४ वैदिक इण्डेक्स के लेखकों के अनुसार यह घास का एक आसन था जो बैठने के लिये उपयोग में लाया जाता था।
वैदिक इण्डेक्स १.१७७, शत० ब्रा० ७.१३.४.३ में हिरण्यकूर्च का उल्लेख है।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

नरकट तथा कट (बेंत) की सहायता से होता था।[१] राजा अपने ऐश्वर्य के सूचनार्थ अश्वमेध में हिरण्यकशिपु (स्वर्ण आसन) पर बैठता था।[२]

ऐसा प्रतीत होता है कि समृद्धजनों के अन्तःपुरों में बहुमूल्य शैय्या एवं आसनों का उपयोग होता था। ऋग्वेद के एक सूक्त में तल्प, वह्य और प्रोष्ठ पर लेटी स्त्रियों का उल्लेख हुआ है। ये तीनों आसन सम्भवतः रचना और सजावट की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न थे। 'तल्प' एक कीमती पलंग था जिस पर विवाह के पश्चात् वर-वधू समागमार्थ शयन करते थे। अथर्ववेद के विवाह सूक्त में (१४.२.३१) वधू को प्रसन्नचित्त होकर तल्प पर आरोहण करने तथा पति केलिये प्रजा उत्पन्न करने का उपदेश दिया गया है।[३] शतपथ ब्राह्मण में नियमतः उत्पन्नपुत्र की 'तल्प' संज्ञा दी गई है इससे भी इस विचार की पुष्टि होती है।[४] छान्दोग्य उपनिषद (५.१०.९) गुरुतल्पसेवी की गणना पंच पातकियों में करता है।[५] तल्प की रचना भी पवित्र उदुम्बर वृक्ष की लकड़ी से होती थी।[६] इन सभी बातों पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि तल्प वैवाहिक शैय्या थी जिस पर पति–पत्नी शयन करते थे।

ऋग्वेद में प्रोष्ठ-शया स्त्रियों का उल्लेख है। प्रोष्ठ का उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण (७.५५.८) में भी हुआ है। यह काष्ठ–निर्मित बेंच प्रतीत होता है। इसके निर्माण के विषय में विशेष वर्णन का अभाव है। तल्प और प्रोष्ठ के अतिरिक्त वह्य एक सुखद आसन था। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इसका उपयोग लोगों को (विशेषतः स्त्रियों को) एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिये होता था। 'वह्य' आधुनिक पालकी और डोली का प्राचीन प्रतिनिधि जान पड़ता है। अथर्ववेद के एक प्रसंग से यह विदित होता है कि श्रान्ता नधुएं वह्य पर चढ़ती थीं।[७] अवश्य ही इसका उपयोग वधू के पति-

---

१. अथर्व० ६. १३८. ५. इसका निर्माण स्त्रियां करती थीं।
२. शत० ब्रा० १३. ४. ३. १
३. आरोह तल्प सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै
४. शत० ब्रा० १३.१.६.२
५. स्तेनो हिरण्यस्य सुरा पिबश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा च एते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चारँस्तैरिति।
६. तै० ब्रा० १.२.६.५
७. अथर्ववेद ४.२०,३, सा भूमिमां सरोहिथ वह्यं श्रान्ता वधूरिव।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

गृह-गमन के समय होता रहा होगा।[१] इस प्रकार की परम्परा आज भी भारत के ग्राम्य-जीवन में प्रचलित दिखाई देती है।

परवर्ती संहिताओं[२] तथा ब्राह्मणों[३] में आसन्दी का भी उल्लेख है। इसका उपयोग केवल बैठने के लिये होता था। अतिथियों के आने पर उन्हें बैठने के लिये प्रायः आसन्दी दी जाती थी। प्राप्त प्रसंगों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि राजाओं के अभिषेक के अवसर पर उन्हें बैठने के लिये आसन्दी की व्यवस्था थी। ऐसे अवसरों पर निश्चय ही आसन्दी का प्रयोग राजसिंहासन के रूप में होता था। यह बात जनमेजय की राजधानी के नाम 'आसन्दीवन्त' से भी प्रमाणित होती है। ऐतरेयब्राह्मण (८.५,६) तथा शतपथ ब्राह्मण (५.४.४.१) में आसन्दी के अंग-प्रत्यंग का विस्तृत वर्णन मिलता है जिससे अलंकारों से सुसज्जित इस आसन के गौरव का आभास मिलता है। शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि यह खदिर वृक्ष की लकड़ी अथवा उदुम्बर की लकड़ी से बनाया जाता था।

---

१. ऋ० १०.३८ में सूर्या के विवाह के प्रसंग में हम सूर्या को रथ में बैठकर पतिगृह को आते देखते हैं।

२. अथर्ववेद १४.२.६५, १५.३.२, तै० सं० ७.५.८.५, वाज० सं० ८.५९, १९.१६

३. ऐत० ब्रा० ८.५, ६, १२, शत० ब्रा० ३.३.४.२६, ५.२.१.२२, ५.४.४.१

—:०:—

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

वर्ण-व्यवस्था

उत्तर वैदिक युग में ही सामाजिक व्यवस्था की आधारशिला वर्ण व्यवस्था का विकास भी हुआ। ऋग्वेद का पुरुष सूक्त, (१०. ९०) जिसमें वर्ण-व्यवस्था के सैद्धान्तिक औचित्य को सिद्ध करने का प्रथम प्रयास है, इसी युग की देन है। यह वर्णन कुछ परिवर्तन के साथ उत्तर वैदिक युग के अन्य ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है।[१] ह्विटने महोदय ने अथर्ववेद (१९. ६. ६) के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की रचना भी अथर्ववैदिक युग के अन्तिम चरण में ही हुई।[२] इस युग में न केवल चार वर्णों एवं अन्य व्यावसायिक वर्गों का रूप स्पष्ट हुआ बल्कि उनके साथ सामाजिक भेद-भाव की भावना का भी जन्म हुआ।

हम देख चुके है कि ऋग्वैदिक युग में ही वर्गों का उदय प्रारम्भ हो चुका था। ब्राह्मण एवं राजन्य अपने को विश से पृथक् और श्रेष्ठ बनाने में संलग्न थे। फिर भी वर्ण शब्द का प्रयोग अभी आर्य और दास इन परस्पर विरोधी और विजातीय लोगों के प्रजातीय एवं सांस्कृतिक पार्थक्य का ही द्योतक था। उत्तर वैदिक साहित्य में हम आर्य-दास विरोध तथा द्विवर्ण की स्थिति का सहसा लोप देखते हैं और इसकी जगह स्थान-स्थान पर चार वर्णों का उल्लेख पाते हैं।[३] ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तर्जातीय विवाह-जन्य सम्मिश्रण के कारण जब अनेक आर्यों ने भी अपना मौलिक रूप रंग खो दिया, जब दासियों के गर्भ से उत्पन्न होकर दीर्घतमा, औशिज और वत्स जैसे लोग ऋषित्व को प्राप्त हुए तथा जब कृष्णत्वच शूद्रों के अतिरिक्त राजन्य भी धूसर वर्ण वाले होने लने[४] तब आर्य वर्ण और दास वर्ण का पुराना अन्तर स्वभावतः मन्द पड़ गया। समाज के नवोदित चार वर्गों के लिये वर्ण का प्रयोग बड़ा ही कौतूहलजनक था क्योंकि पहले वर्ण शब्द का प्र

---

१. अथर्ववेद १९. ६. ६, पंच० ब्रा० ५. १.३-१०, वाज० सं० ३१. १
तै० आ० ३. १२. ५-६
२. हार्वर्ड ओरियन्टल सीरीज़, ८, पृ० ८९५-९८
३. शत० ब्रा० ५. ५. ४. ९, ६. ४. ४. १३, अथर्ववेद ३. ५. ७
४. वैदिक इण्डेक्स भाग २, पृ० २४७

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

पुरोहितों के कठोर विरोध का सामना करना पड़ा।[१] किसी भी मेधावी व्यक्ति के लिए अब बिना किसी कुशल पुरोहित से यज्ञ सम्बन्धी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त किए पौरोहित्य में प्रवीण होना असम्भव था। इस स्थिति में पौरोहित्य स्वतः ब्राह्मणेतर वर्ग के लिए अग्राह्य होने लगा। ब्राह्मणों ने व्यावहारिक रूप में अन्य वर्णों के लिए पौरोहित्य की शिक्षा का निषेध कर दिया तथा प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगाने के [illegible] स्वार्थ [illegible] साथ ही राजन्य प्रवर की व्यवस्था की।[२] सूत्रकाल [illegible] विश (साधारण जनों) का शोषण बनाये गये कि कोई [illegible] राजन्यों के द्वारा पुरोहित भी प्रभूत धनराशि प्राप्त सम्बन्ध [illegible] साधारण, दोनों का था। किन्तु इन दोनों का [illegible] भी मिलता नहीं है। प्रायः संस्थाओं का जन्म पहले होता है और उन्हें सैद्धान्तिक [illegible] की बाद में मिलता है किन्तु कुछ भिन्न परिस्थितियों में समाज अथवा वर्ग-विशेष के स्वार्थसाधन हेतु नियमों की सृष्टि होती है तथा संस्थाओं को जन्म दिया जाता है। यह सत्य है कि वर्णों अथवा वर्गों का विकास विभिन्न आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियो के प्रभाव से अनायास और अचिन्त्य रूप से हो रहा था किन्तु समाज का साधनसम्पन्न एवं बुद्धजीवी वर्ग इस परिवर्तन के प्रति उदासीन नहीं था। ये लोग इन परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों तथा नवीन संस्थाओ को अपने लिये अधिकाधिक अनुकूल और [illegible]योगी बनाने के लिये नियमों और सिद्धान्तों की स्थापना कर रहे थे। [illegible] दोष थे किन्तु ये ही क्रमशः वर्ण विभाजन के कार्य को प्रोत्साहित [illegible] हम देखते हैं कि उत्तर-वैदिक [illegible]ना ने विभिन्न वर्गों के सदस्यों [illegible]न्धों में ऊंच-नीच की [illegible] प्रेरित किया जिसके पीछे वर्ग के [illegible]णों के सापेक्षिक स्तर का नि[illegible] की आशंका, दोनों ही प्रधान [illegible] स्थान-स्थान पर इन वर्णों [illegible]जक जीवन में अधिकांश नियमों [illegible]नता का ध्यान नहीं रक्खा [illegible] ब्राह्मणों और राजन्यों का वर्ग [illegible]ता (२६.२) में चार वर्णों [illegible]ना का कार्य भी पुरोहित वर्ग का [illegible]स्वरूप हम स्थान-स्थान पर ऐसे [illegible]र क्षत्र को दृढ़ करने का आदेश [illegible] के सदस्यों ने ऐसी क्रांतिकारी, [illegible]हार्दिक स्वागत नहीं किया होगा। [illegible] अन्ततोगत्वा ब्राह्मणो और क्षत्रियो [illegible]षाधिकारों के प्रतिष्ठापन में सफ-

शत० ब्रा० १३.८.३.११
वही, १.१.४.१२, ब्राह्मण [illegible]
के लिए आद्रव और शूद्र [illegible]
प्रतिष्ठा के निर्धारण का [illegible]
तै० ब्रा० १.१.४
शत० ब्रा० ५.३.२.११
वही २.१.३.४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

मृत्यु को प्राप्त हुआ।[१] यज्ञों का दूरूह और रहस्यमूलक होना शूद्रोंकी स्थिति को हीन बनाने में भी सहायक हुआ। एक तो विस्तृत और व्ययपूर्ण यज्ञों के सम्पादन के लिये निर्धन शूद्रों के पास अर्थ और समय दोनों का अभाव था दूसरे वैदिक मंत्रों के उच्चारण तथा विविध नियमों के आंचरण में इन शूद्रों द्वारा अधिक त्रुटि की आशंका थी। शूद्रों को वैदिक धर्म से बहिष्कृत व्यवस्था ने प्रयास हुआ उसका एक कारण यह भी था। बाद के युग में वर्ण-व्यवस्था के सैद्धान्तिक आधार [illegible] वैदिक मंत्रों के शुद्ध पाठ करने में युग की देन है। यह वर्णन कुछ परिवर्तन के साथ उत्तरा उनके लिये भी ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है।[१] ह्विटने महोदय ने अथर्ववेद (१९. ६. ६) को आधार पर यह प्रमाणित किया है कि ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की रचना भी अथर्ववैदिक युग के अन्तिम चरण में ही हुई।[२] इस युग में न केवल चार वर्णों एवं अन्य व्यावसायिक वर्गों का रूप स्पष्ट हुआ बल्कि उनके साथ सामाजिक भेद-भाव की भावना का भी जन्म हुआ।

हम देख चुके है कि ऋग्वैदिक युग में ही वर्गों का उदय प्रारम्भ हो चुका था। ब्राह्मण एवं राजन्य अपने को विश से पृथक् और श्रेष्ठ बनाने में संलग्न थे। फिर भी वर्ण शब्द का प्रयोग अभी आर्य और दास इन परस्पर विरोधी और विजातीय लोगों के प्रजातीय एवं सांस्कृतिक पार्थक्य का ही द्योतक था। उत्तर वैदिक साहित्य में हम आर्य-दास विरोध तथा द्विवर्ण की स्थिति का सहसा लोप देखते हैं और इसकी जगह स्थान-स्थान पर चार वर्णों का उल्लेख पाते हैं।[३] ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तर्जातीय विवाह-जन्य सम्मिश्रण के कारण जब अनेक आर्यों ने भी अपना मौलिक रूप रंग खो दिया, जब दासियों के गर्भ से उत्पन्न होकर दीर्घतमा, औशिज और वत्स जैसे लोग ऋषित्व को प्राप्त हुए तथा जब कृष्णत्वच शूद्रों के अतिरिक्त राजन्य भी धूसर वर्ण वाले होने लने[४] तब आर्य वर्ण और दास वर्ण का पुराना अन्तर स्वभावतः मन्द पड़ गया। समाज के नवोदित चार वर्गों के लिये वर्ण का प्रयोग बड़ा ही कौतूहलजनक था क्योंकि पहले वर्ण शब्द का प्र

---

१. अथर्ववेद १९. ६. ६, पंच० ब्रा० ५. १.३-१०, वाज० सं० ३१. १
तै० आ० ३. १२. ५-६

२. हार्वर्ड ओरियन्टल सीरीज, ८, पृ० ८९५-९८

३. शत० ब्रा० ५. ५. ४. ९, ६. ४. ४. १३, अथर्ववेद ३. ५. ७

४. वैदिक इण्डेक्स भाग २, पृ० २४७

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

कि पुरोहित वर्ग भी उससे अप्रभावित नहीं रह सका। राजसूय यज्ञ के अव-अवसर पर ब्राह्मण भी क्षत्रिय से नीचे बैठता था।[१] ब्राह्मण साहित्य में ऐसे प्रसंगों का अभाव नहीं है जहाँ राजन्य को सर्वाधिक उच्च और सामाजिक दृष्टि से प्रधान कहा गया है।[२] असम्भव नहीं कि कुछ पुरोहितों ने आश्रयदाता की सन्तुष्टि के लिए समाज-संघर्ष की वेदी पर वर्गगत स्वार्थ का बलिदान किया हो। राजकीय शक्ति के विस्तार के साथ ही राजन्य वर्ग की अहंमन्यता भी बढ़ रही थी। विश (साधारण जनों) का शोषण उप[illegible] था।[३] इन्हीं राजन्यों के द्वारा पुरोहित भी प्रभूत धनराशि प्राप्त नियमों के निर्धारण, दाना का था। किन्तु इन दाना का साहन भी मिलता नहीं है। प्रायः संस्थाओं का जन्म पहले होता है और उन्हें सद्धान्तिक[illegible]हित की बाद में मिलता है किन्तु कुछ भिन्न परिस्थितियों में समाज अथवा वर्ग-विशेष के स्वार्थसाधन हेतु नियमों की सृष्टि होती है तथा संस्थाओं को जन्म दिया जाता है। यह सत्य है कि वर्णों अथवा वर्गों का विकास विभिन्न आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियो के प्रभाव से अनायास और अचिन्त्य रूप से हो रहा था किन्तु समाज का साधनसम्पन्न एवं बुद्धजीवी वर्ग इस परिवर्तन के प्रति उदासीन नहीं था। ये लोग इन परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों तथा नवीन संस्थाओ को अपने लिये अधिकाधिक अनुकूल और [illegible]योगी बनाने के लिये नियमों और सिद्धान्तों की स्थापना कर रहे थे। [illegible]दोष थे किन्तु ये ही क्रमशः वर्ण विभाजन के कार्य को प्रोत्साहित [illegible] हम देखते हैं कि उत्तर-वै[illegible]तना ने विभिन्न वर्गों के सदस्यों [illegible]बन्धों में ऊंच-नीच की भावे[illegible]प्रेरित किया जिसके पीछे वर्ग के [illegible]णों के सापेक्षिक स्तर का निर्धा[illegible] की आशंका, दोनों ही प्रधान [illegible] स्थान-स्थान पर इन वर्णों का [illegible]जक जीवन में अधिकांश नियमों [illegible]ानता का ध्यान नहीं रक्खा गया [illegible] ब्राह्मणों और राजन्यों का वर्ग [illegible]ता (२६.२) में चार वर्णों [illegible]ना का कार्य भी पुरोहित वर्ग का [illegible]स्वरूप हम स्थान-स्थान पर ऐसे [illegible]र क्षत्र को दृढ़ करने का आदेश [illegible]के सदस्यों ने ऐसी क्रांतिकारी, [illegible]हार्दिक स्वागत नहीं किया होगा। [illegible] अन्ततोगत्वा ब्राह्मणो और क्षत्रियो [illegible]षाधिकारों के प्रतिष्ठापन में सफ-

---

शत० ब्रा० १३.८.३.११

वही, १.१.४.१२, ब्राह्मण के [illegible] के लिए आद्रव और शूद्र के [illegible] प्रतिष्ठा के निर्धारण का प्रया[illegible]

३. तै० ब्रा० १.१.४

४. शत० ब्रा० ५.३.२.११

५. वही २.१.३.४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

निर्माण प्रारम्भ हुआ। पुरातात्विक अवशेषों के साक्ष्य से प्रमाणित होता है कि हस्तिनापुर और कौशाम्बीप्रभृति नगरों का अभ्युदय १००० ई० पू० के लगभग प्रारम्भ हो चुका था।[१] नागरिक जीवन के विकास के साथ ही व्यापार और वाणिज्य की ओर भी लोगों ने ध्यान देना प्रारम्भ किया। इस आर्थिक प्रगति के फलस्वरूप विभिन्न व्यवसायों ने, जो अभी तक विश अथवा वैश्य वर्ग के अन्तर्गत थे, पृथक् आर्थिक वर्गों का रूप धारण किया जो स्वनिर्मित नियमों के आधार पर संगठित हुए।[२] धीरे-धीरे इनका संगठन अन्तर्मुखी होता गया। ये पृथक् सामाजि[illegible] भी प्राप्त होता है।[१] ह्विटने महोदय ने अथर्ववेद (१९. [illegible]) आधार पर यह प्रमाणित किया है कि ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की रचना भी अथर्ववैदिक युग के अन्तिम चरण में ही हुई।[२] इस युग में न केवल चार वर्णों एवं अन्य व्यावसायिक वर्गों का रूप स्पष्ट हुआ बल्कि उनके साथ सामाजिक भेद-भाव की भावना का भी जन्म हुआ।

हम देख चुके है कि ऋग्वैदिक युग में ही वर्गों का उदय प्रारम्भ हो चुका था। ब्राह्मण एवं राजन्य अपने को विश से पृथक् और श्रेष्ठ बनाने में संलग्न थे। फिर भी वर्ण शब्द का प्रयोग अभी आर्य और दास इन परस्पर विरोधी और विजातीय लोगों के प्रजातीय एवं सांस्कृतिक पार्थक्य का ही द्योतक था। उत्तर वैदिक साहित्य में हम आर्य-दास विरोध तथा द्विवर्ण की स्थिति का सहसा लोप देखते हैं और इसकी जगह स्थान-स्थान पर चार वर्णों का उल्लेख पाते हैं।[३] ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तर्जातीय विवाह-जन्य सम्मिश्रण के कारण जब अनेक आर्यों ने भी अपना मौलिक रूप रंग खो दिया, जब दासियों के गर्भ से उत्पन्न होकर दीर्घतमा, औशिज और वत्स जैसे लोग ऋषित्व को प्राप्त हुए तथा जब कृष्णत्वच शूद्रों के अतिरिक्त राजन्य भी धूसर वर्ण वाले होने लने[४] तब आर्य वर्ण और दास वर्ण का पुराना अन्तर स्वभावतः मन्द पड़ गया। समाज के नवोदित चार वर्गों के लिये वर्ण का प्रयोग बड़ा ही कौतूहलजनक था क्योंकि पहले वर्ण शब्द का प्र

---

१. अथर्ववेद १९. ६. ६, पंच० ब्रा० ५. १.३-१०, वाज० सं० ३१. १ तै० आ० ३. १२. ५-६

२. हार्वर्ड ओरियन्टल सीरीज़, ८, पृ० ८९५-९८

३. शत० ब्रा० ५. ५. ४. ९, ६. ४. ४. १३, अथर्ववेद ३. ५. ७

४. वैदिक इण्डेक्स भाग २, पृ० २४७

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

हैं जो व्यावहारिक जीवन में अज्ञात थे तथा कौन से अंश संस्थाओं और नियमों की वास्तविक स्थिति को सूचित करते हैं। उदाहरणार्थ जहाँ ब्राह्मणों और क्षत्रियों के विशेषाधिकारों एवं श्रेष्ठता का वर्णन हुआ है वहां यह निर्धारित करना कठिन हो जाता है कि इनमें उच्च वर्ग के विशेषाधिकारों की स्थापना का प्रयास मात्र है या तत्कालीन समाज का ऐतिहासिक चित्र प्रतिबिम्बित है उत्तर वैदिक साहित्य में बहुधा हमें दोनों प्रकार के प्रसंग उपलब्ध होते हैं। क्योंकि यह युग संस्थाओं के स्वाभाविक विकास तथा नियमों के निर्धारण, दोनों का था। किन्तु इन दोनों का विकास सहगामी नहीं है। प्रायः संस्थाओं का जन्म पहले होता है और उन्हें सैद्धान्तिक रूप बाद में मिलता है किन्तु कुछ भिन्न परिस्थितियों में समाज अथवा वर्ग-विशेष के स्वार्थसाधन हेतु नियमों की सृष्टि होती है तथा संस्थाओं को जन्म दिया जाता है। यह सत्य है कि वर्णों अथवा वर्गों का विकास विभिन्न आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियो के प्रभाव से अनायास और अचिन्त्य रूप से हो रहा था किन्तु समाज का साधनसम्पन्न एवं बुद्धजीवी वर्ग इस परिवर्तन के प्रति उदासीन नहीं था। ये लोग इन परिवर्तित सामाजिक परि-स्थितियों तथा नवीन संस्थाओ को अपने लिये अधिकाधिक अनुकूल और उपयोगी बनाने के लिये नियमों और सिद्धान्तों की स्थापना कर रहे थे। [illegible] जो दोष थे किन्तु ये ही क्रमशः वर्ण विभाजन के कार्य को प्रोत्साहित [illegible] दास [illegible] हम देखते हैं कि उत्तर-वैदिक चेतना ने विभिन्न वर्गों के सदस्यों [illegible] अन[illegible] बन्धों में ऊंच-नीच की भावना से प्रेरित किया जिसके पीछे वर्ग के [illegible] वर्ग है। [illegible] णों के सापेक्षिक स्तर का निर्धा[illegible] की आशंका, दोनों ही प्रधान [illegible] सम्प[illegible] स्थान-स्थान पर इन वर्णों का [illegible] जक जीवन में अधिकांश नियमों [illegible] शंका [illegible] ानता का ध्यान नहीं रक्खा गया [illegible] ब्राह्मणों और राजन्यों का वर्ग [illegible] के प्र[illegible] ता (२६.२) में चार वर्णों [illegible] ना का कार्य भी पुरोहित वर्ग का [illegible] उन्हों[illegible] स्वरूप हम स्थान-स्थान पर ऐसे [illegible] जिन्हे[illegible] शत० ब्रा० १३.८.३.११ र क्षत्र को दृढ़ करने का आदेश [illegible] दृष्टि[illegible] वही, १.१.४.१२, ब्राह्मण के के सदस्यों ने ऐसी क्रांतिकारी, [illegible] संस्[illegible] के लिए आद्रव और शूद्र के हार्दिक स्वागत नहीं किया होगा। [illegible] न प्रतिष्ठा के निर्धारण का प्रया[illegible] अन्ततोगत्वा ब्राह्मणो और क्षत्रियो [illegible]

७. ३. तै० ब्रा० १.१.४ षाधिकारों के प्रतिष्ठापन में सफ-

८. ४. शत० ब्रा० ५.३.२.११

. वही २.१.३.४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

लता मिली। इस सामाजिक प्रधानता की प्राप्ति के लिये शास्त्र और शस्त्र का भी पर्याप्त आश्रय लिया गया। शिक्षा एवं प्रचार के अधिकांश साधन युगीन साहित्य के रूप में ब्राह्मणों के हाथ में केन्द्रीभूत थे। उन्होंने अपने विचारों को धार्मिक आवरण में लपेट कर समाज के समक्ष प्रस्तुत किया अतः उनका विरोध करना असम्भव तो दुष्कर अवश्य हो उठा। दूसरी ओर राजन्य वर्ग ने अपनी शक्ति के प्रभाव से उन नियमों को समा में स्थिर करने का प्रयास किया। दुर्भाग्यवश सामाजिक इतिहास के क्षेत्र हमें जो प्रमाण उपलब्ध हैं वे एकपक्षीय दृष्टिकोण ही प्रस्तुत करते हैं क्यों अधिकांशतः इनकी रचना विशिष्ट एवं विशेषाधिकारयुक्त वर्गों द्वारा हुई यहि हमें इस सामाजिक व्यवस्थापन और वर्ण-संघर्ष के विषय में वैश एवं शूद्रों की प्रतिक्रिया का भी ज्ञान होता, तो निश्चय ही सामा इतिहास के अध्ययन में हम अधिक स्वस्थ निष्कर्ष निकालने में समर्थ हो

वर्णों की सामाजिक स्यिति पर विचार करते हुये सर्वप्रथम हम उत्तरवै युगीन ब्राह्मणों की दशा पर विचार करेगें। इस विषय में सर्वाधिक महत्व

ब्राह्मण-वर्ग की सामाजिक स्थिति

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या ब्राहाण वंशानुगत हो चुका था ? विद्वानों में इस विषय बड़ा वैमत्य है। वेवर महोदय ने विषय के ग ...स विरोध तथा द्विवर्ण की स्थिति का अध्ययन व ...ह स्थान-स्थान पर चार वर्णों का युग की वर्णव्यवस्था में कुछ शिथि ...है कि अन्तर्जातीय विवाह-जन्य सम्मि- दृष्टिगोचर होता है जिसे मनुस्मृति ...भी अपना मौलिक रूप रंग खो दिया, वेवर महोदय का यह कथन ब्राह्मण ...दीर्घतमा, औशिज और वत्स जैसे लोग है। वैदिक इण्डेक्स के लेखकों ने ...णत्वच शूद्रों के अतिरिक्त राजन्य भी वंशानुगत माना है तथा इस बा ...र्य वर्ण और दास वर्ण का पुराना अन्त स्यता उत्तर वैदिक युग तक ज ...नवोदित चार वर्गों के लिये वर्ण ब्राह्मणत्व ओर क्षत्रियत्व के परिच ...था क्योंकि पहले वर्ण शब्द का प्र ये वर्णधर्म और वर्ण-व्यवसाव सब ज्ञान और अध्ययन के द्वारा ब्राह्म ...ा० ५. १.३-१०, वाज० सं० ३१. १ बहुधा उसे निराशा ही मिलती

---

१. वेवर का मत, कारपोरेट लाइ ...पृ० ८९५-९८ उद्धृत।

२. वैदिक इडेण्क्स, भाग २, पृ० २ ...४. १३, अथर्ववेद ३. ५. ७ ...२४७

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

थे तथा यहां विस्तृत

यही कारण है कि र के निर्माण में संलग्न थे। पौरोहित्य और राजत्व दोनों आनुवंशिक यता को अनिवार्य चले थे। वैसे यत्रतत्र कुछ अपवाद भी अज्ञात नहीं हैं। शतपथ ब्राह्मण नुगत होने लगी भिन्न वर्ण के लोगों के लिए विभिन्न आकार की चिताओं की व्यवस्था स प्रारम्भ हो गए ा है।[१] इसी ग्रन्थ में यज्ञ के अवसर पर विभिन्न वर्ण के लोगों को ाँति ही क्षत्रियों ार ने के लिये पृथक्-पृथक् सम्बोधनों की भी व्यवस्था की गई है।[२] यह वर्ग बुद्धिजीवी का ब्राह्मण (१.५) में बताया गया है कि ब्राह्मण को गायत्री मंत्र का और शूद्रों के शो करना चाहिए, क्षत्रिय को त्रिष्टुभ का और वैश्य को जगती का। इतिहास का का इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि ब्राह्मण को वसन्त में, क्षत्रिय को ग्रीष्म में, वैश्य को शीत में और रथकार को वर्षा काल में अग्नि-होत्र करना चाहिए।[३] शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि यज्ञ में ब्राह्मण को पलाश की लकड़ी का, क्षत्रिय को न्यग्रोध और वैश्य को अश्वत्थ की लकड़ी का प्रयोग करना चाहिए।[४] इसके अतिरिक्त प्रत्येक वर्ण के पहचान के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञोपवीत की भी कल्पना की गई। शतपथ ब्राह्मण में गायत्री मन्त्र के पाठ के सम्बन्ध में नियम निर्धारित करते हुये कहा गया है कि इस मन्त्र को ब्राह्मण को भू से क्षत्रिय को भुवः से और वैश्य को स्वः से आरम्भ करना चाहिए।[५] इस प्रकार के अनेक नियमों ने वर्णों को एक दूसरे से सर्वथा पृथक् कर दिया। आपाततः ये नियम बिल्कुल साधारण और जो दोष थे किन्तु ये ही क्रमशः वर्णों के पारस्परिक पार्थक्य के प्रतीक बन गये।

हम देखते हैं कि उत्तर-वैदिक युग के प्रारम्भ में वर्णों के आपसी सम्बन्धों में ऊंच-नीच की भावना का विकास नहीं हो पाया था। अभी वर्णों के सापेक्षिक स्तर का निर्धारण भी नहीं हो सका था। यही कारण है कि स्थान-स्थान पर इन वर्णों का उल्लेख करते हुए वर्णन-क्रम में सामाजिक श्रेष्ठता का ध्यान नहीं रक्खा गया है। अथर्ववेद (१९.३२.८) तथा वाजसनेयी संहिता (२६.२) में चार वर्णों के उल्लेख-क्रम में शूद्र को तीसरा और उन्हीं

---

१. शत० ब्रा० १३.८.३.११

२. वही, १.१.४.१२, ब्राह्मण के लिए एहि, क्षत्रिय के लिए आगच्छ, वैश्य के लिए आद्रव और शूद्र के लिए आधव। इसमें वर्णों की सापेक्षिक प्रतिष्ठा के निर्धारण का प्रयास दिखाई देता है।

३. तै० ब्रा० १.१.४

४. शत० ब्रा० ५.३.२.११

५. वही २.१.३.४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

वैश्य को चौथा स्थान दिया गया है।[१] मैत्रायणी संहिता (प्रार्च
वैश्य का उल्लेख राजन्य के पूर्व हुआ है। अथर्ववेद (३.५.७) मे हो
राजन्य वैश्य शूद्र और आर्य का उल्लेख हुआ हैं। यहाँ आर्य शब्द विशि
ब्राह्मण के लिए हुआ प्रतीत होता है जो कुछ विचित्र लगता है। रत्न
ने तो ऋग्वेदिक युग से ही अपनी सामाजिक प्रधानता का प्रचार पुकार
कर दिया था।[२] उत्तर वैदिक साहित्य में इसी प्रधानता के लि ऐतरेय
और ब्राह्मणों का प्रच्छन्न संघर्ष मिलता है। किन्तु इन सभी प्रयास प्रयोग
हुए भी पुरुषसूक्त में उल्लिखित वर्णों का क्रम अभी सामाजिक दृष्टि से पूर्ण
प्रतिष्ठित नहीं हो सका था। यह कार्य इस युग के अन्त तक अंशतः
सफल हुआ क्योंकि इस समयतक वैश्य और शूद्र निश्चित रूप से तृतीय और
चतुर्थ वर्ण के अन्दर प्रतिष्ठित हो चुके थे किन्तु ब्राह्मणों और क्षत्रियों वर्ण
प्रधानता की समस्या का समाधान नहीं हो सका। इस संघर्ष की परम्परा
हमें बौद्ध साहित्य में भी दृष्टिगोचर होती है।[३]

वर्ण-व्यवस्था के विकास में धार्मिक परिस्थितियों का योग

वर्णों के इस विकास में तत्कालीन धार्मिक एवं आर्थिक परिस्थितियों
बड़ा योग था। धार्मिक क्षेत्र में नये मंत्रों की रचना का कार्य प्रायः
समाप्त हो चला था। इस युग में अधिकांशतः य
सम्बन्धी साहित्य का विकास हुआ तथा
साहित्य से सम्बन्धित ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना
हुई। यज्ञों की विधि तथा अनुष्ठान इतने विस्तृ
और जटिल हो गये कि अनुभवी और प्रशिक्षि
पुरोहित के अभाव में यज्ञ कार्य असम्भव हो
लगा। धीरे-धीरे सम्पूर्ण धार्मिक साहित्य ब्राह्मणों के अधीन हो गया
फलतः धार्मिक क्षेत्र में ब्राह्मणों का एकाधिकार स्थापित हुआ। वैसे स्वतन्त्र
रूप से यज्ञ करनेवाले लोग भी इस युग में अज्ञात नहीं थे[४] किन्तु उ

---

१. तै० सं० ५.३. १०. १–३, काठक सं० १७.५, वाज० सं० १४.२८-३
२. ऋ० ४.५०.८
३. बौद्ध साहित्य में स्थान-स्थान पर क्षत्रियों को ब्राह्मणों से श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास है।
४. ऐत० ब्रा० ७. २७ में विश्वन्तर और श्यपर्णस के विषय में बिना पुरोहित की सहायता से यज्ञ करने का उल्लेख है।
—द्रष्टव्य वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० २६२

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

थे।

ा पृथक् मानव समुदायों के लिये होता था किन्तु अब यह
ा के आन्तरिक विभाजन का प्रतीक बन गया। एक ओर तो सामंजस्य
समन्वय के माध्यम से अनार्यों के विशाल जनसमूह शूद्र नाम के अन्तर्गत
र्यों की सामाजिक व्यवस्था में अन्तर्भूत हो चतुर्थ वर्ण बने[१] और दूसरी
ार आर्यों का अपना समाज वर्ग-विभाजन की दिशा में इतना आगे बढ़
ुका था कि जन की आन्तरिक एकता विशृंखलित होने लगी। दासों के
विशुद्ध संघर्ष में अपनी समग्रता के रक्षा हेतु वैदिक जन अपने को मात्र आर्य
समझते थे किन्तु अपनी आन्तरिक व्यवस्था में वे केवल आर्य न रह कर
ब्राह्मण राजन्य और वैश्य हो चुके थे। ऐसी परिस्थिति में वैदिक ऋषियों
को आर्य वर्ण के अन्तर्गत तीन पृथक् वर्णों की कल्पना करनी पड़ी। इस
प्रकार जहां विकसित श्रम-विभाजन के आधार पर आर्य वर्ण तीन वर्णों में
विभाजित हुआ वहीं शूद्र वर्ण का उद्गमन आर्य सामाजिक व्यवस्था के
अन्तर्गत आर्येतर जनों के प्रवेश की सूचना देता है।[२]

पूर्व युग में आर्यों की सम्मिश्रण सम्बन्धी नीति पर्याप्त उदार थी। यद्यपि प्रारम्भ में आर्य अनार्य सम्पर्क बहुत कम हुआ फिर भी जो अनार्य आर्यों की व्यवस्था में अन्तर्भूत हुये उनके लिये पृथक् वर्ग की व्यवस्था नहीं हुई। सम्भवतः आर्यों की सामाजिक व्यवस्था में उन्हें वही स्थिति मिली जो उनके अपने देशी समाज में थी। निम्न स्थिति वाले अनार्य तथा युद्धबन्दी दास पारिवारिक सेवकों के रूप में आर्य परिवारों के सदस्य हो गये होंगे। अनार्या अथवा दासी के साथ वैवाहिक सम्बन्ध का निषेध ऋग्वेद में अज्ञात है। इसके विपरीत गंगा की घाटी में जब आर्यों और स्थानीय जनों का सम्पर्क काफी बढ़ गया तब अल्पसंख्यक विजेताओं की संस्कृति के लोप की शंका उत्पन्न हो गई और ऐसा लगा कि देशी जनता और उसकी संस्कृति के प्रवाह में आर्यों की अपनी परम्पराएँ विलीन हो जायगी अतः उन्होंने पार्थक्य की नीति को प्रोत्साहन दिया। साथ ही वे अनार्य जिन्हें शूद्र वर्ण के अन्तर्गत स्थान मिला, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत ही हीन थे। परिणामस्वरूप ये शीघ्रता पूर्वक विजेता की संस्कृति को नहीं अपना सके। इसके विपरीत आर्यों के लिये निम्नस्तरीय अनार्य संस्कृति में कोई आकर्षण नहीं था। यही नहीं इनकी कुछ इतनी

---

१. कैम्ब्रिज हिस्टरी आव इण्डिया, भाग १, पृ० ९६, १२८-२९
२. रामप्रसाद चन्दा, इण्डो-आर्यन रेसेज, पृ० ३६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

निष्कृष्ट परम्परायें भी थीं जिन्हें निश्चित रूप से शूद्रों की सामाजिक शस्त्र का एक सहायक कारण कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ श्वपाक श्वसाधन भक्षी थे और इसीलिये वे समाज में अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखे जा अपने इन नवोदित परिस्थितियों के परिणामस्वरूप शूद्रों के साथ स्वच्छन्द सम्मिक्या का विरोध हुआ और सामाजिक व्यवस्था उत्तरोत्तर रूढ़िग्रस्त और कर होने लगी। शूद्रों को समाज का अङ्ग मानते हुए भी उन्हें अन्य तीन वर्णों सांस्कृतिक जीवन से बहिष्कृत करने का प्रयास किया गया तथा उन्हें जातियों से पृथक् करने के लिये और धार्मिक एवं सामाजिक सुविधाओं हीन करने के लिये परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में विभिन्न प्रकार नियम बनाये गये। आर्यों के विस्तार पथ में जो भी नई जातियां आई वे अनायास शूद्र वर्ण के अन्तर्गत समाविष्ट हो गईं। इस प्रकार इस नई व्यवस्था से एक तरफ अनार्यों के आर्यीकरण की समस्या का सरलतापूर्व समाधान हुआ और दूसरी ओर अल्पसंख्यक होते हुए भी आर्यों की साम जिक और सांस्कृतिक प्रधानता सुरक्षित रही।

शूद्रों के बहिष्करण तथा सत्सम्बन्धी नियम-निर्धारण का समाज प बड़ा ही संक्रामक प्रभाव पड़ा। धीरे-धीरे समाज के उच्च वर्गों ने (ब्राह्मण और राजन्य) वैश्यों को भी अधिकार च्युत करना प्रारम्भ किया तथा अने प्रकार के नियमों की व्यवस्था द्वारा उनकी स्थिति को उत्तर वैदिक युग का अन्त तक शूद्रों के समकक्ष कर दिया। विश के सदस्य तक्षन और रथका- जो कभी यज्ञकर्म करते थे तथा सामाजिक प्रतिष्ठा के पात्र थे[1] धीरे-धीरे या, शूद्र वर्ण में परिगणित हुए। सूत्र-काल तक वैश्यों को भी शूद्रों की भां ग वाजपेय यज्ञ में प्रवेश से वंचित कर दिया गया।[2] वर्णों के बीच के अन्त भी को स्पष्ट करने के लिए विशिष्ट अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की व्यवस्था हो र थी तथा वर्णों के सापेक्षिक सामाजिक स्तर के निर्धारण का भी प्रयास हो र था। इस नवीन परिवर्तन के पीछे उच्च वर्गों की स्वार्थ भावना ही प्रब थी। वे अपने विशिष्ट व्यवसाय को अपनी सन्तानों के लिये भी सुरक्षि रखना चाहते थे अतः वे अपने वर्ग के चारों ओर दुर्भेद्य और अनुल्लंघनी

१. वाज० सं० ३०.६.७, अथर्ववेद ३.५.६, शत० ब्रा० १३.४.२.१७, हत ब्रा० १.१.४.८।

२. वाराह श्रौत सूत्र ३.१.१.१, किन्तु शांख्या० श्रौ० सू० के अनुसार १७.४) वैश्यों को वाजपेय यज्ञ में भाग लेने का अधिकार था।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

हीनता की पूर्ति अब ज्ञान से सम्भव नहीं थी। यह बात प्रायः प्रशस्त हो चली थी कि ब्राह्मणेतर व्यक्ति पौरोहित्य नहीं कर सकता है।[१] इस युग में एक भी विश्वामित्र नहीं हुआ जो क्षत्रियत्व से ब्राह्मणत्व की प्राप्ति कर सके।

श्रौत थे तथा यह विस्तृत एवं व्ययसाध्य यज्ञों को प्रोत्ते हुए यह सिद्ध करने का यही कारण है कि विशेष तौर से राजन्य वर्ग के लिए पुरो[illegible]रूप में था यिता को अनिवार्य बतलाया गया।[४] क्रमशः जब राजसत्ता निरंकुश और शब्दों में नुगत होने लगी तब समिति और सभा जैसी लोकप्रिय संस्थाओं का भी थे।[३] स प्रारम्भ हो गया। इस प्रकार राजसत्ता के विकास ने ब्राह्मणों की किया ति ही क्षत्रियों को भी अपेक्षाकृत एक वंशानुगत वर्ग में बदल दिया। व्या ह वर्ग बुद्धिजीवी ब्राह्मणों को तो विशेष हानि न पहुँचा सका किन्तु वैश्यों वि और शूद्रों के शोषण और उत्पीड़न सम्बन्धी इनका प्रयत्न युगीन सामाजिक ब्र इतिहास का करुण अध्याय है जिस पर हम अग्रिम पृष्ठों में विचार करेंगे।

आर्थिक विकास और सामाजिक व्यवस्था पर उसका प्रभाव

उत्तर वैदिक युग के सामाजिक विभाजन पर सर्वाधिक प्रभाव आर्थिक परिवर्तनों का पड़ा। गंगा की घाटी में पहुँच कर आर्यों ने अपनी आर्थिक स्थिति को अधिक समृद्ध किया। उनके कृषि और पशुपालन जैसे पैतृक व्यवसाय तो गंगा के उपजाऊ मैदान में विकसित हुए ही साथ ही सामाजिक जीवन में अनार्यों के प्रवेश के कारण विभिन्न व्यवसायों एवं उद्योग-धन्धों का विकास हुआ। सुख और उपभोग की विभिन्न वस्तुओं के निर्माण की मात्रा में वृद्धि तो हुई उनकी निर्माण कला में भी पर्याप्त परिष्करण हुआ। इस युग में आर्य नागरिक जीवन से भी उदासीन नहीं रह सके। मध्यदेश में नगरों

---

१. शत० ब्रा० १४. ४. १. २३।
२. वही।
३. विशामत्ताजनि, ऐत० ब्रा० ३९.३
४. ऐत० ८.२४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

निष्कृष्ट परम्परायें भी थीं जिन्हें निश्चित रूप से शूद्रों की सामाजिक शस्त्र का एक सहायक कारण कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ श्वपाक श्वसाधन भक्षी थे और इसीलिये वे समाज में अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखे जा अपने इन नवोदित इकाइयों में बदल गये। इस प्रकार वैश्य वर्ण के अ सम्मिलिया तारक विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई तथा विभिन्न व्यावसायि और कर। जातियों में परिणत होने लगे। इन नवोदित आर्थिक परिस्थिति वर्णों प्रभाव वर्णों के आपसी सम्बन्धों पर भी पड़ा। उत्पादन के साधनों की उन्हें के साथ ही श्रम की समस्या बढ़ने लगी जिसका समाधान विजित स्थ ाओं जनों को श्रमकार्य में नियोजित करके हुआ। अधिकांश शूद्र श्रमजीवी ब कार गये। परिणामस्वरूप इनमें और आर्य स्वामियों में सम्पर्क बढ़ा। इस सम्प र्क ने शूद्रों को जहां आर्यों की सामाजिक व्यवस्था का अविच्छिन्न अंग बना नई दिया वहीं इसके कुछ दुष्परिणाम भी हुए। आर्यों के उच्च वर्ग धीरे-धीरे र्व श्रमकार्य से उदासीन होने लगे तथा वैदिक युग के अन्त तक श्रम तथा म श्रमजीवियों को लोग हीन दृष्टि से देखने लगे। यही कारण है कि शूद्रों के साथ-साथ विश के वे सदस्य भी अनादृत और तिरस्कृत होने लगे जिनका प व्यवसाय पहले नितान्त आदरणीय और प्रतिष्ठित था। उत्तर-वैदिक युग के विभिन्न औद्योगिक संघों की गणना, जो विश के अंग थे, धर्मसूत्रों के काल तक शूद्र वर्ण के अन्तर्गत होने लगी। विचरार्ह है कि आर्थिक सम्पन्नता की पृष्ठभूमि में ही यज्ञ मूलक धर्म और राजसत्ता का विकास भी सम्भव हो सका।

वर्णों की वास्तविक स्थिति का अध्ययन करते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि उत्तर वैदिक साहित्य से प्राप्त कौन से प्रामाणिक अंश सामाजिक आदर्शों अथवा नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते

---

१. द्र० ऐन्श्येन्ट इण्डिया, नं० १०-११, पृ० १४, एक्सकेवेसन्स एट कौशाम्ब पृ० ५-६

२. कारपोरेट लाइफ इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ३७६।

२. वाराह श्रौत सूत्र ३.१.१.१, किन्तु शाख्या० श्रौ० सू० के अनुसार १७.४) वैश्यों को वाजपेय यज्ञ में भाग लेने का अधिकार था।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

हीनता की पूर्ति अब ज्ञान से सम्भव नहीं थी। यह बात प्रायः प्रशस्त हो चली थी कि ब्राह्मणेतर व्यक्ति पौरोहित्य नहीं कर सकता है।[१] इस युग में एक भी विश्वामित्र नहीं हुआ जो क्षत्रियत्व से ब्राह्मणत्व की प्राप्ति [illegible] सके।

करने का [illegible] सम्प्रदाय ने उक्त मत की आलोचना करते हुए यह सिद्ध जब स्त्रियाँ भी अशिक्षित होने के कारण [illegible] व्यावसायिक संघ के रूप असमर्थ हुईं तो उन्हें भी शूद्र कोटि में रखा गया [illegible] अध्ययन था।[२] दूसरे वैदिक साहित्य का अध्ययन और विशिष्ट यज्ञों में भा[illegible] हित्य में निपुण गया।[३] वैसे स्त्रियों की सामाजिक स्थिति के गिरने का [illegible] यास प्रयास वारों में बहुसंख्यक अनार्याओं का प्रवेश भी था।[४] ये अना[illegible] एवं उनकी मूलक धर्म से अपरिचित होने तथा आर्य भाषा के अल्पज्ञान के [illegible] गया है वतः यज्ञ सम्बन्धी कृत्यों में अनेक त्रुटियां करती रही होंगी। यहां [illegible] न्यूत्र कि इनके विरुद्ध समाज की जो प्रतिक्रिया हुई उसके परिणामस्वरूप उ[illegible] वैदिक युग से ही स्त्रियों की गणना शूद्रों के साथ होने लगी तथा उ[illegible] व्यक्तित्व में अपवित्रता का आरोप हुआ।[५] वैदिक ऋषियों ने युगी सामाजिक विभाजन को धार्मिक पृष्ठभूमि प्रदान करने के लिए देवताओं भी चार वर्णों में विभाजित किया जिसके अनुसार अग्नि, वृहस्पति इत्य ब्राह्मण हुये, इन्द्र, वरुण और सोम क्षत्रिय कहे गये। रुद्र, आदित्य, [illegible] विश्वदेव को वैश्य और पूषन को शूद्र कहा गया।[६]

यह युग धार्मिक परम्पराओं के साथ-साथ राजशक्ति के विकास [illegible] पर युग था। धीरे-धीरे राज्य विशालकाय एवं स्थायी होने लगे। [illegible] ता के वाजपेय जैसे यज्ञों की व्यवस्था हुई जिनके कारण राजन्य वर्ग [illegible] ष और में अतीव वृद्धि हुई। कालक्रम से क्षत्रियों की प्रभुता का प्रभाव [illegible] जिस

---

१. शत० ब्रा० ६. २. १. ३७ पृ० ८६
२. शत० ब्रा० १४, १. १. १३
३. शांखा० ब्रा० २७. ४, अयज्ञियावै पत्न्यो बहिर्वेदिहिताः।
४. को [illegible] राजा की चतुर्थ पत्नी पालागली शूद्रा ही हुआ करती थी।
५. [illegible] ब्रा० १४. १. १. १३।
६. १. वाज० [illegible] १. १०. १३., शत० ब्रा० १४. ४. २.
७. [illegible]
८. [illegible] ब्रा० १२.१२.६, १८.१

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

निष्कृष्ट परम्परायें भी थीं जिन्हें निश्चित रूप से शूद्रों की सामाजिक शस्त्र का एक सहायक कारण कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ श्वपाक श्वसाधन भक्षी थे औ... में अत्यन्त घृणा की दृष्टि ...खे जा अपने ...क इकाइयों में बदल गये। इस प्रकार वंश्य ...र्ण के ...न्द सम्मिलिया ...रिक विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई तथा ... जातियों में परिणत होने लगे। इन ...ए गोत्र और ...सायि और कर। प्रभाव वर्णों के ... आते तो यहाँ तक नियम ...स्थिति तीन वर्णों ...के ... ...ाह्य परिस्थितियों ने जहाँ सा... नहीं कर सकता जिसका ...ों की उन्हें ...किया वहीं अधिकारों के स्वामित्व ... दस (लाट्यायन) ...स्थ विधाओं ...को पारस्परिक सीमा निर्धारण के लिवा ...णों के प्रतिस्पर्धी थे ...वी ब... प्रकार ...वार्थों की रक्षा तथा उनमें भावी हस्त... यज्ञ-धर्म से विरत ...न सम्प... सम्पर्क ...शी... रूप से उपस्थित थीं। इस युग के सामा... याति भी मिली। ...ग बना इस नई ...यह स्प... निर्माण इसी दृष्टि से हुआ। समाज में ...वशिष्ट वर्ग बनाने ...रे-धीरे तापूर्व ...ामक परम्पर... शक्तिशाली था। विविध नियमों की स्था... विशाल धार्मिक ... तथा साम ...हत्य एवं सूक्ष्म ही विशेषाधिकार हो गया था। परिणा... पृथक् वर्ग की ...शूद्रों के ...ति अनिवार्य हो प्रसंगों का उल्लेख पाते हैं जहाँ ब्रह्म औ... यज्ञ के सम्पादन ...जिनका ...ाज प... ...दि किसी प्रका... अथवा निवेदन है।[1] निश्चय ही विश... ...प्सित फल की ...क युग के ब्राह्मण ...के विरुद्ध कि... एकपक्षीय एवं अभूतपूर्व मान्यताओं का ...मों ने धर्मभीरु ...के काल ...या अने... ...को इस बात साहित्यिक साक्ष्यों से ऐसा लगता है कि ...पुरोहितों से ही ...म्पन्नता, युग ...में सहायत... को अपनी सामाजिक उच्चता तथा विशे... ...क अनुष्ठानों के ...म्भव हो रथका... ...में ये अधिव... ...त के लिए भी ...ीरे-धी... ...ी क्रियाओं ... अनिवार्य था ...बात का की भां... ...विधि-वि... ...भूल का दुष्परि- ...प्रामा-के अन्त भी ...भी ...ना पड़ता था। ...ब्राह्मण (१. ७. ३. १९) ...करते हो र... ...पादन में कुछ त्रुटि हो जाने के कारण एक पुरो- ...स हो र... ...या था। यज्ञ के अवसर पर अपने उत्तर-दायित्व ...शाम्... ...ा ही प्रब... ...करने के कारण आषाढ़ि सौश्रोमतेय नामक पुरोहित ...भी सुरक्षि... ...अनुल्लंघनं... १

१. वाज० सं० ५. २७।

६

...तस्यदेवाः अन्नं अदन्ति, ऐत० ब्रा० ४०. १ ...२.१७, ...हत ...र, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आव कास्ट इन इण्डि... ...ांख्या० श्रौ० सू० के अनुसार ...यज्ञ में भाग लेने का अधिकार था।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj, Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

हीनता की पूर्ति अब ज्ञान से सम्भव नहीं थी। यह बात प्रायः प्रशस्त हो चली थी कि ब्राह्मणेतर व्यक्ति पौरोहित्य नहीं कर सकता है।[१] इस युग में एक भी विश्वामित्र नहीं हुआ जो क्षत्रियत्व से ब्राह्मणत्व की प्राप्ति कर सके।

श्री रमेशचन्द्र मजुमदार ने उक्त मत की आलोचना करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ब्राह्मणों का वर्ग एक व्यावसायिक संघ के रूप में था जिसकी सदस्यता का आधार जन्म नहीं बल्कि वेदाध्ययन था।[२] दूसरे शब्दों में ब्राह्मण केवल वे थे जो वेदों के विद्वान थे तथा पौरोहित्य में निपुण थे।[३] उक्त विद्वान ने अपने मत की स्थापना का सतर्क एवं सायास प्रयास किया है किन्तु पुष्टि के लिए दिये गये प्रमाण या तो शिथिल है अथवा उनकी व्याख्या पूर्वाग्रह से प्रभावित है। शतपथ ब्राह्मण में यह अवश्य कहा गया है कि याज्ञवल्क्य की शिक्षा से जनक ब्राह्मण हुए।[४] किन्तु इसी ग्रन्थ में अन्यत्र ब्राह्मणों ने जनक के द्वारा धार्मिक विवाद में पराजित होने पर उन्हें राजन्य बन्धु कहा है।[५] इसी प्रकार वृहदारण्यक उपनिषद में प्रवाहण जैवलि नामक पंचाल नरेश को भी राजन्य-बन्धु कहा गया है।[६] निश्चय ही ये दोनों नरेश वैदिक साहित्य एवं धर्म के प्रकाण्ड पंडित थे किन्तु इन्हें कहीं भी स्पष्टतः ब्राह्मण-वर्ग के अन्तर्गत स्थान नहीं दिया गया है। शतपथ ब्राह्मण (११.६.२ १०) में जहां जनक को ब्राह्मण कहा गया है उसका तात्पर्य मात्र उनके ब्रह्म-ज्ञान का सूचक है न कि ब्राह्मण वर्ग की सदस्यता का।[७]

यदि ब्राह्मणेतर वर्ग के लोग अपने ज्ञान और विद्वत्ता के आधार पर ब्राह्मणत्व की प्राप्ति में समर्थ होते तथा ब्राह्मणों के संघ की सदस्यता के अधिकारी होते, जैसा कि मजुमदार महोदय सोचते हैं, तो राजर्षि और देवराजन जैसे शब्दों तथा सम्बोधनों की आवश्यकता नहीं होती।[८] जिस

१. एन० के० दत्ता, ओरजिन एण्ड ग्रोथ आव कास्ट इन इण्डिया, पृ० ८६
२. कारपोरेट लाइफ इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ३४०–४१।
३. वही।
४. शत० ब्रा० ११.६.२.१०।
५. वही ११.६.२.५।
६. वृ० उप० ६.१.५।
७. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० २७२।
८. पंच ब्रा० १२.१२.६, १८.१०.५।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

समय याज्ञवल्क्य ने कुछ ब्राह्मण-ऋषियों को, जो जनक से धार्मिक वाद-विवाद के लिये उद्यत थे, ऐसा करने से रोका, उस समय के उनके तर्क निश्चय ही बड़े महत्वपूर्ण है। उनका कहना था कि 'हम लोग ब्राह्मण हैं किन्तु जनक केवल क्षत्रिय हैं। यदि हमने उन्हे पराजित किया तो इस विजय की बात हम किससे कहेंगे। इसके विपरीत यदि उन्होंने हमें पराजित किया तो सभी यह कहेंगे कि एक क्षत्रिय ने ब्राह्मणों को पराजित किया। अतः ऐसा कार्य आप लोग मत करें।, याज्ञवल्क्य के इस कथन से प्रकट होता है कि जनक-विद्वत्ता अथवा वैदिक ज्ञान के फलस्वरूप ब्राह्मण होने में कदापि समर्थ नहीं हुये थे। इस प्रसंग में श्री मजुमदार का मत अवश्य ही एक भ्रान्त दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है क्योंकि वह एकाकी प्रसंगों पर आधारित है।

अपने मत की पुष्टि के लिए मजुमदार महोदय तैत्तिरीय संहिता और मैत्रायणी संहिता के दो अंश उद्धृत करते हैं। तै० सं० में कहा गया है 'जो वेदों का ज्ञाता और आर्षेय है वही ब्राह्मण ऋषि है।'[१] मैत्रायणी संहिता तथा काठक संहिता में कहा गया है कि ब्राह्मण के माता-पिता के विषय में क्या पूछते हो ? जो श्रुतिवान है वही ब्राह्मण का पिता और पितामह है।[२] इन प्रसंगों से निश्चय ही ज्ञान को ब्राह्मण का प्रधान गुण तथा ब्राह्मणत्व का मूल आधार बतलाया गया है किन्तु यह वर्णन हमारे समक्ष समाज का वास्तविक चित्र नहीं प्रस्तुत करता। हम ऊपर देख चुके हैं कि शक्तिशाली राजन्य वर्ग के लिए भी विद्वत्ता एवं ज्ञान के आधार पर ब्राह्मणत्व का गौरव प्राप्त करना असम्भव था फिर विश के अन्य सदस्यों के विषय में क्या कल्पना की जाय। ऐसी स्थिति में इन प्रसंगों से केवल इतना अनुमान करना युक्ति संगत होगा कि ये ब्राह्मणत्व विषयक सामाजिक आदर्श का प्रतिपादन करते हैं जो वंशानुगत पौरोहित्य की प्रतिक्रिया के रूप में यत्र तत्र संकलित हैं यथार्थ जीवन में इन आदर्शो का कोई प्रभाव नहीं था।

मजुमदार महोदय ने ऐतरेय ब्राह्मण का वह अंश भी उद्धृत किया है जिस में इस बात का संकेत है कि क्षत्रिय यज्ञकार्य में तब तक दीक्षित नहीं

---

१. एष वै ब्राह्मण ऋषिरार्षेयो यः शुश्रुवन्—तै० सं० ६.६.१.५।

२. काठक सं० ३०.१, मै० सं० ४८.१, १०७.६
किं ब्राह्मणस्य पितरम् किं उ पृच्छसि मातरम्
श्रुतः चेद् अस्मिन् वेद्यम स पिता स पितामहः।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

हो सकता जब तक वह अपने अस्त्र-शस्त्रों (तीर धनुष) तथा राजकीय वस्त्रों का त्याग कर ब्राह्मणोचित वस्त्र धारण करके, ब्राह्मण के रूप में, ब्राह्मण होकर, यज्ञ के लिये न प्रस्तुत हो।[१] मजुमदार महोदय इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालते है कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों में कोई खास भेद नहीं था। दोनों अपने व्यवसाय एवं जीवन पद्धति में परिवर्तन के साथ वर्ण-परिवर्तन भी कर सकते थे।[२] शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि 'जो कोई यज्ञ करता है, ऐसा मान कर करता है कि मानों वह ब्राह्मण हो।[३] कात्यायन ने अपने श्रौतसूत्र में कुछ और स्पष्ट करते हुये कहा है कि 'वैश्य और राजन्य को भी ब्राह्मण शब्द से ही सम्बोधित करना चाहिए।[४] इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार ने लिखा है कि यज्ञ के लिये दीक्षित वैश्य और राजन्य को, यह राजन्य या वैश्य दीक्षित हुआ है, ऐसा नहीं कहना चाहिये, बल्कि 'यह ब्राह्मण दीक्षित हुआ है ऐसा कहना चाहिये।[५] इस प्रसंग में हमें यह नही भूलना चाहिये कि ये आदेश यज्ञ से सम्बन्धित हैं। यज्ञकर्ता क्षत्रिय जब यज्ञ के लिये दीक्षा लेता था तब वह ब्राह्मण की भांति ही पवित्र माना जाता था। साथ ही वह ब्राह्मणोचित नियमों का आचरण भी करता था किन्तु यजमान की यह पवित्रता तथा उसका ब्राह्मणत्व यज्ञ की अवधि तक ही सीमित था।[६] इसमें उसके स्थायी ब्राह्मणत्व का कोई भी संकेत नहीं है। यहाँ केवल ब्राह्मणों और यज्ञों की पवित्रता पर ही यथेष्ठ प्रकाश पड़ता है।

ऐतरेय ब्राह्मण में प्राप्त शुनःशेप की कथा इस बात की पुष्टि करती है कि ब्राह्मण की श्रेष्ठता केवल वेदाध्ययन एवं विद्वत्ता के कारण नहीं थी। एक बालक भी ब्राह्मण परिवार में जन्म मात्र के कारण श्रेष्ठ और पवित्र समझा जाता था।[७] हरिश्चन्द्र के पुत्र के बदले जब शुनःशेप के बलि की व्यवस्था हुई तब सन्तोष प्रकट करते हुये वरुण ने यह कहा कि 'निश्चय ही एक

---

१. ऐत० ब्रा० ७.१७, शत० ब्रा० ३.२.१–३९।
२. कारपोरेट लाइफ इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ३३८।
३. शत० ब्रा० १३.४.१.३
४. कात्यायय श्रौ० सू० ६.४.१२
५. म्यूर, संस्कृत लिटरेचर, भाग १, पृ० ३६९
६. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० २६३
७. ऐत० ब्रा० ३३.४, भूयान्वे ब्राह्मणः क्षत्रियादिति वरुण उवाच।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

ब्राह्मण क्षत्रिय से अधिक उपयुक्त है'। शुनःशेप एक बालक था। वैदिक साहित्य में इस बात का कोई संकेत नहीं है कि वह इस अल्पायु में ही विद्वान अथवा पौरोहित्य करने में समर्थ था। फिर भी उसे ब्राह्मण कहा गया और क्षत्रिय से श्रेष्ठ बताया गया। इस कथानक से दो बातें स्पष्टतः प्रमाणित होती हैं। प्रथम तो यह कि ब्राह्मण का पुत्र जन्म के कारण ब्राह्मण वर्ग का सदस्य था। दूसरे वह जन्म की पवित्रता के कारण ही क्षत्रियादि-अन्य वर्णों से श्रेष्ठ भी था। ऐसी स्थिति में ब्राह्मण वर्ग को ज्ञान और कर्म पर आधारित व्यावसायिक संघ बतलाना दुराग्रह मात्र होगा। शतपथ ब्राह्मण में ब्राह्मणों की विशेषताओं का उल्लेख करते हुये उनकी एक विशेषता 'ब्राह्मण्य या वंश की शुद्धता' (Purity of descent) बताई गई है।[1] निश्चय ही यह ब्राह्मण्य शब्द वंशानुगत ब्राह्मणत्व की ओर संकेत करता है अन्यथा यदि सभी वर्ण के लोग ब्राह्मण होने में समर्थ होते तो फिर वंश की शुद्धता का कोई महत्व ही नहीं था। वास्तव में यहाँ ब्राह्मण्य शब्द का अर्थ ब्रह्मपुत्र होना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। उत्तर वैदिक साहित्य में ब्रह्मपुत्र शब्द का भी प्रयोग हुआ है। शतपथ ब्राह्मण तथा सूत्र साहित्य से ज्ञात होता है कि ब्रह्मपुत्र एक सम्मान सूचक शब्द था।[2] बृहदारण्यक उपनिषद (६.४.२९) से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण का पुत्र होना बड़े गौरव का विषय था। इन सभी प्रमाणों के सामूहिक साक्ष्य से सिद्ध होता है कि ब्राह्मण भी वंशानुगत हो चला था तथा मात्र जन्म के कारण ब्राह्मण आदरणीय समझा जाने लगा था। वैसे अध्ययन, अध्यापन और पौरोहित्य ब्राह्मणों के प्रधान धर्म थे अतः उनके लिए विद्वान और श्रुतिवान होना सर्वथा स्वाभाविक था। सम्पूर्ण उत्तर वैदिक साहित्य में निश्चयपूर्वक केवल एक उदाहरण सत्यकाम जाबाल का मिलता है जिसे गौतम हरिद्रुमत ने अज्ञात-गोत्र होने पर भी उपनीत किया किन्तु इस प्रसंग में भी गौतम ने उसे दीक्षित करते हुए जो तर्क उपस्थित किये वे विशेष महत्वपूर्ण हैं। गौतम ने सत्यकाम से कहा था, सच्चे ब्राह्मण के अतिरिक्त और कोई ऐसी सच्ची बात नहीं कह सकता, जाओ सोम्य समिध लाओ। मैं तुम्हें–उपनीत करूंगा क्योंकि

---

१. शत० ब्रा० ११.५.७.१ : श्री मजुमदार ने भी ब्राह्मण्य का अर्थ वंश शुद्धता ही स्वीकार किया है। — पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३३४

२. शत० ब्रा० ११.४.१.२.९ : आश्वलायन श्रो० सू० २.१८.१२ : शाखा० श्रौ० सू०, १२.२१, १.२.

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

तुम सत्य से भ्रष्ट नहीं हुये।[१] इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्यकाम की दीक्षा के पीछे गौतम द्वारा कल्पित उसका ब्राह्मणत्व ही था। विचारणीय है कि उपनिषद युग का विशिष्ट विद्वान होते हुये भी स्पष्टतः उसे कहीं भी ब्राह्मण नहीं कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि गौतम हरिद्रुमत की कृपा से उसे वैदिक साहित्य एवं वाङ्मय का ज्ञान तो हुआ किन्तु फिर भी समाज ने उसके ब्राह्मणत्व को नहीं स्वीकार किया।

सामाजिक प्रधानता

ब्राह्मणों ने एक ओर जहाँ अपने को वंशानुगत एवं प्रवेशनिषिद्ध वर्ग में संगठित किया वहीं अपनी सामाजिक प्रधानता को भी स्थिर करने का प्रयास किया। उत्तर वैदिक युग तक ब्राह्मण वर्ग समाज में विशेष सम्मान्य समझा जाने लगा था। ऋग्वेद में इनका उल्लेख पितरों के साथ हुआ है तथा यह भी कहा गया कि वही राजा सुख-शान्तिपूर्वक अपने घर में निवास करता है जो ब्राह्मणों का आदर करता है। ऐसा करने वाले राजा के लिये पृथ्वी सदैव उदार रहती है तथा सभी मनुष्य स्वेच्छया उसके समक्ष नत होते है[२]। ब्राह्मण की श्रेष्टता का यह उद्घोष उत्तर वैदिक युग तक और भी प्रबल हो उठा। तैत्तिरीय संहिता में उसे प्रत्यक्ष देवता कहा गया है[३]। तैत्तिरीय ब्राह्मण में उसे दिव्य वर्ण वाला कहा गया है[४] तथा तैत्तिरीय आरण्यक में ब्राह्मणों की विद्वता का उल्लेख करते हुये कहा गया है समस्त देवता ब्राह्मणों में निवास करते हैं[५]। ताण्ड्य ब्राह्मण में उसे क्षत्रिय से उच्च स्थान दिया गया है[६]। इसी ग्रन्थ में अन्यत्र ब्राह्मण की महत्ता प्रकट करने के लिये उसे विराट पुरुष के मुख से निस्सृत कहा गया है[७]। ऐतरेय ब्राह्मण ३४, ४ में उसे क्षत्रिय से अधिक पवित्र और श्रेष्ठ माना गया है। अथर्वेद ५. १७. ८ और ५. १७. १९ में भी ब्राह्मणों की प्रधानता की

---

१. छान्दोग्य उप० ४.४. ५, तं होवाचनैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति,
२. ऋ० ४, ५०. ८.
३. तै० सं० १. ७. ३१: एते वै देवाः प्रत्यक्ष यद् ब्राह्मणाः।
४. तै० ब्रा० १.२.६।
५. तै० आ० २.१५।
६. ताण्ड्य ब्रा० ११.१.२ ब्रह्म हि पूर्वं क्षत्रात्।
७. ताण्ड्य ब्रा० ६.१.६ 'मुखेन वीर्यं करोति मुखतोहिसृष्टः'।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

प्रतिध्वनि सन्निहित है। ब्राह्मणों का यह दावा अधिकांशतः समाज द्वारा मान्य हो चला था[१]।

ब्राह्मणों की इस मान्यता का मूल कारण उनका धार्मिक नेतृत्व था। जैसे-जैसे यज्ञादि धार्मिक क्रियाओं की महत्ता तथा मंत्रपाठ की शुद्धता की आवश्यकता बढ़ती गई वैसे ही वैसे अन्य वर्णों की अपेक्षा ब्राह्मणों की श्रेष्ठता भी स्थापित होती गई। पुरोहित राजा की सफलता तथा समृद्धि के लिये विभिन्न प्रकार के अनुष्ठान एवं यज्ञ करता था। वह राजा के धार्मिक जीवन में पुरोहित था तथा राजनैतिक विषयों में परामर्शदाता सचिव।[२] उत्तर वैदिक युग में पौरोहित्य अत्यन्त विकसित रूप में मिलता है। पुरोहितों के पास मंत्र, तंत्र, जादू-टोने का विशाल भंडार एकत्र हो गया था जिसे लोग राजा और प्रजा दोनों की सुरक्षा एवं समृद्धि का सर्वाधिक व्यावहारिक और विशिष्ट साधन मानने लगे थे।[३] ब्राह्मणों ने जीवन के विविध क्षेत्रों में विशेषाधिकारों का भी सृजन किया। उनके पीछे अपनी योग्यता और सेवा का न्यूनाधिक प्रतिदान प्राप्त करने की कामना ही प्रधान थी। शतपथ ब्राह्मण (९.५.७.१) में जहाँ ब्राह्मणों के गुणों का वर्णन करते हुए ब्राह्मण्य, प्रतिरुपचर्य्या, यश, और लोकपंक्ति का निर्देश हुआ है वहीं उन्हें अर्चा (सम्मान) दान, अजेयता और अवध्यता का भी अधिकारी बतलाया गया है।[४] अपने को आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ करने के लिये ब्राह्मणों ने धर्मकार्यों में पुरोहित की सहायता को अनिवार्य बतलाया। ऐतरेय ब्राह्मण (८.२४) से ज्ञात होता है कि राजा के लिए पुरोहित अनिवार्य माना जाता था। अन्यत्र

१. उत्तर वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर इनके प्रति आदर और सम्मान व्यक्त किया गया है। (काठक सं० २५.३, तै० ब्रा० १.१.१०.६, शत० ब्रा० २.४.१.१०, ३.४.६ आदि। शत० ब्रा० १४.६.१.२ में उन्हें भगवन्त कहा गया है तथा काठक सं० १९.१२ में कहा गया है कि ब्राह्मण जहाँ कहीं भी जाय भोजनादि से उसकी सेवा तथा स्वागत करना चाहिये।

२. ब्लूमफील्ड, अथर्ववेद एण्ड गोपथ ब्राह्मण, पृ० ३२।

३. अथर्ववेद एण्ड गोपथ ब्राह्मण, पु० ३०

४. प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मण निष्पादयति ब्राह्मण्यं, प्रतिरुपचर्या, यशो, लोकपंक्तिं लोकं पच्यमानश्चतुर्भिः धर्मैः ब्राह्मण भुनक्ति अर्चया च दानेन चाज्येयतया चावध्यतया च।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

इसी ग्रन्थ में कहा गया है कि पुरोहितविहीन राजा का अन्न देवता नहीं स्वीकार करते अतः यज्ञ कार्य के लिये अभिलषित राजा को पुरोहित की सहायता लेनी चाहिये।[१] उत्तर-वैदिक साहित्य में स्थान-स्थान पर देवताओं और असुरों को भी पुरोहितों से युक्त बतलाया गया है और इस प्रकार धार्मिक कार्यों में पुरोहितों के महत्व को परोक्ष रूप में प्रकट किया गया है। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार विश्व रूप देवताओं का पुरोहित था।[२] काठक संहिता (४.४) में सणु और अमर्क को देवताओं का पुरोहित कहा गया है। ये पुरोहित दक्षिणा और दान के रूप में अधिक से अधिक धन प्राप्त करने का प्रयास करते थे[३] तथा लोगों को गोदान आदि का महत्व बता कर दान की ओर प्रेरित करते थे। ब्राह्मणों को दान देना देवताओं को दान देने के समान समझा जाता था। ब्राह्मणों एवं उपनिषदों के काल में ऐसे अनेक राजा हुये जिन्होंने ब्राह्मण विद्वानों को प्रभूत धन राशि दी। इस प्रकार के राजाओं में विदेहराज जनक का नाम आदर से लिया जा सकता है। ब्राह्मणों ने अपनी अर्थलिप्सा की पूर्ति के लिये यहां तक नियम बनाया कि जो गायें जोडुवे बछड़ों को जन्म दें उन्हें ब्राह्मणों को दान कर दिया जाय[४]। इतना ही नहीं ब्राह्मणों ने अपने को आर्थिक शोषण से भी मुक्त करने का प्रयास किया। अथर्ववेद में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि उनकी गायों को अब्राह्मण नहीं खा सकते। यज्ञ की अवशिष्ट सामग्री के उपभोग का अधिकारी भी एकमात्र ब्राह्मण ही था[५] क्योंकि देवताओं द्वारा भुक्तपदार्थ के उपभोग के लिये जिस पवित्रता की अपेक्षा थी वह ब्राह्मण के ही अन्दर थी। ऐतरेय ब्राह्मण ब्राह्मणों को आदायी और आपायी कहता है जिससे उनके दान ग्रहण करने और सोम रस पीने के विशेषाधिकारों की पुष्टि होती है[६]। दान ग्रहण करने के सम्बन्ध में उनका एकाधिकार इतना प्रबल हो उठा

---

१. ऐत० ब्रा० (४०. १) न वा अपुरोहितस्य देवाः अन्नं अदन्ति तस्माद्राजा यज्ञयमाणो ब्राह्मणं पुरोदधीत देवा मे अन्नम् अदन्निति।

२. तै० सं० २. ५. १ १, विश्वरूपो वैत्वाष्ट्रः पुरोहितो देवानां आसीत्।

३. ऐत० ब्रा० ३९. ६. २, ८ और ९

४. अथर्ववेद २. २८. ३

५. शत० ब्रा० २. ३. १. ३९

६. ऐत० ब्रा० ७. २९. २

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

था कि पंचविंश ब्राह्मण[१] में तरन्त और पुरुमिल्ह द्वारा दान ग्रहण के औचित्य को सिद्ध करने के लिये इस बात की ओर संकेत किया गया है कि उन्होंने ऋग्वेद की ऋचाओं की रचना की थी[२]। इससे यह ज्ञात होता है उत्तरवैदिक युग तक दान ग्रहण करने के लिये ब्राह्मण ही सुपात्र समझे जाते थे। ब्राह्मणों ने अपनी दान वृत्ति को तुच्छता से बचाने के लिये नियम बनाया कि उन्हें दान में ऐसी वस्तु नहीं ग्रहण करनी चाहिये जो अन्य वर्णों के लोगों द्वारा अस्वीकृत हो[३]।

विशेषाधिकार

सामाजिक जीवन में ब्राह्मणों के कुछ ऐसे विशेषाधिकार थे जो उनकी श्रेष्ठ स्थिति का संकेत करते हैं। तैत्तरीय संहिता के अनुसार राजा ब्राह्मण को अपशब्द कहने वाले व्यक्ति को तथा ब्राह्मण को यातना देने वाले व्यक्ति को दण्डित करें। ब्राह्मणका रक्त बहाने वाला व्यक्ति पितरों के लोक को नहीं प्राप्त करता।[४] इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्राह्मणों को शारीरिक कष्ट देने वाले तथा उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचाने वाले लोगों के विरुद्ध राजकीय दण्ड तथा दैविक अभिशाप दोनों की कामना की गई। यह निश्चयपूर्वक कहना प्रायः कठिन है कि ब्राह्मणों द्वारा स्थापित इन विशेषाधिकारों को कहां तक सामाजिक मान्यता प्राप्त हो सकी थी। अथर्ववेद के अनुसार यदि किसी स्त्री के दस अब्राह्मण पति हों और ब्राह्मण उसका ग्यारहवाँ पति बने तो वही उसका वास्तविक पति होगा न कि वैश्य अथवा राजन्य।[५] इस कथन से ब्राह्मणों की सामाजिक श्रेष्ठता प्रमाणित होती है। बहुत बाद तक समाज में अन्तर्जातीय विवाह के क्षेत्र में अनुलोम विवाह को जो मान्यता मिलती रही उसके पीछे भी मूलतः ब्राह्मणों की यह स्वार्थ भावना ही निहित प्रतीत होती है।

---

१. पंच० ब्रा० १३.७.१२
२. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ८३
३. शत० ब्रा० ३. ५. १. २५. १३. ४. ३. १४
४. तै० सं० २.६.११
५. अथर्ववेद ५.१७.९

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

ब्राह्मणों ने सर्वाधिक प्रयास राजसत्ता के प्रभाव से मुक्त-होने के लिये किया। राज्यारोहण के अवसर पर पुरोहित कहता था, 'हे मनुष्यों! यह व्यक्ति तुम्हारा राजा है। (किन्तु) ब्राह्मणों का राजा सोम है।'[१] इस प्रकार वे अपने को राजा के शासन से मुक्त मानते थे। इसी ग्रन्थ में अन्यत्र यह कहा गया है कि जब राजा भूमि तथा उससे सम्बन्धित अन्य वस्तुओं को पुरोहित को दान देता है तो इस दान के अन्तर्गत ब्राह्मण की सम्पत्ति नहीं शामिल हो सकती।[२] राजा केवल मूर्ख पुरोहित को छोड़ कर अन्य किसी भी ब्राह्मण को किसी प्रकार की यातना देने का अधिकारी नहीं था।[३] तैत्तरीय संहिता में ऐसा कहा गया है कि यदि किसी व्यक्ति के पास ब्राह्मण और अब्राह्मण कोई प्रश्न लेकर जांय तो उस व्यक्ति को पहले ब्राह्मण से बोलना चाहिए नकि अब्राह्मण से। ऐसा करने से वह व्यक्ति ब्राह्मण का नहीं स्वयं अपना आदर करता है।[४] दूसरा अर्थ यहु भी हो सकता है कि यदि ब्राह्मण और अब्राह्मण किसी व्यक्ति से यह पूछें कि कौन बड़ा है तो उसे ब्राह्मण की प्रधानता घोषित करनी चाहिये। वैदिक इण्डेक्स के लेखकों तथा डा० घुरिये ने इस प्रसंग को न्याय व्यवस्था से सम्बन्धित करते हुये कहा है कि ब्राह्मण और अब्राह्मण में वैधानिक विरोध (Legal disPute) उत्पन्न होने पर निर्णायक को प्रथम के पक्ष में बोलना चाहिये।[५] परन्तु इस मत को स्वीकार करने में पर्याप्त कठिनाई है। प्रथम यह कि इस प्रसंग में कोई ऐसा स्पष्ट संकेत नहीं है जिसके आधार पर इसे न्याय-व्यवस्था से सम्बन्धित किया जा सके। दूसरे प्रोफेसर कीथ ने स्वयं 'अधिब्रू' शब्द का अर्थ करते हुये इस बात में सन्देह प्रकट किया है कि यहाँ

राजसत्ता के प्रभाव से मुक्ति का प्रयत्न

---

१. शत० ब्रा० ११.५.७.१
२. शत० ब्रा० १३.५.४.२९, ६.२.१८, ७.१.१३
३. शत० ब्रा० १३.४.२.१७
४. तै० सं० २.५.११.९
यद् ब्राह्मणाश्चाब्राह्मणाश्च प्रश्नमेयातां ब्राह्मणायाधिब्रूयाद्यद् ब्राह्मणायाध्याहात्मनेध्याह यद् ब्राह्मणं पराहात्मानं पराह तस्मात ब्राह्मणो न परोच्यः।
५. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ८३

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

इसका तात्पर्य 'निर्णय करना' ही होगा।[१] उन्होंने यह स्वीकार किया है कि अधिब्रू शब्द का अर्थ बोलना' (Speak to) भी हो सकता है। तीसरे जहाँ स्मृतियों में ब्राह्मणों द्वारा अनेक सुविधाओं की प्राप्ति का अन्ध प्रयास मिलता है उन्हें न्याय के ऊपर उठाने का प्रयास कहीं भी नहीं है। यदि तैत्तिरीय संहिता में ऐसी कोई व्यवस्था होती तो अवश्य ही स्मृतिकारों ने उसकी प्रामाणिकता का लाभ उठाकर न्याय के क्षेत्र में भी विशेषाधिकारों की स्थापना का प्रयत्न किया होता।[२] ब्राह्मणों की हत्या को अवश्य ही महापातक समझा जाने लगा था। शतपथ ब्राह्मण के एक प्रसंग में ब्राह्मण की हत्या को ही वास्तविक हत्या माना गया है।[३] अब्राह्मण की तुलना में ब्राह्मण का वध एक गुरुतर अपराध था जिसकी तुलना भ्रूणहत्या से की गई है।[४] ब्रह्महत्या का प्रायश्चित अश्वमेध यज्ञ से होता था।[५] इसके विपरीत पंचविंशब्राह्मण (१४.६.८) से ज्ञात होता है कि पुरोहित यदि अपने संरक्षक के साथ विश्वासघात करे तो उसे मृत्यु दण्ड भी दिया जा सकता था। निश्चय ही यह नियम एक असाधारण स्थिति की ओर संकेत करता है।

उपर्युक्त वर्णन से हमें ऐसा नहीं समझना चाहिये कि ब्राह्मणों ने सामाजिक जीवन में केवल विशेष सुविधाओं की प्राप्ति का ही प्रयास किया बल्कि अपने कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों के प्रति

उत्तरदायित्व एवं कर्तव्य : भी वे प्रयास सजग रहे। उन्होंने अपने को सामाजिक आदर्श का प्रति-रूप बनाने का प्रयास किया। ब्राह्मण के लिए प्रतिरूपचर्य्या (चरित्र की शुद्धता) एक अनिवार्य विशेषण थी।[६] उत्तर वैदिक साहित्य में ब्राह्मणों के आचार के सम्बन्ध में अनेक नियम तथा निर्देश मिलते हैं। ब्राह्मण से सदयता[७] और भद्रता[८] की आशा

---

१. हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज, भाग १८, पृ० २०३
२. हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्राज, ग्रन्थ २, भाग १, पृ० ३९, पादाटिप्पणी
३. शत० ब्रा० १३.३.५.३
४. तै० सं० ६.५.१०.२, काठक सं० २७.९
५. शत० ब्रा० ८.३.१.१
६. वही ९.५.७.१
७. वही २.३.२.१२
८. वही २.३.४.६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

की जाती थी। ब्राह्मण पुरोहित और शिक्षक के कार्य भी सम्पादित करता था। अतः भाषा और उच्चारण की शुद्धता का ज्ञान भी उसके लिये आवश्यक था।[१] अपूत उच्चारण-(Impure speach) कभी-कभी श्यापर्णस जैसे पुरोहितों के बहिष्कार और अपमान का कारण बन जाता था।[२] ब्राह्मणों को विलास और ऐश्वर्य से विमुख करने के लिये भिक्षा वृत्ति पर जोर दिया गया।[३] इनके अतिरिक्त अनेक स्थानों पर ब्राह्मणों के आचरण के के सम्बन्ध में निषेध भी मिलते हैं। कौषीतकि ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण के लिये शस्त्र धारण करना निषिद्ध है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में ब्राह्मण को राज्य भार वहन करने में असमर्थ बतलाया गया है[४] तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि ब्राह्मण से लक्ष्मी नहीं प्रसन्न होती है।[५] उसे अश्लील वचन नहीं बोलना चाहिये।[६] स्वयं ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये तथा एक निश्चित आयु में अपने पुत्र का उपनयन करना चाहिये।[७] जो ब्राह्मण इन नियमों की अवहेलना करता था उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा का ह्रास हो जाता था तथा वर्ग का पूर्ववत सदस्य होने के लिये उन्हें अनुष्ठान और व्रत करना पड़ता था।

ब्राह्मणों का उत्तरदायित्व समाज के बौद्धिक और आध्यात्मिक हितों की रक्षा करना था। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये उन्हें अपने ज्ञान और गुण द्वारा दूसरों की सहायता करनी पड़ती थी जिसे वे शिक्षक और पुरोहित के रूप में पूरा करते थे। पौरोहित्य और शिक्षण दोनों के लिए वैदिक

---

१. शत० ब्रा० ३.२.१.१४, काठक सं० १४.५, ३७.२, वाज० सं० २३.६२
२. ऐत० ब्रा० ७.२७
३. कौषी० उप०, ६३.१०४
४. शत० ब्रा० ५.१.१.१२
५. तै० ब्रा० ३.९.१४, न वै ब्राह्मणे श्री रमते इति ब्राह्मणोन्योगायेद्राजन्योन्यः।
६. शत० ब्रा० ३.२.१.२४
७. वेबर का मत, कारपोरेट लाइफ इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ३४०-४१ पर उद्धृत

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

ज्ञान (ब्रह्मवर्चसम्) की अनिवार्यता विभिन्न प्रसंगों में बताई गई है।[१] यद्यपि 'ब्रह्मवर्चसम्' की प्राप्ति में अनेक अनुष्ठान भी सहायक बताये गये है किन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन स्वाध्याय बतलाया गया है। शतपथ ब्राह्मण में स्वाध्याय की महिमा की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है।[२] इसी प्रकार वृहदारण्यक उपनिषद में यह कहा गया है कि विद्वान् श्रोत्रिय का विद्याजनित सुख परमानंद के समान होता है।[३] बृहदारण्यक उपनिषद के एक प्रसंग में स्वाध्याय और अध्यापन को सर्वोच्च तप माना गया है।[४] स्वाध्याय के विषय बहुधा तीन वेद (ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद) हुआ करते थे जिन्हें त्रयी कहा गया है। त्रयी के अध्येता विद्यार्थी को त्रिशुक्रिय[५] अथवा त्रिशुक्र[६] कहते थे। शतपथ ब्राह्मण तैत्तिरीय आरण्यक तथा छान्दोग्य उपनिषद में अन्य अनेक विषयों के अध्ययन-अध्यापन का उल्लेख है[७] जैसे इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी, ब्रह्मोद्य, देव-जन-विद्या, सर्पविद्या, अथर्वांगिरस, देव, निधि, पित्र्य, राशि, और सूत्र इत्यादि। तैत्तिरीय आरण्यक तथा सूत्र साहित्य में स्वाध्याय के लिये स्थान और काल का भी संकेत हुआ है।[८] यदि स्वाध्याय गांव के बाहर अरण्य अथवा किसी एकान्त आश्रम में होता था तो विषय को स्फुट स्वर में पाठ करके कंठस्थ करने की स्वतंत्रता थी (वाचा) अन्यथा गांव में स्वाध्याय करने वालों के लिये मौन चिन्तन (मनसा) का आदेश था। ब्राह्मण के लिये स्वाध्याय और

---

१. तै० सं० ४.१.७.१, ७.५.१८.१, वाज० सं० २२.२२, २७.२, तै० ब्रा० ३.८.१३.१, ऐत० ब्रा० ४.११.६-९, शत० ब्रा० १३.२.६.१०, १०.३, ५.१६, ११.४.४.१, पंच० ब्रा० ६.३.५।

२. काठक सं० ३७.७, तै० ब्रा० २.७.१.१, पंच० ब्रा० २३.७.३, शत० ब्रा० २.३.१.३१

३. वृ० उप०, ४.३.३५-३९, तै० आ० ९.८

४. वही ७.८.१०

५. काठक सं० ३७.७

६. तै० ब्रा० २.७.१.२

७. शत० ब्रा० ११.५.७.५-८, तै० आ० २.९.१०, छान्दोग्य उप० ७.१.२-४, २.१, ७.१

८. तै० आ० २.१.१२-१५

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

तज्जन्य ज्ञान इतना आवश्यक समझा गया कि विद्वत्ता को ब्राह्मणत्व का अनिवार्य विशेषण माना गया।[१]

अध्यापन

अध्यापन कार्य में यद्यपि ब्राह्मणेतर वर्ग के लोग भी यत्र-तत्र भाग लेते थे तथापि इस व्यवसाय पर प्रायः ब्राह्मणों का एकाधिपत्य था। ब्राह्मणों के साथ शिक्षण का इतना अधिक सम्बन्ध था कि जब गार्ग्य काशिराज अजातशत्रु के पास ब्रह्मज्ञान के लिये पहुँचे तो दूसरे ने उत्तर दिया कि क्षत्रिय के पास ब्राह्मण का विद्यार्जन के हेतु पहुँचना प्रतिलोम है।[२] शतपथ ब्राह्मण ब्राह्मणों के चार प्रधान धर्मों में लोकपंक्ति (दूसरों को शिक्षा देना) को भी स्थान देता है। शिक्षक के रूप में उसका प्रथम कार्य अपने पुत्र को वैदिक शिक्षा एवं याज्ञिक कर्मकाण्डों में प्रवीण करना था।[३] इस प्रकार वह अपने पुत्र को पैत्रिक व्यवसाय में भी दक्ष बनाता था। आरुणि और श्वेतकेतु की कथा तथा वरुण और भृगु के पौराणिक आख्यान[४] से पिता द्वारा पुत्र के शिक्षण की परम्परा प्रमाणित होती है।[५] कतिपय उद्धरणों से यह भी सिद्ध होता है कि कभी-कभी ये ब्राह्मण अपनी विशेषज्ञता के अभाव में अपने पुत्रों को अन्य लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों के यहां भी भेजते थे।[६] अध्यापक के रूप में वह बहुत से शिष्यों को साथ-साथ शिक्षा देता था।[७] वह मन और मस्तिष्क की पूरी शक्ति से विद्यार्थियों को पढ़ाता था तथा उन्हें सब कुछ सिखाने का प्रयास करता था।[८] कुछ विद्यार्थियों के लिये संवत्सरवासिन शब्द का प्रयोग हुआ है जिससे यह प्रतीत होता है कि कभी-कभी विद्यार्थी एक वर्ष की अल्प अवधि तक ही एक आचार्य के पास निवास करते थे। विद्यार्थी अधिकांशतः आचार्य के कुल में ही रहते थे[९]

---

१. तै० सं० ३.६.१.४, एष वै ब्राह्मण ऋषिरार्षेयोयः शुश्रवन'
२. बृ० उप० २.१.१५, कौषी० उप० ब्रा० ४.१८
३. शत० ब्रा० १.६.२.४, बृ० उप० ५.२.१, छान्दोग्य ४.५.५, ५.११.७
४. शत० ब्रा० ११.६.१.१
५. बृ० उप० ६.१.१, शत० ब्रा० ११.६.१.१
६. द्र० वैदिक इण्डेक्स, भाग २ पृ० ८८
७. तै० आ० ७. ३
८. वही ७.४
९. आचार्य कुलवासिन या अन्तेवासिन। छान्दोग्य उप० ३.२.५, ४.१०.१

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

और भोजन करते थे[१] और इसके बदले में गुरुकी सेवा करते थे, जैसे गायों को चराना, यज्ञिय अग्नि को निरन्तर प्रदीप्त रखना आदि। सत्यकाम जाबाल के आख्यान से विदित होता है कि उसे गुरु के गायों की साथ रहने और तब लौटाने का आदेश दिया गया था जब उनकी संख्या एक सहस्र हो जाय। विद्यार्थी भिक्षाचरण में भी गुरु की सहायता करता था।[२]

कुछ खास विद्यायें विशिष्ट जनों के लिये ही थीं। उनके अधिकारी सभी विद्यार्थी नहीं थे।[३] छान्दोग्य उपनिषद (५.३) में प्रशासन को क्षत्रियों की विद्या कहा गया है। अध्ययन और अध्यापन सम्बन्धी विविध नियमों का विस्तृत वर्णन हमें सूत्र साहित्य में मिलता है।

यज्ञ-सम्पादन

यद्यपि साधारण गृह्य यज्ञ बिना पुरोहित की सहायता के भी सम्पन्न होते थे किन्तु श्रौत यज्ञों में उसकी सहायता अपरिहार्य थी। ब्राह्मण साहित्य में विशालतम यज्ञों के लिये सोलह पुरोहितों तक की व्यवस्था मिलती है किन्तु अन्य अपेक्षाकृत साधारण श्रौत यज्ञों में चार, पांच, छः, सात और दस पुरोहित भी पर्याप्त समझे जाते थे।[४] शतपथ ब्राह्मण एक स्थानपर सदस्य नामक सत्तरहवें पुरोहित का भी उल्लेख करता है।[५] पंचविंश ब्राह्मण सोलह के अतिरिक्त तीन अन्य पुरोहितों का वर्णन करता है[६] जिन्हें उन्नेतृ, अभिगर और अपगर कहा गया है। इस प्रकार कर्मकाण्डों और अनुष्ठानों की जटिलता के साथ-साथ पौरोहित्य पर भी ब्राह्मणों का एकाधिकार हो चुका था। पौरोहित्य ब्राह्मणों का पैत्रिक व्यवसाय था जिसकी शिक्षा उन्हें पिता पुत्र परम्परा से प्राप्त होती थी। ब्राह्मणों का यज्ञ से अभेद्य सम्बन्ध इस बात से प्रकट होता है कि कोई भी राजन्य अथवा वैश्य तब तक यज्ञ में भाग नहीं ले सकता था जब तक स्वयं ब्राह्मणोचित वेशभूषा न धारण करे।[७] फिर कोई ब्राह्मणेतर व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से यज्ञ में पौरोहित्य

---

१. छान्दोग्य उप० ४.३.५
२. छान्दोग्य उप० ४.३,५
३. पंच० ब्रा० १५.५.२८, तै० ब्रा० ३.५.०.१, काठक सं० ३७.१७
४. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ८९
५. शत० ब्रा० १०.४.२.१९
६. पंच० ब्रा० २५.१४.३
७. ऐत० ब्रा० ७.१४.१९

CC-0.In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

किस प्रकार कर सकता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षण कार्य के अतिरिक्त धार्मिक अनुष्ठानों और यज्ञों द्वारा वे राजा और प्रजा दोनों के सुख शान्ति का मार्ग प्रशस्त करते थे।

ब्राह्मण-क्षत्रिय प्रतिस्पर्धा

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है उत्तर वैदिक युग में सामाजिक प्राधान्य और नेतृत्व के लिये ब्राह्मणों और क्षत्रियों में प्रतिस्पर्धा चल रही थी। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों की उदीयमान श्रेष्ठता से धीरे-धीरे राजन्य वर्ग के अन्दर असन्तोष और क्षोभ का भाव उत्पन्न होने लगा था। वे राष्ट्र के प्रभु थे। विश पर उनका पर्याप्त प्रभाव था। अतः वे ब्राह्मणों के समक्ष अपनी सामाजिक हीनता को स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत नहीं थे। उन्होंने न केवल ब्राह्मणों की सामाजिक श्रेष्ठता का विरोध किया बल्कि उनके स्थान पर अपनी श्रेष्ठता का प्रतिपादन भी किया। घोषाल महोदय ने अनेक उद्धरणों की पृष्ठभूमि में यह प्रमाणित किया है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय समाज के दो अत्यन्त शक्तिशाली वर्ग थे जिनके सम्पर्क और संघर्ष ने युग के सामाजिक इतिहास को गति प्रदान की।[१] शतपथ ब्राह्मण जैसे विशाल ग्रन्थों में जहाँ ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन हुआ है वहीं स्थान-स्थान पर क्षत्रियों की यह विरोधात्मक प्रवृत्ति भी परिलक्षित हुई है। एक प्रसंग में स्पष्ट कहा गया है कि क्षत्रियों से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। यही कारण है कि राजसूय के अवसर पर ब्राह्मण भी उसके समक्ष निम्नासन ग्रहण करता है।[२] इसी प्रकार अन्यत्र यह कहा गया है कि क्षत्रिय के पश्चात् ब्राह्मण मान्य है।[३] वस्तुतः आर्थिक सम्पन्नता और राजनैतिक प्रभुत्व के कारण राजन्य वर्ग की स्थिति भी बहुत सामान्य हो चली थी। तैतिरीय संहिता से ज्ञात होता है कि अन्य तीन वर्गों पर अपना प्रभाव स्थापित करने में वह समर्थ हो चला था।[४] फिर भी ब्राह्मणों ने क्षत्रियों के राजनैतिक प्रभाव से मुक्ति का मुखर प्रयास किया। पुरोहित राजा के समक्ष राज्याभिषेक के अवसर पर इस बात की घोषणा करता था कि यह अभिषिक्त व्यक्ति सब

---

१. घोषाल, हिन्दू पॉलिटिकल लाइफ, पृ० ७३-८०
२. शत० ब्रा० १४.४.१.२३
३. सेक्रेड बुक्स आव दि ईस्ट, ग्रन्थ ६, पृ० ९६
४. तै० सं० २.५.१०.१

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

लोगों का राजा है। किन्तु ब्राह्मणों का राजा सोम है।[१] इस प्रकार अपनी सामाजिक महत्ता को अक्षुण्ण रखने के लिए उन्होंने सदैव अपने को राजाओं के प्रभाव क्षेत्र के बाहर रखने का प्रयास किया तथा इसके लिए नियम बनाये। बेबर महोदय का मत है कि इसी संघर्ष काल में ब्राह्मणों ने ब्रह्मजय, ब्रह्मगाव, शतरुद्रिय जैसे स्तोत्रों की रचना की। क्षत्रियों को पौरोहित्य जैसे धार्मिक कार्यों से पृथक् तो किया ही गया साथ ही यत्र-तत्र उनकी पुरोहितों को नियुक्त करने और निकालने की भी स्वतन्त्रता जाती रही।[२] जनमेजय पारिक्षित ने कश्यपों को अपने पौरोहित्य से पृथक् कर दिया था किन्तु असितमृग ने उन्हें पुनः पौरोहित्य में लगाने के लिये विवश किया।[३] विश्वन्त सौशदमन ने अपने पुरोहित को यज्ञ से बहिष्कृत करने के पश्चात् पुनः नियुक्त किया था। किन्तु इसके विपरीत महाभारत में कार्तवीर्य और विश्वामित्र की कहानी है जिन्होंने क्रमशः जमदग्नि और वशिष्ठ की गायों का अपहरण किया। पुराणों में भी ऐसे राजाओं के उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने ब्राह्मणों के साथ दुर्व्यवहार किये। अथर्ववेद में ब्राह्मणों तथा उनकी गायों को हानि पहुँचाने वाले राजन्यों को शाप दिया गया है कि उनका राज्य वैसे ही नष्ट हो जाय जिस प्रकार टूटी नौका जल में नष्ट हो जाती है।[४] इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणों के साथ दुर्व्यवहार करने वाले तथा उनकी गायों का अपहरण करनेवाले निरंकुश राजन्य भी उत्तर वैदिक युग में अज्ञात नहीं थे। अथर्ववेद के एक मन्त्र में ब्रह्म जाया के अपहरण की दुष्परम्परा का भी संकेत मिलता है।[५] ऐसे राजन्य को ब्राह्मणों ने निर्धन और दरिद्र होने का शाप दिया है।

उपनिषदों के काल तक यह श्रेष्ठता विषयक ब्राह्मण क्षत्रिय संघर्ष और तीव्र हो गया। ब्राह्मणों की मान्यता के दो प्रमुख कारण थे। प्रथम उनका

---

१ शत० ब्रा० ११.५.७.१
२. दत्ता, औरिजिन एण्ड ग्रोथ आव कास्ट इन इण्डिया, पृ० ९०
३. ऐत० ब्रा० ७.२७
४. अथर्व० ५.१९.३ और ८
५. अथर्व० ५.१७.१४

नास्यक्षत्रा निष्कग्रीवः सूनानामेति अग्रतः।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजाया चिठ्या।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

ज्ञान और दूसरा धार्मिक कार्यों में उनकी अनिवार्यता। अतः इन दोनों क्षेत्रों में क्षत्रियों ने अपने को ब्राह्मणों के समकक्ष लाने की कोशिश की। उपनिषत्-कालीन राजन्य वर्ग ब्राह्मणों की भाँति अध्ययन-अध्यापन, मनन-चिन्तन में संलग्न दिखाई देता है। जब समग्र याज्ञिक और कर्मकाण्डीय धर्म पुरोहितों के हाथ में केन्द्रीभूत हो गया तब इस दिशा में प्रवेश निषिद्ध देख क्षत्रियों ने धर्म के क्षेत्र में एक नये पथ का अनुसरण किया जिसके माध्यम से वे ब्राह्मणों के समान ही यश और प्रतिष्ठा प्राप्त करने में समर्थ हुये। यह उपनिषदों की नई विद्या थी जिसे ब्रह्म-विद्या के नाम से भी अभिहित किया गया है। इसके अन्तर्गत ब्रह्म और आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण प्रारम्भ हुआ। इस युग में सर्व प्रथम भारतीय मस्तिष्क ने आदिम विश्वासों और मान्यताओं से ऊपर उठकर सत्य के वास्तविक स्वरूप के निर्धारण का वैज्ञानिक प्रयास किया। इस नई विद्या में राजन्य वर्ग यदि ब्राह्मणों से श्रेष्ठ नहीं तो समान अवश्य था। वृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार जनक वेदों और उपनिषदों के ज्ञाता थे।[१] पंचाग्नि विद्या का तो प्रादुर्भाव ही प्रवाहण जैबलि से हुआ था।[२] क्षत्रिय विद्वानों की विद्वत्ता और ख्याति इस बात से प्रमाणित होती है कि अनेक लब्धप्रतिष्ठ ब्राह्मण-विद्वान भी इनके समीप अध्ययन करने जाते थे। उदाहरणार्थ याज्ञवल्क्य ने जनक से शिक्षा प्राप्त की थी।[३] बालाकि गार्ग्य ने अजातशत्रु से[४] तथा श्वेतकेतु आरुणेय ने प्रावहण जैबलि से।[५] छान्दोग्य उपनिशद में यह भी बताया गया है कि एक बार पाँच ब्राह्मण उद्दालक आरुणि के पास एक समस्या के समाधान के लिये आये। स्वयं अनभिज्ञ होने के कारण वे उन्हें रांजा अश्वपति कैकय के पास ले गये जिन्होंने समस्या का समुचित समाधान किया। इस प्रकार क्षत्रियों ने अध्ययन और अध्यापन के क्षेत्र में कीर्ति अर्जित की तथा ज्ञान के क्षेत्र में ब्राह्मणों के एकाधिकार को खंडित किया।

जहाँ तक याज्ञिक कार्यों में ब्राह्मणों की अनिवार्यता का प्रश्न था इसका समाधान क्षत्रियों ने दूसरी रीति से किया। उन्होंने याज्ञिक धर्म के मूल पर

---

१. वृ० उप० ४.२.१
२. छान्दोग्य उप० ५.३.७
३. शत० ब्रा० ११.६.२१.५
४. वृ० उप०२.१
५. छान्दोग्य उप० ५.११

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

ही कुठाराघात किया। आत्म-यजन, चिन्तन और मनन की अपेक्षा यज्ञों की हीनता प्रदर्शित की गई।[१] तपश्चर्या और त्यागपूर्ण जीवन पर बल दिया गया। उपनिषदों में सर्वप्रथम हिंसात्मक यज्ञों के विरुद्ध नियम प्रतिपादित किये गये।

उपनिषदकाल में ब्राह्मण-श्रेष्ठता के विरुद्ध जो असन्तोष उत्पन्न हो रहा था वह निरन्तर विकासोन्मुख रहा तथा छठीं सदी ई० पू० तक उसने प्रकट विद्रोह का रूप धारण कर लिया। बौद्ध एवं जैन धर्म में न केवल यज्ञमूलक ब्राह्मण धर्म का विरोध हुआ बल्कि उनमें ब्राह्मणों की सामाजिक श्रेष्ठता के प्रति क्षत्रियों की अस्वीकृति भी परिलक्षित होती है। बौद्ध और जैन धर्मों के प्रवर्तकों का क्षत्रिय होना कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। उत्तर वैदिक साहित्य में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के इस पारस्परिक संघर्ष के निवारण तथा सहयोग की भावना को उत्पन्न करने का प्रयास भी दिखाई देता है। तैत्तिरीय संहिता में दोनों की महानता का प्रशोगान किया गया है।[२] इस ग्रन्थ के अनुसार राजन्य युक्त ब्राह्मण अन्य ब्राह्मणों से श्रेष्ट है तथा ब्राह्मण युक्त क्षत्रिय अन्य क्षत्रियों से श्रेष्ठ है।[३] ऐतेरेय ब्राह्मण पुरोहित को क्षत्रिय की आधी आत्मा बतलाता है।[४] शतपथ ब्राह्मण में कई स्थानों पर इस बात का संकेत है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय का सहयोग कीर्ति और सफलता प्रदान करने वाला होता है। इसी ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि किसी विशेष कृत्य का सम्पादन करने वाले राजन्य को ब्राह्मण कि सहायता लेनी चाहिये क्योंकि ब्राह्मण के सहयोग से किया गया क्षत्रिय का कार्य सफल होता है।[५]

---

१. छान्दोग्य उप ५.१५.५, कौषी० उप० २.५

२. तै० सं० ५.१.१०.३

३. तै० सं० ५.१.१०.३ तस्मात ब्राह्मणों राजन्यवानत्यन्यं ब्राह्मणं तस्माद्राजन्यो ब्राह्मणवानत्यन्यं राजन्यम्।

४. ऐत० ब्रा० ३४.४ अर्धात्मो हवा एष क्षत्रियस्य यत्पुरोहितः।

५. शत० ब्रा० ४. १. ४. ६ तस्मादु क्षत्रियेण करिष्यमाणेनोपसर्तव्य एव ब्राह्मणः। स हैवास्मै तद ब्रह्मप्रसूत कर्मध्यते।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

जब हम स्वतंत्र रूप से उत्तरवैदिक युग के राजन्य-वर्ग की स्थिति पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि राजनैतिक प्रभुत्व के कारण क्षत्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा इतनी बढ़ी हुई थी कि राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को प्राणिमात्र का अधिपति, धर्म और ब्राह्मण का रक्षक कहा जाता था।[१] शतपथ ब्राह्मण मनुष्यों में श्रोत्रिय और राजा इन दोनों को धृतिव्रत बतलाता है।[२] तैत्तिरीय संहिता के अनुसार राजा मनुष्यों को बन्धनयुक्त बनाता है।[३] राजन्यों की शक्ति का प्रभाव समाज के शेष तीन वर्णों पर इतना अधिक था कि वे ब्राह्मणों के निष्कासन और निर्वासन में समर्थ थे, विश के अत्ता (भक्षक या शोषक) समझे जाते थे तथा शूद्रों को अनायास ही मृत्युदंड दे सकते थे।[४] इससे स्पष्ट होता है कि राजनैतिक प्रभुत्व में वृद्धि के साथ-साथ सामाजिक प्रभुत्व भी बढ़ता जा रहा था।

राजन्य-वर्ग और उसकी सामाजिक स्थिति

इस युग के क्षत्रिय वर्ग को सबसे बड़ा श्रेय उपनिषदों के दार्शनिक विषयों के प्रतिपादन का दिया गया है।[५] कतिपय क्षत्रिय नरेशों के दार्शनिक ज्ञान का परिचय हमें छान्दोग्य उपनिषद ५. ३, ५. ११, बृहदारण्यक उपनिषद २. १, ६. २, और कौषीतकि उपनिषद १. १, ४. १, से होता है। इन उद्धारणों से यह प्रकट होता है कि ब्राह्मणों की भांति राजन्य भी धार्मिक तथा आध्यात्मिक विषयों में पर्याप्त रुचि लेते थे। काणे महोदय ने क्षत्रियों के ब्रह्मविद्याप्रणोता होने में सन्देह व्यक्त किया है तथा इस पक्ष की पुष्टि के लिये अनेक तर्क व प्रमाण प्रस्तुत किये हैं[६] किन्तु उनके तर्क केवल डॉसन तथा भण्डारकर महोदय की स्थापना को

---

१. ऐत० ब्रा० ३८ और ३९, ३, क्षत्रियो जनि विश्वस्य भूतस्याधिपतिरजनि-विशामत्ताजनि— ब्राह्मणों गोप्ताजनि धर्मस्य गोप्ताजनि।

२. शत० ब्रा० ५. ४. ५, धृतव्रतो वै राजा—एष च श्रोत्रियश्च तौ ह वै मनुष्येषु धृतव्रतौ।

३. तस्मात् राजा मनुष्या विधृताः। तै० सं० २. ६. २. २

४. तै० ब्रा० ३. १२. ९ ऐत० ब्रा० ७. २९. १

५. द्र०, भण्डारकर, वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म' पृ० ९

६. हिस्टरी आफ धर्मशास्त्राज, ग्रन्थ २, भाग १, पृ० १०७

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

सन्दिग्ध बनाने में समर्थ हैं। उनसे कोई अपना स्वस्थ निष्कर्ष नहीं निकलता। फ्रोफेसर ईगलिंग ने भी तत्कालीन धार्मिक आन्दोलन में क्षत्रियों का कोई महत्वपूर्ण योग नहीं माना है।[१] वैदिक इण्डेक्स के लेखकों को तो इन राजाओं की विद्वत्ता में मात्र प्रशंसा और चाटुकारिता की झलक मिलती है।[२] किन्तु उत्तर वैदिक साहित्य में प्राप्त प्रसंगों से इतना तो प्रायः स्पष्ट है कि जनक, प्रावहण जैबलि, अश्वपति कैकेय और काशिराज अजातशत्रु प्रभृति नरेश उपनिषद युग के प्रमुख विद्वानों में अपना स्थान रखते थे जिनके ज्ञान की गन्ध तत्कालीन साहित्य में बिखरी पड़ी है। उपनिषदयुग के धार्मिक क्रान्ति के सम्बन्ध में इतना स्पष्ट कहा जासकता है कि विकास की यह नई दिशा ब्राह्मणोत्तर प्रयासों का परिणाम थी जिसमें अनार्य परम्पराओं का भी पर्याप्त प्रभाव था। याज्ञवल्क्य, वालाकि गार्ग्य तथा श्वेतकेतु आरुणेय जैसे विद्वान ब्राह्मणो को भी इस नवीन विषय के ज्ञान हेतु क्षत्रिय कुमारों के यहां जाना पड़ा। वृहदारण्यक उपनिषद (६, २,) तथा छान्दोग्य उपनिषद (५. ११) में यह कहा गया है कि 'इस विद्या' का ज्ञान अब तक किसी ब्राह्मण को नहीं था। यहाँ इस विद्या का तात्पर्य सम्पूर्ण ब्राह्मविद्या से न होकर केवल पंचाग्निविद्या से है। पंचाग्निविधा परोक्षरूप में (In figurative way) आवागमन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है। निश्चय ही उपनिषदों के दार्शनिक विचारधारा के मूल में आत्मा की अमरता और आवागमन का सिद्धान्त था। आवागमन के सिद्धान्त का विकास गंगा की घाटी में आर्यों के प्रवेश के पूर्व ही निषाद जाति ने कर लिया था। दूसरे नैराश्यमूलक धार्मिक विचारों का विकास भी मगध और विदेह के क्षेत्र में आठवीं सदी ई० पू० तक हो चुका था। इस प्रकार उपनिषदों की इस नवीन विद्या का मूल अनार्य तथा खास तौर से निषाद उत्पत्ति वाला प्रतीत होता है जिसका विकास स्थानीय राजन्यों के माध्यम से हुआ। यही कारण है कि उपनिषदों के दर्शन का विकास सप्तसिन्धु प्रदेश में न होकर गंगा की घाटी में हुआ।[३]

राजन्य वर्ग का प्रमुख कार्य शासन और सुरक्षा का था। युद्ध में सैन्य-संचालन उनका उत्तरदायित्व था तथा तीर-धनुष उनका जातीय

---

१. वैदिक इण्डेक्स, भाग भाग १, पृ० २०६ पर उद्धृत

२. द्र० वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० २०६

३. द्र० प्रथम अध्याय, पृ० १९–२०

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

चिन्ह।[१] युद्ध में क्षत्रियों के अतिरिक्त अन्य लोग भी भाग लेते थे[२] किन्तु क्षत्रिय-वर्ग अपने राजकीय अधिकारों एवं उत्तरदायित्वों के कारण दूसरों से पृथक् और विशिष्ट था।[३] क्षत्रियों के कृषिकर्म करने तथा व्यापार आदि में भाग लेने के सम्बन्ध में प्रमाणों का अभाव है। शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि क्षत्रिय अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर वीणावादन तथा संगीत में भाग लेते थे।

वैश्य

वैश्य शब्द ऋग्वेद में पुरुष-सूक्त को छोड़ कर अन्यत्र नहीं मिलता। विश का उल्लेख अवश्य स्थान-स्थान पर हुआ है जिसका तात्पर्य सर्वसाधारण से था। उत्तरवैदिक युग तक वर्ण-विभाजन के परिणामस्वरूप इन्हीं साधारण जनों का एक तीसरा वर्ग अस्तित्व में आया जिसे वैश्य नाम से अभिहित किया गया है। फिक महोदय ने वश्यों की स्थिति एक वर्ग के रूप में नहीं स्वीकार किया है। यदि हम वैश्य वर्ण का तात्पर्य एक ऐसी इकाई से मानें जिसके विवाह सम्बन्ध वर्ग के अन्तर्गत ही सीमित हों तथा जिसके सभी सदस्य एक सामान्य पैतृक व्यवसाय अपनाते हों तो निश्चित रूप से फिक महोदय का मत महत्वपूर्ण हो जाता है। यह मानना पूर्णतः सही नहीं होगा कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों के अतिरिक्त अन्य सभी साधारण जनों को वैश्य नाम से पुकारा गया क्योंकि उत्तर वैदिक युग तक समाज के सामान्य जनों का एक बहुत बड़ा भाग वर्ग संघर्ष एवं अनार्य सम्पर्क के परिणामस्वरूप शूद्रों के चतुर्थ वर्ण में स्थानान्तरित किया गया। इतना अवश्य है कि प्रारम्भिक स्थिति में यह वर्ग अपने प्रयासों के कारण अस्तित्व में नहीं आया। यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि वैश्यों के अन्दर प्रारम्भ में

---

१. अथर्ववेद १८.२.६०, काठक सं० १८.९.३७.१,
शत० ब्रा० ५.३.५.३० तै० आ० ६.१.३,
ऐत० ब्रा० ७.१९, तै० सं० ७.५.१८.१, मैत्रा० सं० ३.१२.६

२. अथर्ववेद ९.७.९

३. काठक सं० २७.४ (तस्मात् राजन्येन अध्यक्षेण वैश्यंघ्नन्ति) में राजन्य के न्याय और दंड विषयक अधिकार का संकेत है। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि शासन-कार्य भी एकमात्र क्षत्रियों के हाथ में सीमित नहीं था। शासन में पुरोहित, वैश्य-ग्रामणी आदि क्षत्रियेतर लोगों का भी पर्याप्त प्रभाव था।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

वर्ग निर्माण की चेतना का भी अभाव था। ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने जब अपने को विश से पृथक् करके अपना अलग संगठन प्रारम्भ किया तब स्वभावतः विश के शेष लोग भी एक इकाई में बंध चले। ऐसा करने से वैश्यों को शूद्रों के नवोदित वर्ग के समक्ष, जिनसे वैश्यों की व्यवसाय-गत समानता थी, अपनी सामाजिक श्रेष्ठता और द्विजातित्व की रक्षा करनी भी अंशतः सम्भव थी। यह भी सत्य है कि वैश्य वर्ण के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के लोग तथा विभिन्न व्यवसायोपजीवी एकत्र संग्रहीत थे अतः इस वर्ग के अन्तर्गत विभिन्नताओं और बहुलताओं का सुन्दर सामंजस्य मिलता है। तैत्तरीय ब्राह्मण वैश्यों को अन्य वर्णों की अपेक्षा बहुसंख्यक बतलाता है।[१]

वैश्यों के इस तीसरे वर्ग में अनार्य तत्व का प्रवेश ब्राह्मणों और क्षत्रियों के सम्मान्य वर्णों की अपेक्षा कहीं अधिक हुआ होगा। वह वर्ग अपनी बहुसंख्यता और विविधता के कारण, जीवन के विभिन्न दैनिक कार्यों में शूद्रों से सम्पर्क के कारण तथा व्यावसायिक जीवन में अपेक्षाकृत समानता के कारण अनार्य जनों का सामाजिक बहिष्कार नहीं कर सका। साधारण आर्य जनता और अनार्य जनता में पर्याप्त रक्त-मिश्रण हुआ। सम्पन्न तथा महत्वपूर्ण व्यवसायों को धारण करने वाले अनार्य जन भी वैश्य वर्ण को अन्तर्गत सम्मानित हुये होंगे। वैश्यों की वर्धमान सामाजिक हीनता का यह भी एक कारण था। दूसरे अनुवर्ती युग का वणिक शब्द भी, जिसका विकास 'पणि' शब्द से हुआ प्रतीत होता है, वैश्य वर्ग के अन्तर्गत अनार्य व्यापारियों एवं व्यवसायियों के प्रवेश का संकेत करता है।

वैश्यों की सामाजिक स्थिति में क्रमिक ह्रास

उत्तरवैदिक युगीन वैश्य वर्ण की स्थिति सामाजिक परिस्थितियों के दबाव के कारण क्रमशः हीन होती जा रही थी। उत्तर वैदिक साहित्य में इन्हें 'अन्यस्य वलिकृत' कहा गया है।[२] तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि मनुष्यों में वैश्य और पशुओं में गाय समान है अतः ये दूसरों के लिये खाद्य है। इनकी रचना भी खाद्य सामग्रियों से हुई है।[३] सूत्रकाल तक कतिपय ग्रन्थों ने वैश्यों को भी शूद्रों की भांति अश्वमेध यज्ञ में

---

१. तै० ब्रा० ३.१२.९, तस्माद भूयां सोऽन्येभ्यः।
२. ऐत० ब्रा० ७.२९
३. तै० सं० २.५.१०.२

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

प्रवेश से वंचित कर दिया।[१] वैश्य को 'यथाकामज्जेयः' भी कहा गया है जिससे ज्ञात होता है कि राजा उसे इच्छानुसार निष्कासन का दंड दे सकता था। वैश्यों को कुछ प्रसंगों में शूद्रों के समान स्थिति प्रदान की गई। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि एक वैश्य शूद्रा का पति हो सकता है तथा शूद्र वैश्या का।[२] इसके कारण भी प्रायः स्पष्ट हैं। राजन्य वर्ग की शक्ति एवं संख्या में ज्यों-ज्यों विस्तार हुआ वैसे ही आर्यों का प्रारम्भिक राजनैतिक संगठन भी बदलने लगा। परिणामस्वरूप राजन्य एवं वैश्य वर्ग की स्थिति में बड़ा ही महत्वपूर्ण अन्तर आ गया। क्षत्रियों को वैश्य वर्ग का अत्ता कहा गया। वैश्य समुदाय धीरे-धीरे आर्यों के सम्भ्रान्त वर्गों से दूर होता गया तथा समाज के दलित शूद्र वर्ग के निकटतर होता गया। ब्राह्मणों ने भी क्षत्रियों की वर्धमान शक्ति और शोषण के विरुद्ध वैश्यों का साथ न देकर अपने हितों एवं विशेषाधिकारों की रक्षा के लिये राजन्य वर्ग का साथ दिया तथा वैश्यों के ऊपर राजन्य वर्ग की प्रभुता को स्वीकार किया। अनेक प्रसंगों में वैश्यों को ब्राह्मण और क्षत्रिय से हीन कहा गया।[३] इस प्रकार इन दो उच्च वर्गों के सामूहिक षडयन्त्र के कारण वैश्यों की स्थिति पर्याप्त हेय हो गई जिसे उपर उठाने में वे सर्वथा असमर्थ रहे।

गंगा की घाटी में पहुँचने तक बहुसंख्यक अनार्य अथवा दास आर्य समाज में शूद्र के रूप में अन्तर्निहित हुये जिनका सदुपयोग आर्य स्वामियों ने उन्हें श्रमकार्य में नियोजित करके किया। खेती, पशुपालन एवं विभिन्न उद्योग-धन्धों में इनके प्रवेश के कारण अतीव प्रगति हुई। इसके परिणामस्वरूप समाज के सम्भ्रान्त वर्गों ने श्रम[illegible] श्रमिकों की सहायता से उत्पादन प्रारम्भ किया। इस प्रक[illegible] वैश्यों को [illegible]वा-कार्य शूद्रों का कर्तव्य माना गया तथा शारीरिक श्रम के प्रो[illegible] और क्षत्रियो[illegible]वना का लोप होने लगा। वैश्य वर्ग जो असाधारण शक्ति अथवा [illegible]षा के अ[illegible] प्राप्त करने में असमर्थ रहा पूर्ववत श्रम-कार्य एवं उत्पादन में संलग्न रहा। कृषि, वाणिज्य एवं विभिन्न व्यवसायों में जो अभी तक वैश्यों के अधीन थे, शूद्रों ने भी हस्तक्षेप प्रारम्भ किया। व्यवसायों की इस समानता के कारण वैश्य और शूद्र एक दूसरे के निकट

---

१. वाराह श्रौ० सू० ३.१.१.१
२. शत० ब्रा० १३.२.९.८, तुलनीय तै० ब्रा० ३.९.७.३, वाज० सं० २३.३०
३. तै० सं० २.५.१०.१, काठक सं० १९.१०, शत० ब्रा० ६.४.४.१३, पंच० ब्रा० २.८.१

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

होते गये तथा शूद्रों की भांति वैश्यों को भी उच्च वर्गों ने हीन दृष्टि से देखना प्रारम्भ किया। शतपथ ब्राह्मण में तक्षन के स्पर्श को अपवित्र बताया गया है।[१] रथकार, कर्मार, तष्टा, चर्मम्न, भिषग आदि विभिन्न व्यवसायी धीरे-धीरे वैश्य वर्ग से पृथक् होने लगे तथा सूत्र-युग तक उन्हें द्विजातियों से बहिष्कृत किया गया। इसी युग में हम वैश्यों को विभिन्न व्यावसायिक जातियों में विभाजित होते हुये देखते हैं। इनमें प्रथम प्रकार के वे लोग थे जिनका उद्योग समादृत था। इन्हीं लोगों को द्विजातियों के प्रायः सभी अधिकार प्राप्त थे। दूसरे प्रकार के लोग तात्कालिक समाज की दृष्टि में गर्हित पेशे वाले थे। उन्हें क्रमशः उपनयन आदि आर्य संस्कारों से हीन किया गया। अतः वे कालक्रम से शूद्रों के निकट होते गये।

उत्तरवैदिक युग के बढ़ते हुये आर्य-अनार्य सम्पर्क के परिणामस्वरूप अल्पसंख्यक आर्यों को जब कृष्णत्वच लोगों के बीच अपने अस्तित्व को खो देने का संकट उत्पन्न हुआ तथा रक्त-शुद्धता की चेतना सजग हुई तब ब्राह्मणों और राजन्यों ने प्रजातीय पार्थक्य (Racial segregation) की नीति को अपनाया तथा अनार्यों के साथ वैवाहिक सम्बन्धों को रोकने की चेष्टा की। किन्तु आर्य जनता का बहुसंख्यक वैश्य वर्ग अनार्य जनता के अधिक निकट होने के कारण पर्याप्त रक्त-सम्मिश्रण का निषेध न कर सका होगा। इस सम्पर्क के कारण स्वभावतः समाज के उच्च वर्ग (ब्राह्मण और क्षत्रिय) विश (Proletariate) को भी अपने से पृथक् एवं हीन समझने लगे होंगे।

की स्थिति

वैश्यों की सामाजिक स्थिति गिर रही थी। उनकी नहीं थी किन्तु उनकी आर्थिक दशा काफी अच्छी थी। पशुपालन उनका व्यवसाय था। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार वैश्य पशु कामना है कि के लिए यज्ञ करता है।[२] तांड्य ब्राह्मण में कहा गया है कि 'वैश्य दूसरों द्वारा भुक्त होते हुए भी क्षीण नहीं होता क्योंकि उसकी उत्पत्ति प्रजापति की प्रजननेन्द्रिय से हुई है।[३] इसीलिए उसके पास बहुसंख्यक पशु हैं। सभी देवता उसके संरक्षक हैं उसका छन्द जगती है तथा वर्षा उसके लिए अनुकूल ऋतु है।' सम्पन्नता के

---

१. शत० ब्रा० १.१.३.१२

२. तै० सं० २.५.१०.२, 'पशुकामः खलु वैश्यो यजते'।

३. तांड्य ब्रा० ६.२.१०,

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

कारण ही उनके ऊपर कर का भार अधिक था। सम्पूर्ण समाज के भरण-पोषण का भार विशेषतः उन्हीं पर था। आश्रम-व्यवस्था में जो स्थिति गृहस्थ आश्रम की थी वही स्थिति वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत वैश्य वर्ण की थी। बैडेन पावेल महोदय का यह मत कि वैदिक समाज में कृषि-कार्य आदिवासी श्रमजीवियों द्वारा होता था,[1] एक आधारहीन कल्पना है। ऋग्वैदिक युग से ही आर्यों में कृषि कार्य की स्वस्थ परम्परा थी जो वैश्यों के माध्यम से बाद तक जीवित रही। अष्ट्रा (बेल हाँकने का अंकुश) वैश्य का तृतीय चिन्ह माना जाता था। वैश्य लोग विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धों तथा वाणिज्य का भी अनुसरण करते थे किन्तु कृषि और पशुपालन ही उनका प्रधान व्यवसाय था।

ऋग्वैदिक युग में हम विश के सामान्य सदस्यों को भी युद्ध में भाग लेते हुये देखते है किन्तु इस युग तक होमर युगीन सामान्य जनों की भाँति वैदिक युगीन वैश्य भी युद्ध-कला में अपेक्षाकृत कम निपुण होने के कारण तथा अस्त्र-शस्त्रों की अनुपलब्धता के कारण, भीषण युद्ध के लिये अनुपयुक्त था। राजनैतिक महत्व के उत्सवों पर अन्य लोगों के साथ वैश्यों को भी निमंत्रित किया जाता था। ग्रामणी, जो रत्निन भी था, राजसूय के अवसर पर राजकीय आदर का पात्र था। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार वैश्यों का आदर्श ग्रामणी होना था।[2] यह पद सम्भवतः राजा धनी वैश्यों को देता था। राजसूय यज्ञ में द्यूत क्रीड़ा के अवसर पर अन्य वर्ण वालों के साथ वैश्य भी भाग लेता था।

वैश्यों को यज्ञ करने तथा वेदाध्ययन करने का अधिकार था। ब्राह्मणो और क्षत्रियो की भाँति ही उनका उपनयन होता था इसी से द्विज की परिभाषा के अन्दर उनका स्थान था। ऐतरेय ब्राह्मण वैश्यों की महत्ता स्वीकार करते हुए कहता है कि देवकर्म अथवा याज्ञिक क्रियाओं में वैश्य समुदाय का योग आवश्यक है।[3] तैत्तारीय ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और रथकार यज्ञाग्नि (Sacrificial fire) की स्थापना कर सकते थे।[4] वैश्य अश्वमेध और वाजपेय जैसे विशाल यज्ञों में भाग लेते थे। इस प्रकार धार्मिक

---

१. इण्डियन विलेज कम्यूनिटी, पृ० १८०
२. तै० सं० २.५.४.४
३. ऐत० ब्रा० १.९
४. तै० ब्रा० १-१.४.८

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

जीवन की प्रायः सभी सुविधायें उन्हें उपलब्ध थीं। वैदिक साहित्य में प्रायः ऐसे प्रमाणो का अभाव है जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि वैश्य वर्ण के लोग भी ब्राह्मण-क्षत्रियों की भाँति अपने जीवन का विशेष भाग वेदों के अध्ययन तथा पांडित्य प्राप्ति में लगाते थे। सम्भवतः सैद्धान्तिक रूप में वैदिक शिक्षा का अधिकार प्राप्त करते हुये भी वैश्य समुदाय ने अपना समय व्यावसायिक शिक्षा की प्राप्ति में ही अधिक लगाया। धार्मिक शिक्षा ब्राह्मणो के लिये तो जीविका थी तथा क्षत्रियों के लिए पर्याप्त अवकाश होने के कारण एक व्यसन।

शूद्र

ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में ही शूद्र शब्द का उल्लेख प्रथम बार हुआ है। अथर्ववेद में शूद्र शब्द का उल्लेख अवश्य ही कई स्थानों पर हुआ है, किन्तु अन्य वर्णों के साथ प्रायः उन्नीसवें अध्याय में ही मिलता है।[१] अथर्ववेद का उन्नीसवां और बीसवाँ अध्याय मूल संकलन के बाद में जोड़ा हुआ प्रतीत होता है। इस प्रकार काल की दृष्टि से यह अंश परवर्ती माना गया है। इसी युग में पुरुष-सूक्त भी ऋग्वेद में प्रक्षिप्त हुआ। समाज के चतुर्थ श्रम-जीवी वर्ग के लिये शूद्र शब्द के प्रयोग का कोई स्पष्ट कारण नहीं दिखाई देता। शूद्र शब्द की व्युत्पत्ति का प्रथम प्रयास बादरायण के वेदान्त सूत्र में मिलता है जिसमें इस शब्द को शुक् और द्र इन दो भागों में विभाजित किया गया है।[२] इसका सीधा अर्थ हुआ 'जो शोक को प्राप्त हो।' पुराणों में भी शूद्र शब्द का मूल 'शुच' ही माना गया है तथा कहा गया है 'जो शोकाकुल होकर इधर-उधर दौड़ता है, निर्बल एवं निस्तेज है, वही शूद्र है।'[३] दीघ निकाय के अनुसार शूद्र नाम उनके क्षुद्र आचरण के कारण पड़ा।[४] परवर्ती ग्रन्थों द्वारा दी गयी यह व्युत्पत्ति पूर्वाग्रही बुद्धि की उपज प्रतीत होती है।

---

१. अथर्ववेद १९.३२.८, १९.६२.१, इसके विपरीत अथर्ववेद ५.१७.९ केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीन वर्णों का उल्लेख करता है।

२. वेदान्त सूत्र १.३ ३४

३. 'शोचन्तश्च द्रवन्तश्च परिचर्यासु ये रताः।
निस्तेजसो अल्पवीर्याश्च शूद्रास्तान् ब्रवीत्त सः।
—वायु पुराण १.८.१५८.

४. दीर्घनिकाय, ३.९५

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

यही कारण है कि इनसे शूद्रों की स्थिति पर अधिक प्रकाश पड़ता है और उत्पत्ति पर कम।

शूद्रों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लुडविग महोदय का यह मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में यह किसी प्रमुख आर्य-विरोधी जाति (ट्राइब) का नाम था[1] जिन्हें आर्यों ने पराजित करके वशीभूत किया। समानधर्मी होने के कारण सभी विजित दास (शत्रु) शूद्र नाम से अभिहित किये गये। शूद्र नामक अनार्य जाति की स्थिति का संकेत साहित्यिक साक्ष्यों से होता है। महाभारत में नकुल द्वारा विजित जातियों की सूची में शूद्रों का वर्णन आभीरों के साथ हुआ है।[2] आभीर सम्भवतः भारत युद्ध के समय एक जाति (ट्राइब) थे।[3] जो बाद में पंजाब में फैल गये।[4] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि शूद्र भी आभीरों की भाँति ही एक जाति (ट्राइब) थे। नकुल द्वारा उनकी पराजय उनके स्वशासित जन-समूह होने का संकेत करता है। यूनानी इतिहासकारों के वर्णन से भी ज्ञात होता है कि चतुर्थ सदी ई० पू० में शूद्र जाति के लोग वर्तमान सिन्ध-प्रदेश में रहते थे। डिओडोरस ने उन्हें सोड्राई (Sodrai) तथा एरियन ने सोग्डाई (Sogdoi) नाम से अभिहित किया है।[5] टालमी ने भी सीड्रोई (Sydroi) जाति का उल्लेख किया है। यह जाति मध्य एरोकोशिया में रहती थी जिसकी पूर्वी सीमा सिन्धु नद का स्पर्श करती थी।[6] इस जाति की शाखायें अफ़गानिस्तान से लेकर सरस्वती के समीप तक फैली हुई थीं। महाभारत में शूद्रों और आभीरों का निवास सरस्वती के निकट बताया गया है।[7] अथर्ववेद में तकमान (ज्वर) को भूजवन्तों, महावृषों और वाह्लीको के साथ एक शूद्रों पर भी आक्र-

शूद्रों की उत्पत्ति

---

१. ट्रान्सलेशन आव ऋग्वेद ३, २१२।
२. महाभारत ६.१०.६६
३. जे० बी० आर० एस०, ४१ पृ० १६०-१
४. वही ४१, पृ० २५५
५. मिक्रिण्डल, इनवेजन आव इण्डिया, पृ० २९३,१५७
६. मिक्रिण्डल, ऐन्श्येन्ट इण्डिया डिस्काइब्ड बाई टोलेमी, पृ० ३१७
७. महाभारत, २.२९.९

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

मण करने के लिये कहा गया है।[१] इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं—एक तो यह कि इस प्रसंग में वर्णित शूद्र, समाज का चतुर्थ वर्ण न होकर, भूजवन्तों महावृषों और वाह्लीकों की भाँति ही एक जाति थी। दूसरे, ये सभी लोग उत्तर पश्चिम भारत में ही निवास करते थे।[२] उपर्युक्त प्रमाणों की पृष्ठ-भूमि में यह प्रतीत होता है कि जिन दासों से आर्यों का संघर्ष हुआ, उनकी एक प्रबल शाखा का नाम शूद्र था। इनके इस स्थानीय नाम का परिचय आर्यों को काफी बाद में सम्पर्क की स्थिति में हुआ होगा। यही कारण है कि इस नाम का उल्लेख ऋग्वेद के मूल भाग में नहीं हुआ है।

शूद्रों को आर्यों की प्रारम्भिक लहर (वेबर और राथ का मत) अथवा ऋग्वैदिक आर्यों का अनुगामी मानना[३] ज्ञात प्रमाणों द्वारा अनुमोदित नहीं है। यह सच है कि शूद्रों का पैत्रिक प्रदेश पश्चिमोत्तर भारत आर्यों का भी निवास-स्थान था,[४] किन्तु मात्र इसके आधार पर शूद्रों को आर्यों से सम्बन्धित करना ऐतिहासिक दृष्टि से समीचीन न होगा। हम देख चुके हैं कि इसी प्रदेश में अनार्य सैन्धव सभ्यता का विकास हो चुका था। मोएनजोदड़ों से प्राप्त चन्द अस्थिपंजरों के आधार पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि आर्यों ने सैन्धव सभ्यता के निर्माताओं को समूल नष्ट कर दिया। उनमें से अधिकांश आर्य स्वामियों के साथ पराधीनता की छाया में जीने को विवश हुये होंगे। जहाँ तक ब्राह्मण युगीन शूद्रों द्वारा आर्य-भाषा के ज्ञान का प्रश्न है, वह अत्यन्त अल्प और सम्पर्कजन्य था। उसके आधार पर उनके आर्यत्व की कल्पना नहीं की जा सकती। इसके विपरीत, जैसा कि आगे बताया जायगा,[५] शूद्रों को वेदाध्ययन से वंचित करने का प्रधान कारण उनका संस्कृत भाषा से अपरिचित होना था। वैदिक प्रसंगों से शूद्रों का मूलतः अनार्य होना ही प्रामाणिक है।[६] उत्तर वैदिक साहित्य में भी उन्हें ऋग्वेदिक दासों की भाँति ही आर्य-विरोधी बताया गया है तथा उनके प्रति

---

१. अथर्ववेद ५.२७.७-८
२. वैदिक एज, पृ० २५८-५९
३. रामशरण शर्मा, शूद्राज इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ३३।
४. म्यूर, ओरियण्टल संस्कृत टेक्स्ट्स, २. पृ० ३५५-५७।
५. द्र० इसी अध्याय के अग्रिम पृष्ठ
६. केम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया, १, पृ० ८६, १२८-२९, वैदिक एज, पृ० ३८६-८७, ओरिजिन्स आव बुद्धिज्म, पृ० २६२-६३।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

घृणा व्यक्त की गई है। हम ऊपर बता चुके हैं कि अथर्ववेद में ज्वर को शूद्रा पर आक्रमण करने के लिये कहा गया है। पैप्पलाद शाखा के उसी मंत्र में शूद्रा के स्थान पर दासी का उल्लेख हुआ है[१] जिससे प्रतीत होता है कि ये दोनों शब्द पर्यायवाची थे। शूद्रों को समाज के सांस्कृतिक जीवन से पृथक् करने का जो प्रयास हमें उत्तर वैदिक साहित्य में मिलता है उससे भी उनके अनार्यत्व का बोध होता है। उत्तर वैदिक युग के अयज्ञीय शूद्र की तुलना ऋग्वेद के अयज्वन दास से की जा सकती है।[२] दास यदि शिश्न-देव थे तो शूद्र भी अधिकांशतः रुद्र के उपासक कहे गये हैं।[३] दासों की भाँति ही शूद्र भी कृष्ण थे। महाभारत में उनके प्रति द्वेष के कारण सरस्वती के मरुस्थल में खो जाने का उल्लेख है।[४] यजुर्वेद में महाव्रत अनुष्ठान के प्रसंग में आर्य और शूद्र के बीच द्वन्द्व की व्यवस्था की गई है जिसमें आर्य विजयी होता है।[५] निश्चय ही यहाँ आर्य-दास संघर्ष का नाटकीय प्रदर्शन है जो आर्यों की विजय और दासों की पराजय का स्मरण दिलाता है। इस प्रकार यह प्रायः स्पष्ट है कि अधिकांश अनार्य जो आर्यों के समाज में अन्तर्भूत हुये उन्हें शूद्रों के इस चौथे वर्ग में स्थान मिला। किन्तु शूद्र वर्ण के अन्तर्गत केवल अनार्य ही थे, ऐसी बात नहीं है। सूत्र-काल तक आर्यों में विश (कामन पीपुल) के कुछ लोग भी, जो खास कर निम्न पेशों में लगे थे, व्यवसाय की समानता के कारण धीरे-धीरे शूद्र वर्ण में गिने जाने लगे। इस तरह आर्थिक एवं सांस्कृतिक-हीनता के कारण बहुत से आर्य भी शूद्रत्व को प्राप्त हुये। उत्तरवैदिक युग के अन्त तक शूद्र वर्ण आर्य अथवा अनार्य शब्द की परिधि से अलग, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़े, शोषित और दलित लोगों का आश्रय बन चुका था।

शूद्र वर्ण अन्य वर्णों की अपेक्षा अत्यन्त हीन अवस्था में था। राजसूय यज्ञ के प्रसंग में चारों वर्णों की स्थिति का संकेत करते हुये शूद्रों को अन्यस्य प्रेष्य, कामोत्थाप्य और यथाकामवध्य कहा गया है।[६] अन्यस्य

---

१. अथर्ववेद, पैप्प०, १३.१.६
२. पंच० ब्रा० ६.१.११
३. शत० ब्रा० ५.३.१.१०
४. महाभारत ६.३७.१
५. वैदिक एण्डेक्स, भाग २, पृ० ३९०
६. ऐत० ब्रा० ७.२६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

प्रेष्य का तात्पर्य तो 'दूसरे का सेवक अथवा दास' प्रतीत होता है, किन्तु कामोत्थाप्य का अर्थ सन्दिग्ध एवं विवादग्रस्त है। कीथ महोदय इसका अर्थ इच्छानुसार निष्कासन के योग्य (To be expelled at will) करते हैं।[1] हाग महोदय ने में कुछ और स्पष्ट करते हुए कहा है कि इसका तात्पर्य उस व्यक्ति से है जो स्वामी के इच्छानुसार निष्कासित किया जा सके।[2] सायण के अनुसार यह शब्द इस बात की सूचना देता है कि शूद्रों से उनका स्वामी दिन अथवा रात में कभी भी स्वेच्छापूर्वक काम ले सकता है। किन्तु उपर्युक्त सभी विद्वानों की व्याख्यायें पूर्वाग्रह से प्रभावित हैं। उत्थाप्य शब्द का सामान्य अर्थ उठाने योग्य है। इसमें निष्कासन अथवा निर्वासन का कोई प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष संकेत नहीं है। कामोत्थाप्य का सही अर्थ 'इच्छानुसार उठाने योग्य' प्रतीत होता है। इस अर्थ की 'यथाकामवध्य' के साथ संगति भी बैठती है। दोनों शब्दों के सामूहिक अर्थ का आशय यह होगा कि शूद्र को इच्छानुसार उठाया जा सकता था तथा इच्छानुसार शूद्र का वध किया जा सकता था। इस कथन से स्पष्ट होता है कि शूद्रों का उत्थान और पतन भी दूसरों की इच्छा पर अवलम्बित था। वे स्वयं अपने भाग्य के निर्णायक नहीं थे। साधारणतया 'यथाकामवध्य' का तात्पर्य उस व्यक्ति से है, जिसकी स्वेच्छापूर्वक, बिना किसी हिचक के हत्या की जा सके किन्तु यहाँ वध का अर्थ हत्या से न होकर ताड़न से प्रतीत होता है। सायण की व्याख्या के अनुसार शूद्र स्वामी द्वारा इच्छानुकूल ताड़ित होता है।[4] निरुक्त के द्वारा भी सायण की यह व्याख्या प्रायः अनुमोदित है। निरुक्त में तीन स्थानों पर वध का अर्थ हत्या करना है[5] तथा पांच स्थानों पर मात्र दंड देना या ताड़न करना।[6] इस प्रसंग में हाग महोदय का अनुवाद अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। उन्होंने इसका अर्थ 'इच्छानुसार पीटा जाने योग्य'

शूद्रों की हीन अवस्था :

---

१. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ३८९
२. ट्रान्सलेशन आव ऐतरेय ब्राह्मण, पृ० ४८५
३. 'मध्यरात्रादौ यदाकदाचिद्दिन इच्छा भवति तदानीम् अयम् उत्थाप्यते।'
४. 'वध्यः = कुपितेन स्वामिना ताड्यो भवति इच्छामनतिक्रम्य'
५. निरुक्त ३.२, ५.१६, १०.११,
६. वही ३.९, ९.१५, १६, १८, १०.२९

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

(To be beaten at pleasure) किया है।[१] शूद्रों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध अनुचित समझा जाता था। यद्यपि वैश्यों और शूद्रों के बीच अनुलोम एवं प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाह प्रायः मान्य थे तथापि यह भी कहा गया है कि शूद्रा का आर्य पति समृद्धि की प्राप्ति नहीं कर पाता है।[२] टीकाकार ने यहां आर्य का अर्थ वैश्य किया है।[३] यह बात भी प्रमाणित कि सामाजिक विरोध के होते हुए ब्राह्मण एवं क्षत्रिय भी स्वतंत्रता-युग में शूद्र स्त्रियों से विवाह करते थे।[४] लगभग एक दर्जन ऐसे ऋषियों के भविष्य पुराण में संग्रहीत हैं जिनकी मातायें शूद्र वर्ण की थीं।[५] कुछ संशोधन के साथ यह सूची महाभारत एवं अन्य पुराणों में भी मिलती है। महाभारत के अनुसार व्यास धीवर कन्या से, पराशर श्वपाक नारी से, कपि जाबाद चंडाल स्त्री से, वशिष्ठ गणिका से तथा मुनिश्रेष्ठ मदनपाल नाविक की कन्या से उत्पन्न हुए थे।[६] इन ऋषियों की वास्तविक स्थिति तथा कालक्रम के विषय में तो निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता किन्तु इनसे ऋषि और शूद्रा के बीच के वैवाहिक सम्बन्ध के प्रचलन की पुष्टि होती है। उत्तर वैदिक काल में राजाओं की शूद्रा भार्या तो प्रायः प्रमाणित है। राजा की चौथी और न्यूनतम समादृत पत्नी पालागली शूद्रा ही थीं।[७] किन्तु आर्यों की शूद्रा पत्नियों को धर्मपत्नी होने का गौरव नहीं प्राप्त हुआ। आर्य परिवार में रहते हुए भी उन्हें धार्मिक एवं सामाजिक सुविधायें पूर्णतः प्राप्त नहीं थीं। यही कारण है कि शांखायन ब्राह्मण शूद्रा भार्या को केवल वासना की तृप्ति का साधन मानता है।[८] धर्मसूत्रों में भी शूद्रवर्णा पत्नी को मात्र रमण के लिए उपयुक्त कहा गया है।

समाज का अविच्छिन्न अंग होते हुये भी शूद्र अन्य तीन वर्गों से पृथक् था। उसके लिये एक सीमा निर्धारित थी जिसका वह अतिक्रमण नहीं कर

---

१. ट्रान्सलेशन आव ऐतरेय ब्राह्मण, पृ० ४८५
२. वाज० सं० २३.३०, मै० सं० ३.१३.१
३. वाज० सं० २३.३० पर महीधर और उवट की टीका।
४. कैम्ब्रिज हिस्टरी आव इण्डिया, भाग १, पृ० १२६।
५. भविष्य पुराण १.४२.२२-२६
६. महाभारत ५३.१३-१९ (कुम्भ० संस्करण)
७. शांखा० श्रो० सू० १६.४.४
८. शांखा० ब्रा० २७.१

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

सकता था। वैश्य अपने पतन के पश्चात् भी द्विजातियों के सभी धार्मिक और सामाजिक सुविधाओं से युक्त था। इसके विपरीत शूद्र आर्यों के सांस्कृतिक जीवन से पृथक् था। न तो उसे उपनयन का अधिकार था और न तो वेदाध्ययन की सुविधा। वाजसनेयी संहिता में एक स्थान पर कहा गया है कि सभी जनों को 'कल्याणीवाक्' बोलना चाहिये।[१] श्री मुकर्जी के अनुसार कल्याणीवाक् का तात्पर्य वेदाध्ययन से है। इस आधार पर उनका कथन हैं कि सभी लोग समान रूप से वेदाध्ययन कर सकते थे।[२] किन्तु 'कल्याणीवाक् का यह अर्थ प्रामाणिक नहीं हैं। टीकाकार महीधर और उवट के अनुसार 'कल्याणीवाक्' का अर्थ दयायुक्त अथवा सहानुभूतियुक्त वचन से है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सभी वर्ण वाले लोगों को बात करते समय भद्र शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। संहिता और ब्राह्मण साहित्य में शूद्र को उपनयन से पृथक् करने का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं है। उपनयन का प्रथम स्पष्ट वर्णन अथर्ववेद में हुआ है[३] जहाँ बालक के दूसरे जन्म का (द्विजत्व) का संकेत है। किन्तु यहां भी बालक के वर्ण का कोई वर्णन नहीं हैं। श्री अनन्त सदाशिव अल्तेकर के अनुसार उपनयन का प्रचलन प्रारम्भ में केवल पुरोहितों में ही था जो क्रमश, ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों द्वारा भी अपनाया गया।[४] यह सच है कि समाज क धार्मिक जीवन से सम्बद्ध होने के कारण अधिकांशतः पुरोहितों अथवा ब्राह्मणों के लड़के ही वेदाध्ययन करते थे जिनका समुचित रीति से उपनयन संस्कार होता था,[५] किन्तु अथर्ववेद से हम राजा एवं कन्या द्वारा ब्रह्मचर्य व्रत के आचरण की बात जानते हैं। उपनयन संस्कार का शैक्षणिक महत्व सम्भवतः बाद में विकसित हुआ। प्रारम्भ में यह एक जातीय संस्कार था जिसके द्वारा बालक को जन की सदस्यता प्राप्त होती थी। प्रारम्भिक ईरानियों में भी इस प्रकार की प्रथा थी जिसके द्वारा प्रत्येक पन्द्रह वर्ष की अवस्था के लड़के लड़की को

---

१. वाज० सं० २६. २, यथेमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः ब्रह्मराजन्येभ्याम् शूद्राय आर्याय च

२. ऐन्श्येन्ट इण्डियन एजुकेशन, पृ० ५३

३. अथर्ववेद ११. ५. ३

४. एजुकेशन इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० १०

५. तै० सं० ६. ३. १०, गो० ब्रा० १. २. २-४।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

समाज की सदस्यता प्राप्त होती थी।[१] श्री शर्मा का मत है कि प्रारम्भ में शूद्र भी उपनयन के अधिकारी रहे होंगे।[२] उनकी कल्पना का मूल आधार शूद्रों के उपनयन के निषेध के सम्बन्ध में संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों का मौन ही है। किन्तु इस मौन के आधार पर किसी ऐतिहासिक निष्कर्ष पर पहुँचना सर्वथा असम्भव है। सूत्र साहित्य में तो स्पष्टतः उपनयन और वेदाध्ययन से शूद्रों को पृथक् किया गया है।[३] इनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के उपनयन के लिये ऋतुओं का निर्धारण है किन्तु शूद्र के लिये नहीं।[४] एक दूसरे ग्रन्थ में कहा गया है कि उपनीत व्यक्ति को शूद्र से बात नहीं करनी चाहिए।[५] यद्यपि ये सभी प्रमाण उत्तरवैदिक युग के सायंकाल से सम्बन्धित हैं तथापि ब्राह्मणों के युग की अवस्था भी बहुत कुछ समान होने के कारण उन उद्धरणों की प्रमाणिकता स्वीकार्य है। दूसरे वैदिक यज्ञों एवं महत्वपूर्ण कर्मकाण्डों से भी शूद्रों को पृथक् करने के नियम ब्राह्मणों में मिलते हैं जिनके विषय में हम अग्रिम पृष्ठों में विचार करेंगे। वैदिक साहित्य की पवित्रता यज्ञों और अनुष्ठानों से कम नहीं थी फिर शूद्रों का उपनयन तथा वेदाध्ययन सर्वथा अकल्पनीय प्रतीत होता है। तीसरे, जैसा कि पहले ही कहा गया है उपनयन आर्यों का जातीय संस्कार था। उत्तरवैदिक युग तक सामाजिक व्यवस्था में अन्तर्निहित होने के पश्चात् भी शूद्र आर्यों के लिये विजातीय ही था।[६] वे उपनयन के द्वारा उन्हें अपने समान सामाजिक स्तर प्रदान करने को कदापि प्रस्तुत नहीं थे। ईरान में भी नवजोत नामक संस्कार हुइती वर्ग के लिये निषिद्ध था।[७] विधिवत वेदाध्ययन की परम्परा तो केवल ब्राह्मणों में ही थी। क्षत्रियों में सामान्यतया युद्धविद्या का ही प्रचलन था।[८] वैसे कुछ जिज्ञासु राजन्य वेदाध्ययन में भी पर्याप्त रुचि लेते थे तथा दार्शनिक ज्ञान के विकास में भी

---

१. वेन्दिदाद, १८.९
२. शूद्राज इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ६७-६८
३. शाट्या० श्रौ० सू० २६.१.२०
४. वही, १९.३.२६
५. दाह्या० श्रौ० सू० ७.३.१४
६. दत्त, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आव कास्ट इन इण्डिया, पृ०
७. सेनार्ट, कास्ट इन इण्डिया, पृ० ११८
८. जे० ए० ओ० एस० १३, पृ० १०६–११३

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

उनका योग था। वैश्यों में अधिकांशतः व्यावसायिक शिक्षा का ही प्रचलन था। वैश्यों की ही भांति शूद्र भी व्यावसायिक शिक्षा ही प्राप्त करते थे जो उन्हें परिवार और जाति के माध्यम से प्राप्त होती थी। उनके समक्ष आर्थिक एवं सामाजिक कठिनाइयां इतनी प्रबल थीं कि न तो उनके पास वैदिक धर्म तथा साहित्य के अध्ययन के लिये समय था और न तो सुविधा ही।

धार्मिक जीवत से शूद्रों के पृथक्करण का प्रयास

शूद्रों को धार्मिक अनुष्ठानों से पृथक् करने का भगीरथ प्रयास उत्तरवैदिक युग से ही प्रारम्भ होता है जिसकी अविच्छिन्न परम्परा हमें उन्नीसवीं सदी तक मिलती है। जन्मगत हीनता के कारण शूद्र को यज्ञ से बहिष्कृत किया गया।[१] शतपथ ब्राह्मण यज्ञ की अग्नि को शूद्र के लिये अस्पृश्य बतलाता है।[२] यद्यपि शूद्र अश्वमेध यज्ञ में प्रहरी का कार्य करता था तथापि वह यज्ञशाला में प्रवेश नहीं कर सकता था। शतपथ ब्राह्मण उसे निश्चित रूप से अयज्ञीय बतलाता है।[३] काठक संहिता का एक अंश स्त्रियों तथा शूद्रों को यज्ञ के अवसर पर सोम पीने के अधिकार से वंचित करता है किन्तु यह वर्णन यजुर्वेद की अन्य शाखा का मत मानते है।[४] शतपथ ब्राह्मण में अन्यत्र दीक्षित व्यक्ति के लिये शूद्र से बोलने तक का निषेध किया है।[५] पंचविंश ब्राह्मण में कहा गया है कि शूद्रों के न तो देवता है और न तो उन्हें यज्ञ करने का अधिकार है।[६] अग्निहोत्र के लिये आवश्यक दुग्ध के दोहन का अधिकार भी शूद्र को नहीं है।[७] यहां हम स्पर्शजन्य अपवित्रता का आभास पाते हैं। मैत्रायणी संहिता में तो कहा गया है कि दुहने की थाली भी किसी आर्य द्वारा ही

---

१. तै० ब्रा० ३.२.३.९, कात्या० श्रौ० सू० १.५,
शांखा० श्रौ० सू० १.१.१–३, आश्व० श्रौ० सू० १.३.३

२. शत० ब्रा० ६.४.४.९

३. वही ३.१.१.१०

४. शूद्राज इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ७४

५. शत० ब्रा० ३.१.१. १०

६. पंच० ब्रा० ६.१.११

७. काठक सं० ३१.२, मैत्रा० सं० ४.१.३, तै० ब्रा० ३.२.३.९–१०

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

निर्मित होनी चाहिये।[१] तैतिरीय संहिता में कहा गया है कि शूद्रों को धार्मिक अवसरों पर द्विजातियों के चरणप्रक्षालन का कार्य करना चाहिये।[२]

वैदिक युग के अन्तिम चरण तक निश्चित रूप से शूद्र पवित्र अवसरों के लिये अछूत समझा जाने लगा था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्रवर्ग्य नामक उत्सव में यजमान को स्त्रियों और शूद्रों से सम्बन्ध तोड़ देना चाहिये क्योंकि वे अनृत हैं।[३] परवर्ती साहित्य में स्त्रियों एवं शूद्रों को यज्ञ से बहिष्कृत करने का प्रयास प्रायः सर्वत्र मिलता है।[४] एक प्रसंग में तक्षन (बढ़ई) के भी स्पर्श से अशुद्धि की कल्पना की गई।[५] ज्ञातव्य है कि अथर्ववेद में उसे विश के सम्मान्य सदस्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। शूद्रों की स्पर्शगत अपवित्रता का उल्लेख संहिताओं में नहीं मिलता। ऐसे प्रसंग शतपथ ब्राह्मण और श्रौतसूत्रों में ही मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि शूद्रों की धार्मिक अपवित्रता का विचार तथा स्पर्श एवं दर्शन का निषेध वैदिक युग के समाप्तिकाल में ही विशेष दृष्टिगोचर होता है। साथ ही शूद्रों को यज्ञादि पवित्र अवसरों पर ही अपवित्र माना जाता था। साधारणतया जीवन के अन्य पक्षों में इनका सम्पर्क हेय नहीं माना जाता था। हम जानते हैं कि बहुत बाद तक ब्राह्मणों के घर में शूद्र रसोइया हुआ करते थे तथा ब्राह्मण लोग शूद्र द्वारा बनाये भोजन को ग्रहण करने में किसी प्रकार की हिचक नहीं करते थे।[६] चण्डाल और पौल्कस जैसे बर्बर एवं घृणास्पद जीवन व्यतीत करने वाले लोगों का अन्न अवश्य ही अशुद्ध और अग्राह्य था, जिसका प्रधान कारण उनकी अतिशय गन्दी आदतें थीं। उदाहरणार्थ श्वपाक इसलिये तिरस्कृत थे कि वे श्वान-मांसभक्षी थे जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है। छांदोग्य उपनिषद में उशस्ति नाम के एक ब्राह्मण का वर्णन है जिसने एक हस्तिपालक के भोजन का शेषांश ग्रहण किया तथा उसी दिन एक पड़ोसी

---

१. मैत्रा० सं० १.८.३

२. तै० सं० ७.१.१

३. शत० ब्रा० १४.१.१.३१

४. द्र०, जे० बी० आर० एस० ३६, १८१–९१

५. शत० ब्रा० १.१.३.१२, अशुद्धस्तक्षा

६. आचार्य क्षितिमोहन सेन, संस्कृति-संगम,

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

राजा के यहां पौरोहित्य करने की इच्छा से उपस्थित हुआ।[१] इससे प्रकट है कि साधारण-स्थिति में शूद्र का अन्न ग्राह्य था।

शूद्र धार्मिक जीवन में बहिष्कृत होते हुये भी कतिपय याज्ञिक कृत्यों में भाग ले सकते थे। उदाहरण के लिए अन्य वर्णों के साथ वह यज्ञ की हवि तैयार करने में भाग लेता था। शतपथ ब्राह्मण में एक शूद्र के पितृमेध यज्ञ में करने का उल्लेख है।[२] किन्तु इन कतिपय अपवादस्वरूप प्रमाणों के आधार पर शूद्रों का याज्ञिक धर्म में प्रवेश स्वीकार नहीं किया जा सकता। ये शूद्र अधिकांशतः रुद्र के उपासक थे। रथकार, कुलाल, कर्मार, निषाद, पुंजिष्ठ, श्वा-मृगयु, धनुकार, ईषुकार आदि-विभिन्न जातियों एवं व्यवसायियों के लोग रुद्र के उपासक कहे गये हैं। इनमें अधिकांश शूद्र थे।[३] शूद्रों के लिये, जो अधिकांशतः अनार्य थे, वैदिक देवता रुद्र अधिक आकर्षक था, क्योंकि उत्तरवैदिक युग तक अनार्य देवता शिव और वैदिक रुद्र का एकीकरण हो चुका था। इस प्रकार वैदिक धर्म के अन्तर्गत ही परोक्ष रूप में अनार्यों ने अपने धार्मिक परम्पराओं के प्रति आस्था प्रकट की। ज्यों-ज्यों समाज के उच्च वर्णों की सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि होती गई तथा विश के साधारण-सदस्यों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति गिरती गई वैसे ही ये निराश एवं दलितलोग अनार्य जनता के अधिक समीप आते गये। परिणामतः रथकार और कर्मार जैसे व्यवसायी भी, जो विश के सदस्य थे, रुद्र के उपासक हो गये। रत्न-हविषी नामक उत्सव के अवसर पर रुद्र को गोविवर्तन का देवता कहा गया है।[४] सायण ने उन्हें निम्न जातीय माना है।

शूद्रों को वैदिक धर्म एवं याज्ञिक कर्मकाण्डों से पृथक् करने के कई कारण थे। आर्थिक प्रगति एवं सामाजिक विभाजन ने यज्ञों के स्वरूप को बिल्कुल बदल दिया जिसके फलस्वरूप यज्ञ बड़े ही विस्तृत दुरूह एवं व्ययपूर्ण हो गये। कालक्रमेण यज्ञ उच्च वर्णों के विशेषाधिकार हो गये क्योंकि उन्हीं के पास इन विस्तृत यज्ञों को चलाने के साधन एवं सुविधायें थीं। महाभारत में युधिष्ठिर ने स्पष्टतः कहा है कि याज्ञिक धर्म निर्धन व्यक्ति की शक्ति के बाहर

---

१. छान्दोग्य उप० १.१०
२. शत० ब्रा० १३.८.३.११
३. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० २४९–५०
४. शत० ब्रा० ५.३.१.१०

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

है।[१] शूद्र जिनकी आर्थिक दशा अत्यन्त हीन थी यज्ञ के व्यय में असमर्थ थे। सम्पन्न शूद्र यज्ञ के अधिकारीरहे होंगे,[२] ऐसा निष्कर्ष निकालना भी गलत है क्योंकि आर्थिक कठिनाइयों के अतिरिक्त अन्य कठिनाइयां भी शूद्रों के समक्ष थीं।

बहुधा विजेता जातियों में अपने धर्म एवं संस्कृति के बलपूर्वक प्रचार की भावना होती है। वैदिक आर्यों में इसके विपरीत स्थानीय जनता को अपने धार्मिक जीवन से पृथक् रखने की परम्परा बड़ी ही विचित्र लगती है। इतना अवश्य है कि ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में ब्राह्मण विश्वास की पवित्रता की रक्षा के लिये शूद्रों के पृथक्करण का प्रमाण हम नहीं पाते, किन्तु ब्राह्मणों एवं उपनिषदों के युग तक ज्यों-ज्यों आर्यों और अनार्यों का सम्पर्क बढ़ता गया वैसे ही पृथक्करण की नीति भी बढ़ती गई। ईग्लिंग महोदय का विचार इस समस्या का आंशिक समाधान प्रस्तुत करता है।[३] उनके अनुसार अनार्यों की धार्मिक परम्पराओं के प्रभाव से जब ब्राह्मणों के धार्मिक विश्वास आच्छादित एवं संकटाकीर्ण होने लगे तब आर्यों ने अपने और अनार्य शूद्रों के बीच एक अनुलंघनीय सीमा के निर्धारण का प्रयास किया जिसके पीछे सांस्कृतिक स्वत्व की रक्षा की भावना विद्यमान थी। पहले अध्याय में हम देख चुके हैं कि प्रागार्य भारतीयों का धार्मिक जीवन कितना समुन्नत था। आज भी भारतीयों के धार्मिक विश्वासों का अधिकांश अनार्य है।

इसके अतिरिक्त शूद्र लोग आर्यों के सम्पर्क के पश्चात् भी अपने परम्परागत धार्मिक विश्वासों को सहज ही छोड़ने को तैयार नहीं थे। मूर्तिपूजक होने के कारण यज्ञ-प्रधान वैदिक धर्म के प्रति उनकी अनासक्ति सर्वथा स्वाभाविक थी। साथ ही वैदिक मंत्रों के उच्चारण की शुद्धता का भी धार्मिक महत्व था। शूद्रों के लिये, संस्कृत भाषा से अल्प परिचय होने के कारण, उच्चारण की शुद्धता, मंत्रों का उचित पाठ तथा अनुष्ठानों का सही ढंग से सम्पादन बड़ा ही दुष्कर था। अतः इन व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण भी शूद्र याज्ञिक धर्म के प्रति हतोत्साहित हुये तथा हतोत्साहित किये गये।

---

१. महाभारत (कुम्भ०) १३.१६४.२-३, न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञाः प्राप्तुं पितामह, बहूपकरणा यज्ञा नानासम्भार विस्तराः, पार्थिवैः राजपुत्रैर वा शक्याः प्राप्तुं पितामह, नार्थन्यूनैरवगुणैरेकात्मभिरसंहतैः।

२. शर्मा, शूद्राज़ इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ८०

३. सेक्रेड बुक्स आव दि ईस्ट, भाग १२, भूमिका, पृ० १३

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

शूद्रों की आर्थिक स्थिति भी पर्याप्त रूप से हीन थी। ये लोग कठोर परिश्रम करते थे किन्तु परिश्रम से उत्पन्न वस्तुओं का पूर्ण उपभोग स्वयं नहीं कर पाते थे। जैमिनीय ब्राह्मण में कहा गया है कि अश्वमेध यज्ञ के द्वारा वैश्य धनवान होता है और शूद्र कुशल कर्मकर्ता।[१] कर्मकर्ता का अर्थ सम्भवतः श्रमजीवी है क्योंकि वेदोत्तर युग में इसका प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। प्रारम्भिक उपनिषदोंमें शूद्र को वैश्यों की भांति ही पूषन कहा है।[२] इससे प्रतीत होता है कि शूद्र अपने श्रम के द्वारा समाज के अन्य वर्णों का पोषण करता था। इनके श्रम का उपयोग अधिकांशतः कृषिक में होता था।[३] ये शूद्र बहुधा सम्पन्न एवं सम्भ्रान्त लोगों की भूमि पर कृषि करते थे तथा यदा-कदा भूमि सहित दान में दिये जाते थे।[४] 'वैदिक इण्डेक्स' के लेखकों ने आर्थिक दृष्टि से इनकी तुलना यूरोपीय सर्फ (Serfs) से की है।[५] सम्भव है कुछ धनी शूद्र व्यक्तिगत भूमि पर भी कृषि कर्म करते रहे हों। ये लोग कृषि के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धों में लगे हुये थे। सूत्र-साहित्य में इनके लिये व्यापार तथा वाणिज्य की भी व्यवस्था है।[६] महाभारत में शूद्र को सम्पत्तिहीन बतलाया गया है।[७] किन्तु पंचविंश ब्राह्मण में शूद्र के बहुपशु होने का भी संकेत मिलता है।[८] कुछ संहिताओं में धनवान् शूद्रों का भी उल्लेख हुआ है।[९] इस प्रकार शूद्र वर्ग के लोग विभिन्न व्यवसायों के द्वारा अपनी रोटी की व्यवस्था में लगे थे किन्तु युगीन साहित्य में उनका कर्तव्य निर्धारित करते हुये सेवा कर्म की व्यवस्था ही की गई[१०]

---

१. जै० ब्रा० २.२६६.
२. वृ० उप० १.४.३
३. मुकर्जी, ऐन्श्येन्ट इण्डियन एजुकेशन, पृ० १५८
४. शांखा० श्रौ० सू० १६.१४.१८ सहपुरुषं च दीयते, १६.१५.२०, कात्यायन श्रौत सूत्र २२.१० में भूमिशूद्रवर्जनम् का उल्लेख है। यह निषेध भी आँशिक रूप से इसप्रथा के प्रचलन का संकेत करता है।
५. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ३८९
६. वही, भाग २, पृ० ३९१
७. महाभारत, १२.३०.७
८. पंच० ब्रा० ६.१.११
९. मैत्रा० सं० ४.२.७.१०, पंच० ब्रा० ६.१.११
१०. जै० ब्रा० १.६८–९, शाट्या० श्रौ० सू० २१.१.७

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

जिसके पीछे उच्च वर्गों की स्वार्थभावना ही प्रबल थी। कुछ शूद्र द्विजातियों के यहां सेवक का भी कार्य करते थे क्योंकि स्थान-स्थान पर उनका कार्य द्विजातियों का चरणप्रक्षालन (पादावनेज्य) बताया गया है।

तत्कालीन राजनैतिक जीवन में शूद्रों का स्थान अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण था। वे समाज के एक विशाल जनसमूह का प्रतिनिधित्व करते थे अतः उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती थी। राजा द्वारा समादृत बारह रत्नियों में शूद्रों का भी स्थान था।[१] बारह सदस्यों की यह सभा हिन्द-यूरोपीय जाति की अन्य शाखाओं में भी मिलती है।[२] ये रत्निन इतने महत्वपूर्ण थे कि राजसूय यज्ञ के अवसर पर राजा को स्वतः इनके यहां रत्नहर्विषी नामक अनुष्ठान के लिये जाना पड़ता था। इन रत्नियों में प्रायः सभी वर्णों के सदस्य थे। तक्षन और रथकार को भी रत्नियों में स्थान दिया गया है। किन्तु इनका राजनैतिक महत्व इनके व्यवसाय की महत्ता के कारण था। इन लोगों ने आर्यों के पूर्व की ओर प्रसार में रथों एवं गाड़ियों के निर्माण से सहायता प्रदान की। दूसरे, इनके कार्य का सामरिक महत्व भी था। शतपथ ब्राह्मण इन दोनों रत्नियों का उल्लेख न करके गोविकर्तन (Huntsman) और पालागल (Messenger) का उल्लेख करता है।[३] ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों रत्निन शूद्र वर्ग के थे। पालागल के शूद्रत्व की सम्भावना इस बात से होती है कि पालागली को शूद्रा कहा गया है।[४] गोविकर्तन, जिसे शतपथ ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों द्वारा भी रत्नियों की सूची में स्थान दिया गया है,[५] सायण द्वारा हीन जाति वाला कहा गया है।[६] सायण ने इसी प्रकार सेनानी नामक रत्निन को भी शूद्र माना है।[७] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि राजनैतिक जीवन में शूद्रों

---

१. हिन्दू पालिटी, भाग २, पृ० २०
२. चादविक, हिरोइक एज, पृ० ३७०
३. शत० ब्रा० ५.३.१.१०–११
४. शांखा० श्रौ० सू० १६.४.४, शत० ब्रा० १३.५.२.८
५. मै० सं० २.६.५, आप० श्रौ० सू० १८.१०.२०. शाट्या श्रौ० सू० १३.४.८
६. सायण की टीका—शत० ब्रा० ५.३.२.२-४
७. द्र०, सायण की टीका, शत० ब्रा० ५.३.२.२, शूद्रान सेनान्यादिन ।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

का भी प्रतिनिधित्व था। अन्य वर्णों के रत्नियों की भांति शूद्र रत्निन भी इतने महत्वपूर्ण समझे जाते थे कि राजा राजसूय के प्रसंग में स्वयं उनके यहाँ उपस्थित होता था। रत्निन के रूप में इनके अधिकार और कर्तव्य का विशेष उल्लेख नहीं हुआ है जिससे इनकी अवज्ञा का बोध होता है। ऐसा प्रतीत होता हैं कि इनका प्रतिनिधित्व औपचारिक मात्र था।

जायसवाल महोदय रत्नहविषी नामक उत्सव को बहुत महत्व देते हैं जिसमें भावी नरेश एक विजित शूद्र की पूजा करता था।[1] इस राजकीय सम्मान के कारण हीन शूद्रों की स्थिति भी कुछ गौरवान्वित हुई हो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यह कहना गलत होगा कि शूद्र वर्ण के रत्निन केवल अपने विशिष्ट व्यवसायों के कारण ही समादृत थे तथा वे अपने वर्ण का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। पालागल (संदेशवाहक) तथा गोविकर्तन (शिकारियों का प्रधान) का व्यवसाय किसी भी प्रकार से विशेष महत्वपूर्ण नहीं कहा का सकता। वास्तव में शूद्रों के राजनैतिक प्रतिनिधित्व का कारण भी अंशतः राजनैतिक था। प्रथमतः अनार्यों के साथ दीर्घकालीन संघर्ष के पश्चात् शान्तिपूर्ण शासन के लिये समझौते की आवश्यकता थी। इन शूद्रों के माध्यम से निम्नस्तरीय अनार्य जनता का भी प्रतिनिधित्व हो जाता था। दूसरे वैदिक राजा की स्थिति बहुत कुछ जनता के सहयोग पर निर्भर थी जैसा कि अथर्ववेद (३.५.६) से स्पष्ट होता है। वैश्यों तथा शूद्रों का वर्ग संख्या में अधिक था। इन्हीं दो वर्गों द्वारा उच्चवर्गों का भरण-पोषण भी होता था। अतः इनकी सन्तुष्टि के लिये तथा राजसत्ता को स्थिर रखने के लिये इन्हें राजकीय सम्मान प्रदान किया जाता था। शूद्रों का राजनैतिक महत्व राजसूय-यज्ञ में होने वाली द्यूतक्रीड़ा से भी स्पष्ट होता है। कृष्ण-यजुर्वेद की पुरानी परम्परा के अनुसार द्यूतक्रीड़ा में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों भाग लेते थे तथा अन्त में राजा विजयी होता था।[2] वाजसनेयी संहिता में द्यूतक्रीड़ा में केवल ब्राह्मणों और क्षत्रियों के ही भाग लेने का उल्लेख है।[3] इससे प्रतीत होता है कि इस अनुष्ठान से वैश्यों और शूद्रों को पृथक् करने का प्रयास भी प्रारम्भ हो चुका था।

---

१. हिन्दू पालिटी, २ पृ० २१

२. मै० सं० ४.४.६, वाराह श्रौ० सू ३.३.३.२४, आप० श्रौ० सू० १८.१९.२-३, शाट्या० श्रौ० सू० १३.६.२९-३०

३. वाज० सं० १०.२९

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

फिर भी द्यूतक्रीड़ा में शूद्रों के भाग लेने का जो उल्लेख है उससे राजनैतिक जीवन में इस वर्ण के प्रतिनिधित्व की बात प्रमाणित होती है। राजसूय यज्ञ के एक दूसरे कृत्य के अनुसार राजा ब्राह्मण को स्वर्ण क्षत्रिय को धनुष और तीन बाण, वैश्य को लाठी और शूद्र को बीज से भरा पात्र देता है तथा बदले में उनके गुणों को प्राप्त करने की कामना करता है।[१] इस प्रकार वह शूद्र से दीर्घजीवन प्राप्त करता है। युधिष्ठिर के राजसूय के अवसर पर शूद्र भी निमंत्रित हुये थे।[२] यजुर्वेद की संहिताओं से ज्ञात होता है कि राजा राजसूय के अवसर पर सूर्य की उपासना करता हुआ आर्य और शूद्र के प्रति किये गये पाप के लिये प्रायश्चित करता था।[३]

अश्वमेध यज्ञ में सशस्त्र सैनिक के रूप में अश्व की रक्षा करते हुए भी शूदों का उल्लेख है।[४] शूदों द्वारा सैनिक वृत्ति का धारण आश्चर्यजनक नहीं है। तैत्तिरीय संहिता में भी शूद्र सैनिकों का उल्लेख मिलता है।[५] महाभारत में तो चारों वर्णों द्वारा शस्त्रधारण की बात कही गई है।[६] इस प्रकार राजसत्ता की रक्षा में शूद्रों का सशस्त्र योग भी इस युग में अज्ञात नहीं था। राजनैतिक महत्व के अनुष्ठानों में शूद्र कहाँ तक भाग लेते थे, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि विशेष पवित्र एवं महत्वपूर्ण अनुष्ठान में वे भाग नहीं लेते थे। राजसूय यज्ञ में ही शूद्र अभिषेचन में भाग लेने का अधिकारी नहीं था।[७] जायसवाल महोदय के अनुसार जन्य अथवा जन्यमित्र नामक जो चौथा व्यक्ति जल छिड़कता था, वह शूद्र होता था।[८] किन्तु जन्य या जन्यमित्र का अर्थ शूद्र करना कल्पना मात्र पर अवलम्बित है। वाजपेय यज्ञ में भी शूद्र के प्रवेश का अधिकार नहीं था।[९]

---

१. काठक सं० ३८.१
२. विशश्च भावयान् शूद्रांश्च सर्वानानयनेति च, महा० २.३०.१४
३. तै० सं० १.८.३.१, काठक सं० ३८.५, शत० ब्रा० १२.९.२.३
४. शतम शूद्रावरुथिनः, आप० श्रौ० सू० २०.५.१३, शाट्या श्रौ० सू० २०.५०
५. तै० सं० ६.४,८
६. महाभारत ५.९४.७
७. शत० ब्रा० ३.५.११-१४, तै० ब्रा० १.७.८.७
८. हिन्दू पालिटी, भाग २, पृ० २५
९. शांखा० श्रौ० सू० १६.१७.४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

इन सभी बातों के होते हुये भी शूद्र को समाज का अविच्छिन्न और अनिवार्य अंग समझा जाता था। समाज के सुख-दुख में उसका भी भाग था। अथर्ववेद तथा वाजसनेयी संहिता में आर्य और शूद्र दोनों का प्रिय बनने की कामना व्यक्त की गई है।[१] अथर्ववेद में एक ऋषि कहता है कि 'मुझे देवताओं का प्रिय बनाओ, राजन्यों का प्रिय बनाओ, शूद्रों और आर्यों का प्रिय बनाओ।[२] निश्चय ही यहाँ चारो वर्णों के प्रिय बनने की कामना की गई है। एक उल्लेखनीय अंश में, जो यजुर्वेद की लगभग सभी शाखाओं में मिलता है, अग्नि से चारों वर्णों के लोगों को 'रुचम्' (तेज Brilliance) प्रदान करने की प्रार्थना की गई है।[३] उपनिषदों के युग तक नवीन धार्मिक क्रान्ति के साथ ही शूद्रों के प्रति हीन सामाजिक दृष्टिकोण का भी विरोध हुआ। वृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है कि आत्मन् के क्षेत्र में कोई भेद अथवा दुराव नहीं रहता। यहाँ चंडाल और पौल्कश भी हीन नहीं माने जाते हैं।[४] इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद चंडाल को भी अग्निहोत्र के अवशेष का अधिकारी बतलाता है।[५]

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि शूद्रों को अधिकांशतः विजातीय, विजित तथा हीनाचारी होने के कारण समाज के सांस्कृतिक जीवन से पृथक् किया गया। साथ ही उनकी हीन-स्थिति का बुद्धिजीवी वर्ग ने अपने स्वार्थ-साधन हेतु दुरुपयोग भी किया। फिर भी अपनी आर्थिक उपयोगिता के कारण उन्हें कुछ सुविधायें भी प्राप्त हुई थीं। किन्तु कीथ महोदय का यह मत कि इस युग में शूद्रो की स्थिति अस्पष्ट (Ambiguous) थी न्याय-संगत नहीं कहा जा सकता।[६] यत्र-तत्र राजनैतिक अवसरो पर उनके प्रति सम्मान अवश्य प्रकट किया गया है किन्तु मात्र इनके आधार पर शूद्रों की

---

१. अथर्ववेद १९. ३२. ८, ६२. १, वाज० सं० २६.२

२. अथर्ववेद १९.६२. १

३. तै० सं० ५.७.६.४, वाज० सं० १८.४८ मै० सं० ३.४.८

४. वृ० उप० ४.३.२

५. छान्दोग्य उप० ५.२४.४

६. कैम्ब्रिज हिस्टरी आव इण्डया, भाग १, पृ० १२९
शूद्राज इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ८१

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

आदरणीय स्थिति का बोध नहीं होता। इसके विपरीत सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन में उनके बहिष्कार एवं अवज्ञा का जो भाव मिलता है उससे उनकी करुण कथा ही मुखरित होती है। शूद्रों की पशुवत् स्थिति को स्पष्ट करने के लिए ऐतरेय ब्राह्मण का 'यथाकामवध्य' विशेषण ही पर्याप्त है।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

परिवारिक संगठन और स्त्रियों की दशा

उत्तर-वैदिक-युगीन पारिवारिक संगठन बहुत कुछ पूर्ववैदिक-युग के सम्मरोध था यद्यपि इसपर आर्थिक विकास एवं सामाजिक परिवर्तनों का प्रभाव पड़ने के कारण कुछ अन्तर भी आ गये थे। संयुक्त परिवार की परम्परा अभी विच्छिन्न नहीं हो पाई थी।

संयुक्त परिवार

अथर्ववेद (३.३०.१-३) में पारिवारिक जीवन के, जिस आदर्श का चित्रण है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है।[१] पिता के, जो कुटुम्ब का नायक होता था, जीवन काल में उसके सभी पुत्र एवं पौत्र बहुधा साथ-साथ रहते थे लेकिन अब कभी-कभी उसकी वृद्धावस्था में उसके पुत्र पारिवारिक सम्पत्ति का बंटवारा करने की मांग करने लगे थे। जैमिनीय ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि अभिप्रतारण के चार पुत्रों ने उस समय सम्पत्ति के बटवारे के लिए कलह किया जब वह वृद्धावस्था में रोगशैय्या पर पड़ा हुआ था।[२] पुत्रों के कलह का कारण जानने पर अभिप्रतारण ने क्षुब्ध होकर कहा कि 'मैंने सुना थाकि एक समय ऐसा आएगा जब पिता के जीवन कालमें ही पुत्र सम्पत्ति का बटवारा करा लेगे। उसके इस कथन से प्रमाणित होता है कि पिता के जीवन-काल में पुत्रों द्वारा सम्पत्ति-विभाजन एक अज्ञात-पूर्व एवं आश्चर्यजनक बात थी। मनु के पुत्रों ने भी उसके ही जीवन काल में

---

१. सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि व :
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा
सम्य च्च सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।

२. जै० ब्रा० ३.१५६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

सम्पत्ति का बटवारा करा लिया था।[१] इस नवीन परिवर्तन से कई विषयों पर प्रकाश पड़ता है। प्रथम, इससे प्रतीत होता है कि इस युग में पिता की असीम सत्ता का ह्रास होने लगा था। हम कह चुके हैं कि आर्यों की पितृ-प्रधान पारिवारिक व्यवस्था में पुत्रों पर पिता का प्रायः निरंकुश शासन रहता था। पारिवारिक सम्पत्ति का वह एकमात्र स्वामी था और पुत्रों का दाय-प्राप्ति का अधिकार मात्र नैतिक था।[२] किन्तु इसके विपरीत उत्तर-वैदिक युग तक पुत्र पिता की सम्पत्ति पर अपना स्वाभाविक अधिकार मानने लगे थे। स्पष्ट है कि इस युग में एक ओर पिता के निरंकुश अधिकारों का अन्त हो रहा था तो दूसरी ओर पारिवारिक सम्पत्ति पर सामूहिक स्वामित्व की चेतना विकसित हो रही थी। ब्राह्मण युग में पुत्रों के जन्मना स्वत्ववाद का सिद्धान्त अस्तित्व में आ चुका था। किन्तु परवर्ती युग में यह सिद्धान्त प्राचीन परम्परा के अनुकूल न होने के कारण धर्मसूत्रों द्वारा अनुमोदित नहीं हुआ। इन ग्रन्थों में पिता के अधिकारों का समर्थन करते हुए इस बात पर बल दिया गया है कि सम्पत्ति-विभाजन पिता के जीवन काल में नहीं होना चाहिए।[३]

उत्तरवैदिक युग में पारिवारिक विघटन एवं पुत्रों द्वारा सम्पत्ति-विभाजन की यह नवोदित प्रथा बहुत कुछ परिस्थितिजन्य थी। पूर्ववैदिक आर्यों को युद्ध, विजय एवं प्रसार की संकटग्रस्त परिस्थितियों से होकर गुजरना पड़ा। ऐसी स्थिति में चाहते हुए भी एकाकी और विभाजित जीवन व्यतीत करना सर्वथा असुरक्षित था। दूसरे इस युग में पशु (और विशेषतः गायें) आर्थिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण होते हुए भी दुर्लभ नहीं थे। युद्ध में पराजित स्थानीय जनों के पशु-समूह सरलता से आर्यों के हाथ आ जाते थे। उन्हें प्राप्त करने के लिए पारस्परिक संघर्ष की आवश्यकता नहीं थी। इसके विपरीत उत्तरवैदिक युग तक आर्यों का प्रसार-क्रम काफी मन्द पड़ चुका था। वे स्थायी आवास बनाकर रहने लगे थे। राजसत्ताके विकास के साथ शान्ति एवं सुरक्षा में वृद्धि हुई। ऐसी स्थिति में भूसम्पत्ति एवं पशुधन की सहज प्राप्ति दुष्कर हो गई। परिणामतः धीरे-धीरे परिवार की पूर्वार्जित सम्पत्ति ही

---

१. ऐत० ब्रा० ५.१४; तै० सं० ३.१.९.४ के अनुसार यह बटवारा मनु ने स्वयं किया।

२. वैदिक इण्डेक्स, १.३५१

३. गौतम १५.१५, १६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

इसके सदस्यों के आकर्षण का प्रमुख केन्द्र हो गई। शक्तिमान पिता पारिवारिक सम्पत्ति के बटवारे में पूरी मनमानी करता था तथा अपने प्रियपुत्र को सम्पत्ति में अधिक हिस्सा दे सकता था। ताण्ड्य ब्राह्मण[१] में कहा गया है कि पिता का प्रिय पुत्र अधिक सम्पत्ति प्राप्त करता है अतः अन्य पुत्रों को उससे स्वभावतः ईर्ष्या होती है। निश्चय ही सभी पुत्र सम्पत्ति विभाजन में समान भाग चाहते होंगे अतः पिता के मनमाने विभाजन से बचने के लिए उनके अस्वस्थ अथवा अशक्त होने पर स्वयं विभाजन का प्रयास करने लगे। इसके अतिरिक्त पिता के शक्तिमान रहने पर तो° पुत्रों और पुत्रवधुओं पर पर्याप्त शासन रहता था किंतु उसके प्रभाव के हटते ही भाइयों में कलह प्रारम्भ हो जाता था फिर उनका साथ-साथ-रहना प्रायः कठिन हो जाता था। ऐसी स्थिति में यदा-कदा पिता के जीवनकाल में ही भाई अलग हो जाते थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् भी यदि सभी भाई साथ-साथ रहते थे तो ज्येष्ठ भ्राता संयुक्त परिवार का प्रधान बनता था। जान मेन ने इसकी स्थिति पिता से भिन्न मानी है। उनके अनुसार जहां पिता प्रकृत्या परिवार का स्वामी था वहां ज्येष्ठ भ्राता केवल भाइयों के समझाते से परिवारका मुखिया बनता था।[२]

उत्तरवैदिक-युगीन पारिवारिक जीवन में विघटन की प्रक्रिया का संकेत भ्रातृव्य शब्द के अर्थपरिवर्तन से भी होता है। भ्रातृव्य शब्द का अर्थ चचेरा भाई है।[३] अथर्ववेद में उसकी गणना बान्धवों में की गई है।[४] किन्तु ब्राह्मण युग तक हम इसका प्रयोग प्रतिस्पर्धी शत्रु के अर्थ में पाते हैं।[५]

---

१. ताण्डय ब्रा० १६.४.४.३–४

२. मेंन, हिन्दू ला, पृ० ३२०

३. ह्विटने ने अथर्ववेद (२.१८.५) के अनुवाद में इसका मूल अर्थ भतीजा माना है किन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता। यदि पितृव्य का अर्थ चाचा हो सकता है तो निश्चय ही भ्रातृव्य का अर्थ भतीजा न होकर चचेरा भाई ही होगा।

४. अथर्ववेद १०.३.९, ५.२२.१२

५. शत० ब्रा० १.१.१.२१, ऐत० ब्रा० ३.७, पंच० ब्रा० २.७.२, १२.१३.२ देखिए संहिताएं—अथर्ववेद २.१८.१, ७.१.१८, वाज० सं० १.१०, तै० सं० १.३.२.१, ३.५.९.२

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

काठक संहिता में उसे 'अप्रिय' 'पाप्मा' और 'द्विषन' विशेषण दिए गए है।[१] पाणिनि ने भ्रातृव्य शब्द के दोनों अर्थों को समान रूप से स्वीकार किया है।[२] भ्रातृव्य के शत्रु बनने के कारण सामूहिक परिवार के साम्पत्तिक झगड़े प्रतीत होते हैं।[३] आप्टे महोदय का यह मत कि भ्रातृव्य शब्द का शत्रुवाचक अर्थ सम्भवतः इरानियों एवं भारतीय आर्यों के पारस्परिक कलह का स्मरण दिलाता है,[४] नितान्त काल्पनिक प्रतीत होता है, क्योंकि वैदिक साहित्य के जिन अंशों में भ्रातृव्य शब्द का शत्रुवाचक अर्थ मिलता है वे अधिकांशतः हिन्द-इरानी युग से बहुत बाद के हैं। दूसरे भारतीय आर्यों एवं इरानियों के बीच किसी संघर्ष अथवा कलह के निश्चायक प्रमाण भी नहीं हैं। भ्रातृव्य शब्द के शत्रुवाची अर्थ से इतना तो स्पष्ट है कि चचेरे भाइयों का साथ-साथ रहना उत्तरवैदिक युग में एक असामान्य स्थिति थी। इनके इस सम्बन्ध से भाइयों के आपसी सम्बन्ध पर भी न्यूनाधिक रूप से प्रकाश पड़ता है। इससे इस बात की सम्भावना दृढ़ होती है कि भाइयों का सामूहिक और संयुक्त जीवन केवल पिता के प्रभाव के कारण ही था। उस प्रभाव से मुक्त होते ही वे अपने पृथक् परिवार की व्यवस्था का प्रयास करते होंगे। सूत्रकाल तक तो स्पष्ट रूप से विभाजन का सैद्धांतिक समर्थन हुआ। गौतम के अनुसार विभाजन से धर्म-वृद्धि होती है।[५]

विघटन के प्रमुख कारण

उत्तरवैदिक युग की संयुक्त-परिवार-व्यवस्था के ह्रास के कई महत्वपूर्ण कारण थे। सबसे प्रबल कारण आर्थिक परिस्थियों में परिवर्तन था। यद्यपि कृषि और पशुपालन आर्यों के प्रमुख व्यवसाय थे किन्तु अब धीरे-धीरे वाणिज्य और शिल्पों का भी विकास होने लगा था। पण, कार्षापण तथा आढक, द्रोण, प्रस्थ आदि नामों के उल्लेख से उस समय की व्यापारिक प्रगति का संकेत मिलता है। व्यापारिक प्रगति एवं लघु उद्योग धन्धों के विकास के फलस्वरूप परिवार से अलग होकर जीविकोपार्जन करना सरल एवं स्वाभाविक हो गया। व्यापारिक तथा

---

१. काठक सं० १८.८, १०.७
२. अष्टाध्यायी, ४.१.१४४–४५
३. पाल, ला आव प्राइमाजैनिचर, पृ० २२८
४. आप्टे, सोशल एण्ड रिलिजस लाइफ इन गृह्यसूत्राज़, पृ० ६७
५. गौतम, २८.४. विभागे धर्मवृद्धिः

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

औद्योगिक विकास के अपेक्षया मन्द होने के कारण पारिवारिक विघटन की प्रवृत्ति भी धीमी रही।

व्यापारिक एवं औद्योगिक प्रगति का एक और भी परिणाम हुआ। कृषि एवं पशुपालन जैसे व्यवसायों में सामूहिक श्रम की आवश्यकता थी अतः इनसे उत्पन्न धन पर परिवार का प्रत्येक सदस्य व्यक्तिगत स्वत्व की कल्पना नहीं कर सकता था। इसके विपरीत पृथक् उद्योगों एवं व्यापार में अर्जित सम्पत्ति प्रायः व्यक्तिगत प्रयत्नों का परिणाम होती है। परिणामतः ऐसी सम्पति पर वैयक्तिक अधिकार एवं उसके उपभोग की स्वतंत्रता की भावना ने परिवार के सदस्यों को पृथक् पृथक् रहने को प्रेरित किया होगा। वैदिक युग के पितृप्रधान संयुक्त परिवार के कठोर अनुशासन में पले व्यक्ति को यह पृथक् जीवन बड़ा ही भारहीन प्रतीत हुआ होगा साथ ही उसके अहंबुद्धि की तृष्टि भी हुई होगी।

पाल महोदय के अनुसार संयुक्त परिवार में विघटन का एक कारण पितृपूजा भी रही होगी। जब लोग यह विश्वास करने लगे कि पितर परलोक में अपने वंशजों द्वारा दिए गए अन्न के उपभीग से पलते हैं तो पुत्र में यह इच्छा होनी स्वाभाविक थी कि वह अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक सावधानी से अपने पिता को अन्न पहुँचाता रहे। यदि कोई विद्वान किसी दिन यह सिद्ध कर देगा कि वैदिक परिवार में इसी कारण ये झगड़े उत्पन्न हुए तो हमें इस बात पर कोई आश्चर्य नहीं होगा। इन झगड़ों से न केवल संयुक्त परिवार का विघटन हुआ बल्कि पितृपूजा में पितृपरम्परा में पूजे जाने वाली पीढ़ियों की संख्या भी मर्यादित हो गई।[१] किन्तु इस सम्भावना के पक्ष में न केवल प्रमाणों का अभाव है बल्कि यह असंगत भी प्रतीत होती है। एक ही परिवार में विभिन्न पितृपूजक सदस्यों में किसी प्रकार के पारस्परिक विरोध का कोई कारण नहीं होना चाहिए। परिवार के एक सदस्य की पितृभक्ति से दूसरे की पितृभक्ति का मार्ग अवरुद्ध नहीं होता। आज भी हिन्दू संयुक्त परिवारों में पितृपूजा होती है किन्तु उनके कारण पारिवारिक जीवन में कलह नहीं होता। अब भी प्रायः पारिवारिक विभाजन एवं विघटन के कारण आर्थिक ही हुआ करते हैं। सम्भव है कि इस युग की भाँति वैदिक युग में भी पारिवारिक कलह में स्त्रियों का हाथ रहा हो।

---

१. पाल, पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक, पृ० २४८

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

रक्त-सम्बन्ध के कारण जहाँ भाइयों [illegible] परम्परा गृह्यसूत्रों में भी पूर्णतः होती है वहीं अन्य परिवारों से आने के कारण [illegible] है कि उस समय विशाल संयुक्त के अतिरिक्त अन्य लोगों में कम होती है।[1] पूर्व [illegible] संख्या इतनी अधिक होती थी के अभाव में अपने को परिवार के सभी श्रेष्ठ जनों [illegible] अलग-अलग भोजन की के लिए पति को पृथक् परिवार की सृष्टि करने की प्रेरणा [illegible] शाल परिवार का [illegible] च के पश्चात् सर्वथा स्वाभाविक होता है।

—राना

कुछ विद्वानों ने कर्मवाद के सिद्धांत के विकास को भी पारिवारिक विघटन का कारण माना है।[2] लेकिन स्पष्टतः कर्मवाद का सिद्धान्त व्यक्तिको संयुक्त परिवार से पृथक् करने का कारण नहीं वरन् विघटन के सैद्धान्तिक औचित्य को सिद्ध करने का एक साधन मात्र कहा जा सकता है।

संयुक्त परिवार के विघटन का यह तात्पर्य नहीं हैं कि ब्राह्मण युग में यह संस्था समाप्त हो चली थी। अभिप्रतारण और मनु के पुत्रों के उदाहरण पारिवारिक जीवन में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन की सूचना देते हुए भी अपवाद मात्र थे। अथर्ववेद के स्वापन सूक्त (४.५) और सांमनस्य सूक्त (३.३०) संयुक्त परिवार के अस्तित्व की ओर संकेत करते हैं। स्वापन सूक्त में रात में परिवार के सभी सदस्यों को मन्त्रों से सुलाने की कामना करते हुए कहा गया है जो नारियां प्रोष्ठ (बेंच) पर लेटी हुई हैं, पलंग पर लेटी हुई हैं, पालकी में लेटा करती हैं, जो स्त्रियाँ उत्तम गंधवाली है, उन सबको हम सुलाते हैं। मध्यरात्रि में गति-करने वाली प्रत्येक वस्तु को हमने पकड़ रक्खा है। चक्षु और श्वास को भी थाम लिया है तथा गति करने वाले अंगों को भी निरुद्ध कर लिया है। जो कोई बैठा हुआ है, इधर-उधर जाता है, खड़ा होकर देखता है, हम उन सबकी आखें नींद से बन्द करते हैं। माता सो जाय, पिता सो जाय, कुत्ता सो जाय. गृहस्वामी (विशपति) सो जाय। इस स्त्री के सभी सम्बन्धी और चारों ओर के

संयुक्त परिवार की अक्षुण्ण परम्परा

---

१. रामायण ३.४५.२८ में स्त्रियों को फूट डालने वाला कहा गया है। विमुक्तश्चपलाश्चतीक्ष्णा भेदकराः स्त्रिय :।

२. सर्वाधिकारी — प्रिंसिपल्स आव हिन्दू ला आव इनहेरिटेन्स, पृ० ५५

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

औद्योगिक विकास के अपेक्षया मन्द की प्रवृत्ति भी धीमी रही।

व्यापारिक एवं औद्योगिक विकास के अपेक्षया मन्द की प्रवृत्ति भी धीमी रही। ...सार इस सूक्त का पाठ स्त्र्यभिगन ...बन्धियों को सुलाने के लिए होता था।[२] ...क ही परिवार में अनेक लोग रहते थे। अनेक संयुक्त परिवार के अस्तित्व को सूचित करता है कृषि एवं पशुपाल... के अतिरिक्त उनके माता-पिता, अनेक सम्बन्धी और अतः इनके स्त्रियां साथ-साथ एक ही घर में रहती थीं। सांमनस्य सूक्त (३. ३०) का कवि कहता है मैं तुम्हें समान हृदय वाला, समान मन वाला तथा द्वेषरहित बनाता हूँ। जैसे गाय अपने बछड़े को प्यार करती है उसी प्रकार तुम आपस में प्रेम रखो। तुम समान चित्त वाले बनो, साथ-साथ चलो, साथ-साथ कार्यों की सिद्धि करो तथा आपस में विभक्त न हो। एक-दूसरे के प्रति मधुरे बचन का प्रयोग करो। मैं तुम्हें मिलकर गति करने वाला तथा समान मन वाला बनाता हूँ। तुम एक स्थान में जल पियो, साथ-साथ भोजन करो। मैं तुम सबको एक बन्धन में बाँधता हूँ। जिस प्रकार अरे, रथचक्र के चारों ओर जुड़े रहते हैं उसी प्रकार तुम एक साथ मिलकर गति करते हुए अग्नि की उपासना करो।[३] स्पष्टतः इस सूक्त में परिवार को अविभक्त और संयुक्त बनाए रखने का आदेश दिया गया है।

---

१. अथर्ववेद ४. ५. ३-६, प्रोष्ठेशयास्तल्पेशया नारीर्या वह्यशीवरीः। स्त्रियोयाः पुण्यगन्धयस्ताः सर्वाः स्वपयामसि ॥ एतदेतदजग्रभं चक्षु प्राणमजग्रभम्। अंगान्यजग्रभं सर्वा रात्रीणामतिशर्वरे ॥ य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन् विपश्यति। तेषां संदध्मो अक्षीणि। स्वप्तु माता, स्वप्तु पिता, स्वप्तु श्वा, स्वप्तु विश्पतिः। स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जनः ॥

२. इस सूक्त के १, ३, ५ और ६ मंत्र ऋ० ७. ५५. ५-८ में मिलते है। इनमें भी इन मन्त्रों का प्रयोग सुलाने के लिए किया गया है। ग्रिफिथ महोदय ने ऋ० २. ५४ की टिप्पणी में कहा है कि अथर्ववेदकालीन प्रेमी जब अपनी प्रेयसी के पास अभिसार के लिए जाता था तो वह इन मन्त्रो की सहायया से उसके अन्य सम्बन्धियों को सुलाता था।

३. अथर्ववेद ३. ३०. १, ५-६, सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्योअन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या। जायस्वन्तश्चितिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः। अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥ समानी प्रपा सह वोन्नभागः समाने योक्त्रे सहवो युनज्मि। सम्यञ्चोग्निं सपर्यतारा नाभिमिवामितः ॥

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

संयुक्त परिवार की यह अविछिन्न परम्परा गृह्यसूत्रों में भी पूर्णतः जीवन्त है। गोभिल गृह्यसूत्र से ज्ञात होता है कि उस समय विशाल संयुक्त परिवार होते थे।[१] परिवार के सदस्यों की संख्या इतनी अधिक होती थी कि भोजन एक चूल्हे पर नहीं बन पाता था, अतः अलग-अलग भोजन की व्यवस्था की जाती थी। पारस्कर गृह्यसूत्र में भी एक विशाल परिवार का उल्लेख हुआ है।[२] इस ग्रन्थ के अनुसार गृहपति को वैश्वदेव यज्ञ के पश्चात् पहले भिक्षुओं, ब्रह्मचारियों, सन्यासियों और अतिथियों को भोजन कराना चाहिए, फिर बालकों और बूढ़ों को तदनन्तर परिवार के अन्य सदस्यों को। उसे स्वयं सबके अन्त में भोजन करना चाहिए।

वैदिक परिवार में सामान्यतः तीन पीढ़ी के लोग साथ-साथ रहते थे।[३] जैसा कि श्राद्ध एवं अन्य यज्ञों में पितरों के आह्वान से संकेत मिलता है। उत्तर-वैदिक युग तक पितरों की पूजा का रूप पर्याप्त परिवर्तित हो चुका था। ऋग्वेद, शुक्ल, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में वर्णित पितरों की पूजा में स्पष्ट अन्तर है। ऋग्वेद में पितरों का सामान्य रूप से आह्वान किया गया है।[४] ऐसा प्रतीत होता है कि उनका सम्बन्ध किसी कुल विशेष से नहीं वरन् सम्पूर्ण जन से माना जाता था। यज्ञादि पवित्र अवसरों पर इनका आह्वान होता था। उस समय सहस्रों की संख्या में देवताओं सहित इनकी उपस्थिति की आशा की जाती थी।[५] किन्तु ऋग्वेद में ही विशिष्ट परिवारों द्वारा अपने पारिवारिक पितरों की पूजा करने के संकेत भी मिलते हैं। ऋग्वेद के प्रथम मंडल में अगस्त्य और लोपामुद्रा का वार्तालाप इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।[६] इस सूक्त में महर्षि अगस्त्य अपनी पत्नी लोपामुद्रा से यौन-सम्बन्ध की याचना करते हैं। दीर्घ काल तक अविवाहित रहने के पश्चात् अगस्त्य को ज्ञात होता है कि उनके पितर उनसे नियमित रूप से बलि न मिलने के कारण अत्यन्त कष्ट में है। पितरों ने अपने उद्धार का मार्ग अगस्त्य द्वारा गृहस्थ जीवन का

---

१. गो० गृ० सू० १. ४. २३-२६
२. पा० गृ० सू० २. ६
३. द्रष्टव्य—हिन्दू परिवार मीमांसा पृ० ३८।
४. ऋ० १०.१५
५. कपाडिया, हिन्दू किनशिप, पृ० १२, घुरिये, फैमिली एण्ड किन इन इण्डोआर्यन कल्चर, पृ० ४४
६. ऋ० १.१७९

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

औद्योगिक विकास के अपेक्षया मन्द की प्रवृत्ति भी धीमी रही।

व्यापारिक एवं औ... कृषि एवं पशुपाल... अतः इन... स्त्रियां साथ-साथ एक ही घर में रहती थीं। सांमनस्य सूक्त (३. ३०) का कवि कहता है मैं तुम्हें समान हृदय वाला, समान मन वाला तथा द्वेषरहित बनाता हूँ। जैसे गाय अपने बछड़े को प्यार करती है उसी प्रकार तुम आपस में प्रेम रखो। तुम समान चित्त वाले बनो, साथ-साथ चलो, साथ-साथ कार्यों की सिद्धि करो तथा आपस में विभक्त न हो। एक-दूसरे के प्रति मधुरे बचन का प्रयोग करो। मैं तुम्हें मिलकर गति करने वाला तथा समान मन वाला बनाता हूँ। तुम एक स्थान में जल पियो, साथ-साथ भोजन करो। मैं तुम सबको एक बन्धन में बाँधता हूँ। जिस प्रकार अरे, रथचक्र के चारों ओर जुड़े रहते हैं उसी प्रकार तुम एक साथ मिलकर गति करते हुए अग्नि की उपासना करो।[३] स्पष्टतः इस सूक्त में परिवार को अविभक्त और संयुक्त बनाए रखने का आदेश दिया गया है।

---

१. अथर्ववेद ४. ५. ३-६, प्रोष्ठेशयास्तल्पेशया नारीर्या वह्यशीवरीः। स्त्रियोयाः पुण्यगन्धयस्ताः सर्वाः स्वपयामसि ॥ एतदेतदजग्रभं चक्षु प्राणमजग्रभम्। अंगान्यजग्रभं सर्वा रात्रीणामतिशर्वरे ॥ य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन् विपश्यति। तेषां संदध्मो अक्षीणि। स्वप्तु माता, स्वप्तु पिता, स्वप्तु श्वा, स्वप्तु विश्पतिः। स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जनः ॥

२. इस सूक्त के १, ३, ५ और ६ मंत्र ऋ० ७. ५५. ५-८ में मिलते है। इनमें भी इन मन्त्रों का प्रयोग सुलाने के लिए किया गया है। ग्रिफिथ महोदय ने ऋ० २. ५४ की टिप्पणी में कहा है कि अथर्ववेदकालीन प्रेमी जब अपनी प्रेयसी के पास अभिसार के लिए जाता था तो वह इन मन्त्रो की सहायया से उसके अन्य सम्बन्धियों को सुलाता था।

३. अथर्ववेद ३. ३०. १, ५-६, सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्योअन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या। जायस्वन्तश्चितिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः। अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥ समानी प्रपा सह वोन्नभागः समाने योक्त्रे सहवो युनज्मि। सम्यञ्चोग्निं सपर्यतारा नाभिमिवामितः ॥

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

संयुक्त परिवार की यह अविछिन्न परम्परा गृह्यसूत्रों में भी पूर्णतः जीवन्त है। गोभिल गृह्यसूत्र से ज्ञात होता है कि उस समय विशाल संयुक्त परिवार होते थे।[१] परिवार के सदस्यों की संख्या इतनी अधिक होती थी कि भोजन एक चूल्हे पर नहीं बन पाता था, अतः अलग-अलग भोजन की व्यवस्था की जाती थी। पारस्कर गृह्यसूत्र में भी एक विशाल परिवार का उल्लेख हुआ है।[२] इस ग्रन्थ के अनुसार गृहपति को वैश्वदेव यज्ञ के पश्चात् पहले भिक्षुओं, ब्रह्मचारियों, सन्यासियों और अतिथियों को भोजन कराना चाहिए, फिर बालकों और बूढ़ों को तदनन्तर परिवार के अन्य सदस्यों को। उसे स्वयं सबके अन्त में भोजन करना चाहिए।

वैदिक परिवार में सामान्यतः तीन पीढ़ी के लोग साथ-साथ रहते थे।[३] जैसा कि श्राद्ध एवं अन्य यज्ञों में पितरों के आह्वान से संकेत मिलता है। उत्तर-वैदिक युग तक पितरों की पूजा का रूप पर्याप्त परिवर्तित हो चुका था। ऋग्वेद, शुक्ल, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में वर्णित पितरों की पूजा में स्पष्ट अन्तर है। ऋग्वेद में पितरों का सामान्य रूप से आह्वान किया गया है।[४] ऐसा प्रतीत होता है कि उनका सम्बन्ध किसी कुल विशेष से नहीं वरन् सम्पूर्ण जन से माना जाता था। यज्ञादि पवित्र अवसरों पर इनका आह्वान होता था। उस समय सहस्रों की संख्या में देवताओं सहित इनकी उपस्थिति की आशा की जाती थी।[५] किन्तु ऋग्वेद में ही विशिष्ट परिवारों द्वारा अपने पारिवारिक पितरों की पूजा करने के संकेत भी मिलते हैं। ऋग्वेद के प्रथम मंडल में अगस्त्य और लोपामुद्रा का वार्तालाप इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।[६] इस सूक्त में महर्षि अगस्त्य अपनी पत्नी लोपामुद्रा से योन-सम्बन्ध की याचना करते हैं। दीर्घ काल तक अविवाहित रहने के पश्चात् अगस्त्य को ज्ञात होता है कि उनके पितर उनसे नियमित रूप से बलि न मिलने के कारण अत्यन्त कष्ट में है। पितरों ने अपने उद्धार का मार्ग अगस्त्य द्वारा गृहस्थ जीवन का

---

१. गो० गृ० सू० १. ४. २३-२६
२. पा० गृ० सू० २. ९
३. द्रष्टव्य – हिन्दू परिवार मीमांसा पृ० ३८।
४. ऋ० १०.१५
५. कपाडिया, हिन्दू किनशिप, पृ० १२, घुरिये, फैमिली एण्ड किन इन इण्डोआर्यन कल्चर, पृ० ४४
६. ऋ० १.१७९

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

स्वीकार बताया। इस पर अगस्त्य ने इनके उद्धार के लिए विदर्भराज से सृष्टि के समग्र प्राणियों के सर्वोत्तम अंगों से विनिर्मित लोपामुद्रा को मांगा।[१] यदि अगस्त्य और लोपामुद्रा के वार्तालाप का आधार महाभारतकार द्वारा प्रदत्त इस पुराकथा को माना जाय तो यह स्वीकृत करना पड़ेगा कि ऋग्वैदिक युग में ही पृथक्-पृथक् परिवारों में अपने पितरों की पूजा होने लगी थी तथा यह विश्वास भी प्रबल हो चुका था कि पितर पुत्रों द्वारा प्राप्त अन्न से पलते हैं। उत्तरवैदिक साहित्य में पितृपूजा के जो उदाहरण हमें मिलते हैं उनसे स्पष्ट है कि पुत्र अपने ही पिता, पितामह आदि पूर्वजों को यज्ञ द्वारा सन्तुष्ट करते थे। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में पितरों की पीढ़ियों की संख्या भी मर्यादित कर दी गई है। शुक्ल यजुर्वेद (१९.३६-३७) में पिता, पितामह और प्रपितामह को नमस्कार करते हुए उनसे वंशजों को पवित्र करने की प्रार्थना की गई है। अथर्ववेद के पितृमेध या श्राद्ध सम्बन्धी सूक्तों में तत, ततामह और प्रततामह को स्वधादान का उल्लेख है।[२] प्रपितामह का उल्लेख परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में अनेकशः हुआ है।[३] पितृपूजा में केवल तीन पीढ़ी के पूर्वजों का आह्वान संयुक्त कुटुम्ब-व्यवस्था पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। घुरिये महोदय इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि साधारणतया चार पीढ़ी के लोग एक परिवार में साथ-साथ रहते थे जिनमें चौथा अपने तीन पूर्वजों (पिता, पितामह, प्रपितामह) से सुपरिचित होने के कारण मृत्यु के पश्चात् उन्हें बलि देता था। यदि परिवार में तीन ही पीढ़ी के लोग रहते तो पितृपूजा में दो ही पीढ़ी के पूर्वजों को स्थान मिलता।[४] उपर्युक्त विद्वान का मत तर्कपूर्ण होते हुए भी प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि चार पीढ़ियों का व्यावहारिक रूप में एक साथ रहना असामान्य घटना ही कही जाएगी। दूसरे, अथर्ववेद में (१४.१.४३, ४४) नववधू को पोतों पर से युक्त परिवार शासन करने का आशीर्वाद दिया गया है। उसे प्रपौत्रों से युक्त परिवार पर शासन करने को नहीं कहा गया है। ऋग्वेद में एक स्थान पर प्रपौत्र का उल्लेख अवश्य हुआ

---

१. महाभारत, ३.९६

२. अथर्ववेद १८.४.७५

३. तै० सं० १.८.५.१, शत० ब्रा० २.४.२.१६, १२.८.१.७

४. घुरिये, फैमिली एण्ड किन इन इण्डो-आर्यन कल्चर, पृ० ४५

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

है।[१] किन्तु मात्र इसके आधार पर चार पीढ़ियों का साथ-साथ रहना सिद्ध नहीं होता। अपवादस्वरूप आज भी कुछ ऐसे परिवार मिल जाते हैं जिनमें प्रपितामह और प्रपौत्र को अल्पकाल तक साथ-साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है किन्तु ऐसे स्थानों पर भी बहुधा बालक की चेतना के सजग होने के पूर्व ही प्रपितामह का देहावसान हो जाता है। हम देख चुके हैं कि ऋ० १०.८५ में नववधू को सास श्वसुर की रानी बनने को कहा गया है किन्तु वहाँ भी प्रपितामह अथवा प्रपितामही का कोई संकेत नहीं है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में हम कहीं भी प्रपितामह का संयुक्त परिवार के जीवित सदस्य के रुप में उल्लेख नहीं पाते। ऐतरेय ब्राह्मण में नप्तृ का प्रयोग प्रपौत्र के अर्थ में अवश्य हुआ है[२] किन्तु इस प्रसंग से भी उसके पारिवारिक सदस्य होने की बात स्पष्ट नहीं होती है। इसमें एक व्यक्ति अपने वंशजों को पारिवारिक अग्निहोत्र की परम्परा को अक्षुण्ण रखने का संदेश देते हुए पुत्र, पौत्र और नप्तृ को सम्बोधित करता है। वस्तुतः यहाँ उसका सन्देश परिवार के सदस्यों के लिए नहीं बल्कि आने वाली पीढ़ियों के लिए है। अतः इसके आधार पर चार पीढ़ियों का साथ-साथ रहना पुष्ट नहीं होता। अभिप्रतारण की कथा से भी स्पष्ट है कि पुत्रों के युवावस्था तक पहुँचते-पहुँचते पिता स्वयं वृद्ध और अशक्त हो जाता था। वैदिक परिवार का जो चित्र सामान्यतः मिलता है उससे ज्ञात होता है कि परिवार का केन्द्र गृहपति एवं उसके भाई होते थे और उनके साथ संयुक्त परिवार की ग्रन्थि को दृढ़ करने वाले बूढ़े माता-पिता तथा गृहपति एवं उसके भाइयों की अपनी सन्तानें होती थीं। इस प्रकार सामान्य रूप से वैदिक परिवार की सीमा पितामह से पोते तक ही समझनी चाहिए। पितृपूजा में तीन पीढ़ियों की संख्या मर्यादित करने का कारण दूसरा ही प्रतीत होता है। परिवार में पला प्रत्येक व्यक्ति अपने से ऊपर की दो पीढ़ियों से सुपरिचित होता था। अतः श्राद्ध के समय न केवल अपने पिता का अह्वान करता था बल्कि अपने पिता एवं पितामह के पिता के प्रति भी अपना आदर व्यक्त करता था।

उत्तरवैदिक युग में दाम्पत्य जीवन पर्याप्त सुखी था तथा पत्नी का स्थान पूर्ववत महत्वपूर्ण और आदरणीय माना जाता था। तैत्तिरीय संहिता

---

१. ऋ० ८.१७.१३, प्रणपात
२. ऐत० ब्रा०, ३२.१०

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

से ज्ञात होता है कि समाज में तीन ऋणों की कल्पना जन्म ले चुकी थी।[१] पितृ ऋण से मुक्त होने के लिए विधिवत विवाह एवं पुत्रोत्पत्ति आवश्यक माने जाते थे। महर्षि अगस्त्य ने पितरों के उद्धार-हेतु ही वैवाहिक जीवन स्वीकार किया था।[२] अविवाहित पुरुष को यज्ञाधिकार से वंचित माना जाता था।[३] विवाह करके पुत्र उत्पन्न करने के पश्चात् ही व्यक्ति पूर्ण समझा जाता था।[४] यज्ञादि कार्यों की सिद्धि के लिए पुत्र-प्राप्ति आवश्यक थी। ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थान पर सन्यास की निन्दा करते हुए पुत्रोत्पादन को ही परम-धर्म बताया गया है।[५] विवाह एवं पुत्रार्जन की इस अनिवार्यता के पीछे सामाजिक हित एवं प्रगति की प्रबल भावना थी। पुत्र वृद्धावस्था का सहारा था, राष्ट्र की शक्ति था उसी के माध्यम से वंश की परम्परा अक्षुण्ण रहती भी। तैत्तिरीय संहिता में प्रजा के माध्यम से अमृतत्व प्राप्ति की कामना की चर्चा पीछे की जा चुकी है। एकाकी जीवन धार्मिक और आर्थिक दृष्टि से भी उपेक्षणीय था।[६] अविवाहित व्यक्ति अपने पितरों को श्राद्ध नहीं दे पाता था। साथ ही मृत्यु के पश्चात् होने वाली अपनी दुर्गति की कल्पना से वह स्वभावतः खिन्न रहता था। विवाह की इस अनिवार्यता के पीछे नवीन वैराग्यमूलक प्रवृत्तियों से उत्पन्न प्रतिक्रिया का भी योग था। उत्तरवैदिक युग के अन्त तक नैष्ठिक ब्रह्मचारी तथा ब्रह्मवादिनीस्त्रियों के समूह समाज मे बढ़ने लगे थे। इस नये विकास को रोकने के लिए भी विवाह की अनिवायता पर बल दिया गया। महाभारत में जरत्कारु और कुणिगर्ग की कथा द्वारा स्त्री-पुरुष दोनों के लिए विवाह एवं पारिवारिक जीवन की अनिवार्यता व्यक्त की गई है। जरत्कारु (१.१३ व १.४५) एक उग्र तपस्वी थे। उन्होंने विवाह नहीं किया था किन्तु पितरों की दुर्दशा देखकर अन्ततोगत्वा उन्हें विवाह करना पड़ा।

दाम्पत्य जीवन की महत्ता

---

१. तै० सं० ६.३.१०.५, काणे, हिस्टरी आव धर्मशास्त्राज, ग्रन्थ २, भाग १, पृ० २७०

२. देखिए पीछे,

३. शत० ब्रा० ५.१.६.१०, अयज्ञीयो वै एषऽपत्नीकः, तुल० तै०ब्रा०२२.२.६

४. शत० ब्रा० ५.२.१.१०

५. ऐत० ब्रा० ३३. ११, किं नु मलं किमजिनं किं श्मश्रूणि किं तपः। पुत्रं ब्राह्मण इच्छध्वं स वै लोको वदावदः।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

कुणिगर्ग की कन्या ने आजीवन घोर तप किया (९.५२), तथा बूढ़ी होने पर स्वर्गारोहण की इच्छा की किन्तु जब नारद द्वारा उसे यह ज्ञात हुआ कि अविवाहिता कन्या स्वर्ग की अधिकारिणी नहीं होती तब उसने अपनी तपस्या का अर्द्धांश देकर शृंगवान से शादी की और उसके पश्चात् ही वह स्वर्ग जा सकी। हिन्दू समाज में विवाह की अनिवार्यता का विचार आज भी जीवित है। कई प्रदेशों में जब कोई व्यक्ति अविवाहित ही मर जाता है तो दाह-संस्कार के पूर्व उसका विवाह अवश्य कराया जाता है।[१]

विवाह

उत्तर-वैदिक युग में विवाह-पद्धति से सम्बन्धित विभिन्न नियम तथा प्रणालियां दिखाई देती हैं। समाज के सम्भ्रान्त व्यक्तियों का झुकाव बहु-पत्नीत्व की ओर था। उत्तर-वैदिक-साहित्य में बहुपत्नीकता की अस्वस्थ परम्परा को प्रोत्साहित किया गया है। उदाहरणार्थ तैत्तिरीय ब्राह्मण में बहुपत्नीत्व को सौभाग्यदायक बताया गया है।[२] ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्ट कहा गया है कि एक पुरुष की अनेक पत्नियां हो सकती हैं किन्तु एक स्त्री के अनेक पति नहीं।[३] याज्ञवल्क्य जैसे विद्वान तथा दार्शनिक ने भी मैत्रेयी और कात्यायनी नामक दो स्त्रियों से विवाह किया था।[४] ऐतरेय ब्राह्मण एक स्थान पर राजा हरिश्चन्द्र की सौ पत्नियों का उल्लेख करता है।[५] इसके अतिरिक्त राजसूय की विधि के विवरण से ज्ञात होता है कि राजाओं की बहुधा विभिन्न वर्णोत्पन्न चार पत्नियां होती थीं।[६] मैत्रायणी संहिता में मनु की दस पत्नियां बताई गई है।[७] शतपथ ब्राह्मण में भी बहुपत्नीत्व का समर्थन किया गया है तथा इसका एक धार्मिक आधार प्रस्तुत किया गया है।[८] किन्तु वैदिक साहित्य में ही उपलब्ध प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है

---

१. सेन्सस रिपोर्ट, १९३१, खण्ड १, भाग १, पृ० २२७
२. तै० ब्रा० ३.८४ श्रिया वा एतद्रूपं यत्पत्नयः
३. ऐत० ब्रा० १२.११, तस्मात् एकस्य बह्वी जाया भवन्ति न एकस्यै बहवः सहपतयः तै० सं० ६.५.१०.४, एकोबह्वीर्जाया विन्दते।
४. बृ० उप० ४.५.१-२
५. ऐत० ब्रा० ३३.१
६. शत० ब्रा० १३.२.६.४-६ महिषी, परिवृक्ति, वाताता और पालागली
७. मैत्रा० सं० १.५.८
८. शत० ब्रा० ९.१.४.६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

कि बहुपत्नीकता की यह परम्परा सामाजिक दृष्टि से बहुत ही घातक थी। निश्चय ही इन सपत्नियों के कलह से पारिवारिक जीवन अशान्त और क्षुब्ध रहता होगा। अथर्ववेद में सपत्नी विनाश के लिए मन्त्रों का विधान है।[१] उत्तर-वैदिक-साहित्य में स्थान-स्थान पर सपत्न शब्द का प्रयोग प्रतिद्वन्दी के अर्थ में हुआ है।[२] इससे यह सिद्ध होता है कि सपत्नियों में 'प्रिय सखीवृत्ति' अकल्पनीय थी। उनकी प्रतिद्वन्दिता और संघर्ष ने जहाँ दाम्पत्य जीवन के सुखों को दूषित और विषाक्त किया वहीं वह स्त्रियों के पतन का भी एक प्रबल कारण बना। पति की सपत्नियों की तुलना में अधिक प्रेम और साहचर्य प्राप्त करने के लिए उत्कण्ठिता नारी अपने गौरव-पूर्ण आसन को छोड़कर सेवाकार्य में संलग्न हुई और क्रमशः पति के चरणों में जा बैठी। संहिता युग की पत्नी (स्वामिनी) उपनिषद काल तक भार्या (भरण के योग्य) कहलाने लगी।[३] बहुसंख्यक अनार्या स्त्रियों का आर्यों के अन्तपुर में प्रवेश इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप द्रुततर हुआ होगा। ये स्त्रियाँ विजित और अधिकृत थीं अतः उन्हें धार्मिक और सामाजिक अनुष्ठानों से पृथक् रक्खा जाता था तथा मात्र उपभोग की वस्तु माना जाता था। धीरे-धीरे यह दृष्टिकोण आर्या स्त्रियों पर भी लागू होने लगा और उन्हें भी उपभोग की वस्तु एवं प्रजनन-यन्त्र समझा जाने लगा। उत्तर-वैदिक नारी के लिए जाया शब्द का अपेक्षया अधिक प्रयोग इस बात का संकेतक है कि अब नारी की महत्ता का सबसे बड़ा कारण उसका प्रजनन कार्य माना जाता था। स्त्रियाँ धीरे-धीरे अयज्वन शूद्र की कोटि में रक्खी जाने लगीं।[४]

वैदिक समाज के सम्भ्रान्त वर्गों में बहुविवाह के प्रचलन के मुख्य कारण सम्भवतः अनेक पुत्रों की लालसा एवं वर्द्धमान समृद्धिजन्य विलासप्रियता थी। आर्यों की पितृप्रधान व्यवस्था भी बहुपत्नीकता के प्रचलन के लिए कम उत्तरदायी नहीं थी। पुरुष-शासित समाज ने जहाँ स्त्रियों को पुरुष के प्रति निष्ठा रखने को बाध्य किया वहाँ पुरुषों को अनेक-स्त्र्यभिगमन की स्वतंत्रता प्रदान की। श्रोदर महोदय ने अनेक उद्धरणों के साथ यह बताया है कि

---

१. अथर्ववेद १.१४.३.१८
२. वैदिक इण्डेक्स, २,४२४
३. बृ० उप० ३.४.१, ४.५.१
४. शत० ब्रा० १४.१.१.१३

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

प्रारम्भिक आर्य जातियों में विवाहित पुरुष के व्यभिचार को विशेष आपत्ति-जनक नहीं माना जाता था किन्तु पत्नी का व्यभिचार एक भीषण अपराध समझा जाता था।[१]

बहुपत्नीकता के प्रचलन को सूचित करने वाले विभिन्न उदाहरणों के आधार पर हमें इसे तत्कालीन युग में प्रचलित सामान्य प्रथा नहीं मान लेनी चाहिए। साधारण जनों में एकपत्नीकता ही प्रतिष्ठित थी। सूत्र युग तक हम विधायकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन पाते हैं। सूत्रकारों ने पारिवारिक जीवन को दुखद बनानेवाली बहुपत्नीक प्रथा का विरोध किया तथा एकपत्नीव्रत की व्यवस्था की। आपस्तम्ब ने धर्म और प्रजा से युक्त पत्नी की उपस्थिति में द्वितीय विवाह का निषेध किया है।[२] केवल स्त्री के अप्रजा स्त्रीप्रजा अथवा मृतप्रजा होने पर ही द्वितीय विवाह की अनुमति दी गई। किन्तु ऐसी स्थिति में भी एक निश्चित अवधि तक प्रतीक्षा करने का विधान किया गया।

ब्राह्मण साहित्य में बहुपति प्रथा का विरोध मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण (३.१२) स्पष्ट शब्दों में इस प्रथा का निषेध करता है। साथ ही तैत्तिरीय संहिता में भी ऐतरेय ब्राह्मण के इस मत का समर्थन हुआ है।[३] द्रौपदी के विवाह के प्रसंग में भी महाभारत में बहुपतिकता की इस प्रथा को अश्रुत और लोकवेदविरुद्ध बताया गया है (महाभारत १.१९५.२७-२८)। कुन्ती को स्वतः अपनी आकस्मिक आज्ञा के दुष्परिणाम पर घोर कष्ट हुआ था।[४] इस विरोध के होते हुए भी बहुपतिकता के प्रचलन की प्रतिध्वनि हमें उत्तर-वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र मिलती है। अथर्ववेद (१४.१.६१) में सूर्या के अनेक पतियों का उल्लेख मिलता है। यास्क ने यह स्वीकार किया है कि बहुधा पति के जीवन काल में भी स्त्री देवर के लिए गम्य हुआ करती थी।[५]

---

१. प्रिहिस्टरिक एण्टिक्विटीज़, पृ० ३८८

२. आप० धर्म० सूत्र० २.५.११.१२, धर्मप्रजासम्पन्ने दारेनान्यां कुर्वीत

३. मै० सं० ६.६.४.३, द्रष्टव्य कैम्ब्रिज हिस्टरी आफ इण्डिया, ग्रंथ १, पृ० ८८, वैदिक इण्डेक्स १.४७९।

४. महाभारत १.१२३.२, कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रान् उवाच भुंक्तेति समेत्य सर्वे। पश्चाच्च कुन्ती प्रसमीक्ष्य कृष्णां कष्टं मया भाषित मित्युवाच।

५. निरुक्त ३.१५

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

महाभारत में हमें जटिला गोतमी, वाक्षी, ममता और माधवी जैसी बहुपतिका स्त्रियों के जो उदाहरण मिलते हैं उन्हें केवल कल्पनाप्रसूत नहीं कहा जा सकता। उपनिषदों में प्राप्त अनेक ऋषियों एवं व्यक्तियों के नाम, जो उनकी माता के नाम पर आधारित हैं, बहुपतिकता के सूचक माने जा सकते हैं। सत्यकाम जाबाल, गौतमी-पुत्र, गार्गीपुत्र प्रभृति नाम सम्भवतः इस बातका संकेत करते हैं कि स्त्री के अनेक पति होने के कारण अथवा पितृत्व अज्ञात होने के कारण माताओं के नाम पर पुत्रों का नाम रखने की आवश्यकता पड़ी। इन अल्पसंख्यक उदाहरणों के आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि वैदिक समाज में बहुपतिकता की परम्परा सर्वथा अज्ञात नहीं थी। साधारणतः पितृप्रधान समाज में बहुपतिकता के विकास की सम्भावना नहीं होती है। भारतवर्ष में आज भी यह व्यवस्था उन्हीं जातियों में दिखाई देती है जिनका समाज मातृसत्तात्मक है। कुमायूँ प्रदेश में प्रायः सभी भाई एक ही स्त्री से विवाह करते हैं तथा उनसे उत्पन्न सन्तान सबसे बड़े भाई की मानी जाती है।[१] इस प्रकार की वैवाहिक रीति पंजाब को खेद्राज, लहौल आदि पहाड़ी जातियों में भी पाई जाती है। हिमालय की तराई में फैले किरात लोगों (मंगोलिड्स) में भी बहुपतिकता की प्रथा बहुत प्रचलित है। भारत में सुदूर दक्षिण में भी बहुपतिकता की परम्परा दृष्टिगोचर होती है। उत्तरी कन्नड़ से नायरों ने बहुपतिकता की प्रथा का त्याग ब्रिटिश शासन काल में किया। थियेन, तोनियार तथा वेल्लर जातिकी स्त्री सभी भाइयों की सामूहिक पत्नी समझी जाती है। नीलगिर के टोडा लोगों में भी इस प्रथा का प्रचलन है। ट्रावनकोर-कोचीन तथा मलावार में कुछ अन्य ऐसी जातियाँ हैं जिनमें बहुपतिकता का प्रचलन है। इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि बहुपतिकता का प्रचलन भारतवर्ष में प्रमुखतया प्रजातिगत दृष्टि से हिमालय की तलहटी में बसने वाली मंगोल जातियों में तथा दक्षिण भारत के द्रविड़ भाषा-भाषी भूमध्यसागरीय लोगों में रहा है। विवाह की यह प्रणाली आर्यों की सामाजिक व्यवस्था के सर्वथा प्रतिकूल थी। इसीलिए भारतीय साहित्य में प्रायः सर्वत्र इस व्यवस्था का तिरस्कार किया गया। वैदिक साहित्य में बहुपतिकता के प्रचलन के जो संके[illegible] हैं उन्हें अपवादस्वरूप ही ग्रहण करना चाहिए। बहुत सम्भव है [illegible] इन एकाकी प्रसंगों में आर्येतर सामाजिक परम्पराओं का ही उल्लेख हो क्योंकि

---

१. जाली, हिन्दु ला एण्ड कस्टम्स पृ० १०३

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

उत्तर-वैदिक युग आर्य एवं आर्येतर सांस्कृतिक परम्पराओं के सामञ्जस्य का युग था। ऐसी स्थिति में तत्कालीन समाज में ऐसे वाह्य तत्वों— का प्रवेश सर्वथा स्वाभाविक था जिनकी उपस्थित सामाजिक पृष्ठभूमि एवं सांस्कृतिक परिवेश को देखते हुए विचित्र लगे।

धर्मसूत्रों में बहुधा सपिण्ड एवं सगोत्र विवाह का निषेध मिलता है। गोभिल गृह्यसूत्र[१] और आपस्तम्बधर्मसूत्र[२] के अनुसार सपिण्ड कन्या से विवाह नहीं हो सकता। गौतम जैसे विधायकों ने सपिण्ड विवाह की सीमा निर्धारित करते हुए कहा है कि सपिण्ड विवाह पिता के पक्ष में सात पीढ़ी तक तथा माता के पक्ष में पांच पीढ़ी तक निषिद्ध है। इसी आधार पर व्यवस्थाकारों ने मातुल दुहिता, पितृस्वसादुहिता आदि के साथ विवाह का निषेध किया है। बौधायन ने मातुलकन्या तथा पितृस्वसासुता से विवाह की परम्परा को दक्षिण भारत में प्रचलित माना है।[३] उत्तरी भारत की आर्य संस्कृति के लिए यह प्रथा कुछ विचित्र सी थी। महाभारत में भी सपिण्ड और सगोत्र विवाह का निषेध है।[४] वैसे महाभारत में वर्णित कृष्ण और रुक्मिणी का विवाह तथा अर्जुन और सुभद्रा का विवाह प्रतिभ्रातृव्य (cross-cousin) विवाहों के न्यूनाधिक प्रचलन की सूचना देते हैं। सगोत्र विवाह को प्रायः सभी सूत्रकारों ने निषिद्ध बताया है। इसका क्षेत्र सपिण्ड विवाह की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। चाहे युवक युवती के बीच सैकड़ों पीढ़ियों का अन्तर क्यों न हो, फिर भी उनके सगोत्र होने पर विवाह नहीं हो सकता। बौधायन ने सगोत्र कन्या के साथ विवाह करने वाले के लिए चांद्रायण व्रत द्वारा प्रायश्चित करने की व्यवस्था की है।[५] गोभिल गृह्य सूत्र[६] हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र[७] तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्र[८] में भी सगोत्र विवाह निषिद्ध है।

---

१. गो० गृह्य० सू० ३. ४. ५
२. आप० ध० सू० २. ५. ११-१६
३. बौधायन—१. १. १९-२६, वृहस्पति का मत स्मृति चन्द्रिका १. १० में उद्धृत स्वमातुलसुतोद्वाहो मातृवन्धुत्व दूषितः।
४. महाभारत, १३. ४४. १८
५. बोधायन, प्रवराध्याय ५५, सगोत्रां गत्वा चांद्रायणं चरेत।
६. गो० गृ० सू०, ३. ४. ४
७. हिरण्य० गृ० सू०, १. ११. २
८. आप० ध०. सू० २. ११. १५

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

वैदिक साहित्य में पिण्ड शब्द का उल्लेख तो अनेकशः हुआ है।[१] किन्तु सपिण्ड शब्द कहीं भी नहीं मिलता। अतः वैदिक युग में सपिण्ड विवाह निषिद्ध थे अथवा नहीं, कहना दुष्कर है। गोत्र की व्यवस्था सम्भवतः वैदिक युग में ही हो चुकी थी। अथर्ववेद[२] में निश्चित रूप से इस शब्द का प्रयोग परस्पर सम्बन्धित व्यक्तियों के समुदाय के अर्थ में हुआ है। गोत्र का नाम प्रायः किसी पूर्वज के नाम पर होता था। प्रमुख ऋषियों के नाम पर समुदायों के नामकरण की परम्परा ऋ वैदिक युग में भी अज्ञात नहीं थी।[३] तैत्तिरीय ब्राह्मण में अंगिरस ऋषि के नाम पर एक समुदाय को आंगिरसी प्रजा कहा गया है।[४] ऐतरेय ब्राह्मण शुनः शेप को जन्मना आंगिरस कहता है।[५] ताण्ड्य ब्राह्मण[६] तथा कौषीतकि ब्राह्मण[७] में भी सगोत्र ब्राह्मणों का उल्लेख है। उपनिषद् युग तक भारद्वाज, आश्वलायन, गार्ग्य, कात्यायन, गौतम, भार्गव, जमदग्नि वशिष्ठ कश्यप आदि अनेक गोत्र अस्तित्व में आ चुके थे। किन्तु इस युग में गोत्र का विशेष महत्व यज्ञ और शिक्षा कार्य में ही था, यद्यपि उपनिषद युग तक सम्भवतः सगोत्र विवाहों का निषेध भी किया जाने लगा था।[८] उत्तर वैदिक साहित्य में इस बात के प्रमाण अवश्य मिलते है कि रक्त-सम्बन्धियों में विवाह सम्बन्ध घृणित समझा जाने लगा था। माता-पिता की तीन या चार अनुगामी पीढ़ियों के अन्तर्गत विवाह निषिद्ध माना जाता था।[९] किन्तु यदा-कदा तीसरी या चौथी पीढ़ी से वैवाहिक सम्बन्ध हो सकता था। सायण के अनुसार कण्वों में विवाह तीसरी पीढ़ी में हो सकता था तथा सौराष्ट्रों में चौथी पीढ़ी में। धीरे-धीरे लोग उन धार्मिक अनुष्ठानों से भी उदासीन होने लगे थे जिनमें निकटाभिगमन की आशंका थी। जैमिनीय ब्राह्मण के अनुसार राजा जनक

---

१. ऋ० १. १६२. १९, तै० सं० ४. ६. ९. ३, शत० ब्रा० २. ४. २. २४
२. अथर्व० ५. ११. ३
३. ऋ० ६. ३५. ५, १०. ६६. १४
४. तै० २. २. ३
५. ऐत० ब्रा० ३३. ५
६. ताण्ड्य १८. २. ११
७. कौषीतकि ब्रा० २५. १५
८. दत्त, एन० के०, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आव कास्ट इन इण्डिया, पृ० १०८
९. कौषीतकि ब्रा० ३. ८, शत० ब्रा० १, ८. ३. ६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

ने गोसव नामक अनुष्ठान का सम्पादन इसलिए नहीं किया क्योंकि उसमें निकटाभिगमन की व्यवस्था थी।[१] वैदिक साहित्य में नवविवाहिता के लिए 'वधू' शब्द का प्रयोग भी इस बात को सूचित करता है कि साधारणतया स्थानीय विवाह का प्रचलन नहीं था।

अन्तर्जातीय विवाह के प्रति किसी प्रकार की सामाजिक घृणा नहीं थी। अथर्ववेद (५.१७.९) के अनुसार यदि एक कन्या से विवाह के लिए ब्राह्मण और वैश्य दोनों इच्छुक हों तो ब्राह्मण युवक को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। शतपथ ब्राह्मण में राजा शर्याति की पुत्री सुकन्या और च्यवन ऋषि के विवाह का उल्लेख मिलता है।[२] शतपथ ब्राह्मण[३] से इस बात का संकेत मिलता है कि एक क्षत्रिय के वणिक-कन्या के साथ वैवाहिक सम्बन्ध का स्पष्ट निषेध नहीं था किन्तु शूद्र कन्या से विवाह तथा उनसे उत्पन्न सन्तान, दोनों को घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा था। यही कारण है कि कवष ऐलूष को यज्ञ से बहिष्कृत करने का प्रयास किया गया[४] तथा वत्स को अग्नि-परीक्षा के लिए विवश किया गया।[५] शूद्रों से वैवाहिक सम्बन्ध के विरोध के अनेक कारण प्रतीत होते हैं। गंगा के मैदान में आर्येतर जातियों के बाहुल्य तथा उनके साथ बढ़ते हुए सम्पर्क ने सम्भवतः आर्यों को रक्त-शुद्धता की ओर सचेत किया। दूसरे, पंजाब में जिन दासों (अनार्यों) के साथ आर्यों का संघर्ष और सम्पर्क हुआ वे पर्याप्त सुसंस्कृत एवं श्रीसम्पन्न थे। इसके विपरीत वे ज्यों-ज्यों दक्षिण पूर्व की ओर बढ़ते गये उनके मार्ग में अनेक अर्द्धसभ्य और भौतिक दृष्टि से नितांत हीन जातियां आईं जिनके आचरण भी प्रायः घृणास्पद थे। आर्यों ने उन्हें अपनी सामाजिक व्यवस्था में समाविष्ट तो किया किन्तु उनके साथ स्वतन्त्र वैवाहिक सम्बन्ध को प्रोत्साहन नहीं दिया। फिर भी शूद्रा से आर्य पुरुषों का वैवाहिक सम्बन्ध अज्ञात नहीं था। जैसा कि पहले बताया जा चुका हैं राजा की चतुर्थ पत्नी पालागली सम्भवतः शूद्रा हुआ करती

---

१. जै० ब्रा० २.११३ उप मातरम इयाद् उप स्वसारम् उप सगोत्राम्। — तेन हैतेन जनको विदेहो इयाक्षांचक्रे। तम् ब्राह्मणा अभितो निषेद्धुं।

२. शत० ब्रा० ४.१.५

३. द्रष्टव्य काणे, हिस्टरी आव धर्मशास्त्राज़, ग्रन्थ २, भाग १, पृ० ४४७

४. ऐत० ब्रा० २.१९, कौषीतकि ब्रा० १२.१.३

५. पंच० ब्रा० १४.६.६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

थी। वैदिक ऋषियों का दासियों अथवा शूद्रा स्त्रियों से अवैध सम्बन्ध एवं समागम प्रमाणित करने वाले प्रसंग भी मिलते हैं।[१] किन्तु वे विरल ही हैं।

विवाह अब भी प्रायः पूर्ण प्रौढ़ावस्था में ही होता था। अथर्ववेद ब्रह्मचर्य के पश्चात् ही कन्या द्वारा पति-प्राप्ति का समर्थन करता है।[२] इस युग में कुछ स्त्रियां ब्रह्मवादिनी भी हुआ करती थीं जो आजीवन अविवाहिता रहती थीं। सम्पूर्ण उत्तर वैदिक साहित्य में किसी कन्या के बाल्यावस्था में ही विवाह हो जाने का एक मात्र उदारण छान्दोग्य उपनिषद[३] में कुरु देश के एक निर्धन ब्राह्मण की 'आटकी' पत्नी का है। शंकर से आटकी का अर्थ अविकसित-यौवना (अनुपजातपयोधरा) किया है। आटकी की उत्पत्ति यदि 'इट्' धातु से मानी जाय तो इसका अर्थ घुमक्कड़ होगा। इस प्रसंग में शंकर भाष्य अपने युग की प्रथा से प्रभावित प्रतीत होता है।

परिवार का प्रधान पुरुष पति और पिता के रूप में परिवार पर शासन करता था। पति शब्द उसके पारिवारिक स्वामित्व का सूचक है। इस शब्द के प्रचलन का यह अर्थ लगाना भूल होगा कि पति को पत्नी का स्वामी माना जाता था क्योंकि पति शब्द की भाँति पत्नी शब्द भी स्वामित्व का द्योतक है। इससे यह सिद्ध होता है कि पारिवारिक जीवन में दोनों की समान स्थिति थी। यही बात अथर्ववेद में अनेकशः प्रयुक्त दम्पती[४] शब्द की व्युत्पत्ति से भी प्रमाणित होती है। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार पत्नी पति के शरीर का आधा भाग होती है।[५] शतपथ ब्राह्मण पति-पत्नी को दाने के दो दालों की भाँति मानता है[६] जिनकी संयुक्त स्थिति ही दोनों को पूर्णता प्रदान करती है। इस प्रकार केवल पति-पत्नी की समानता की ही कल्पना नहीं की गई थी बल्कि दोनों को एक ही शरीर के दो अविभाज्य अंग माना गया। इसीलिए शतशथ ब्राह्मण में अन्यत्र पत्नीविहीन जीवन असर्व और

पति-पत्नी

---

१. वाज० सं० २३,३१, तै० सं० ७.४.१९
२. अथर्ववेद, ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्, ११.५.१८
३. छान्दोग्य उप० १.१०.१
४. अथर्ववेद ९.१ १३.३, १२.३.१४,१४.२.९
५. तै० सं० ६.१.८.५, अर्धवाएष आत्मनो यत्पत्नी
६. शत० ब्रा० १४.४.२.४-५, तस्मादर्ध वृगलमिव स्वः इति स्माहयाज्ञवल्क्यः

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hâzratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

अधूरा बताया गया है।[१] धार्मिक अनुष्ठानों का सम्पादन भी दोनों साथ साथ करते थे। आर्यों की परिवार-व्यवस्था पितृप्रधान होते हुए भी पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन में पत्नी की स्थिति पति के समान ही आदरणीय थी। अथर्ववेद में इन्द्र से यह प्रार्थना की गई है कि वह पति-पत्नी को चक्रवाक दम्पती की भांति एकदूसरे के प्रति सच्चे अनुराग की प्रेरणा दे। इस युग में स्त्रियों में परवर्ती युगों की पातिव्रत्यभावना का बीजरूपेण प्रारम्भ भी यत्र-तत्र दिखाई देता है। शर्यातपुत्री सुकन्या कहती है कि मेरे पिता ने मुझे जिस व्यक्ति को विवाह में दे दिया है, जीवित रहते मैं उसका उपहास नहीं करा सकती।[२]

पिता

उत्तर वैदिक युग का पिता, अपनी सन्तानों के भरण-पोषण और रक्षण के लिए सर्वदा सचेष्ट रहता था, जैसा कि उसके उदार नाम से ही स्पष्ट है। शतपथ ब्राह्मण में विवाह का प्रमुख प्रयोजन सन्तानोत्पत्ति बताया गया है। तैत्तिरीय संहिता में सन्तान द्वारा अमृतत्व के उपभोग की कामना की गई है।[३] अथर्ववेद (३,२३) में वीर-प्रसूति के लिए प्रार्थना की गई है तथा नारी को बारबार पुत्र उत्पन्न करने का आशीर्वाद दिया गया है।[४] पुत्र-प्राप्ति के लिए प्रार्थनाओं के अतिरिक्त लोग अनेक अनुष्ठान करते थे। ह्विटने के अनुसार अथर्ववेद (६.८१.३) में पुत्र-प्राप्ति के लिए हाथ में ताबीज बांधने की प्रथा का संकेत है। तैत्तिरीय ब्राह्मण गर्भाधान का उद्देश्य पुत्र-प्राप्ति ही बतलाता है।[५] निश्चय ही इस युग में पुत्र-प्राप्ति के हेतु पुंसवन भी होने लगा था।[६] इतना ही नहीं, अथर्ववेद में पुत्र-प्राप्ति के लिए औषधियों के प्रयोग का संकेत भी मिलता है। अथर्ववेद (६.११ में शमी वृक्ष के ऊपर उगा हुआ पीपल पुत्रदाता माना गया है। इसी प्रकार शतवार (अथर्ववेद १९.३६) तथा औदुम्बर की (वहीं १९.३१) मणियों का बांधना भी वीर पुत्र

---

१. शत० ब्रा० ५.२.१.१०
२. शत० ब्रा० ४.१.५.९, यस्मै मां पिता दान्नैवाहं तं जीवन्तं हास्यामीति।
३. तै० सं० १.४.४६.१
४. अथर्ववेद ३. २३.३-५ पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमान् तु जायताम्
५. तै० ब्रा० ३.७.१
६. अथर्ववेद ६.११ आ० गृ० सू० १.१३, शांखा० गृ० सू० १.२०, पार० गृ० सू० १.१४, गोभिल गृ० सू० २.६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

प्रदायक बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि लोग पुत्र प्राप्ति का एक प्रबल साधन यज्ञ भी मानते थे।[१] ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञ द्वारा पुत्र प्राप्त करने वाले अनेक राजाओं का उल्लेख करते हैं। कक्षीवान, औशिज, वीतह्व्य श्रायस, त्रसदस्युआदि ने यज्ञ के द्वारा सहस्रों पुत्र प्राप्त किए।[२] यज्ञ के माध्यम से पुत्र प्राप्तकरने वाले कतिपय राजाओं का उल्लेख काठक संहिता (२२.३) पंचविंश ब्राह्मण (२५.१६.३) तथा जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण (२.६.११) में भी मिलता है। महाभारत के अनुसार द्रोपदी और धृष्टद्युम्न यज्ञीय अग्नि से उत्पन्न हुये थे।[३] इसी प्रकार रामायण में भी दशरथ को पुत्र-प्राप्ति के लिए यज्ञ करते दिखायागया है।

पुत्र-प्राप्ति की उत्कण्ठा के पीछे आर्थिक और सामरिक कारण ही प्रमुख थे।[४] साथ ही कुछ नवोदित विश्वास भी इसके लिए उत्तरदायी थे। जैसा कि पहले ही संकेत किया गया है उत्तरवैदिक युग में पितृऋण की भावना बलवती होने लगी थी।[५] लोगों को यह विश्वास हो चला था कि पुत्र पुत् नामक नरक से पिता की रक्षा करने के कारण ही पुत्र कहलाता है।[६] यास्क ने अपने निरुक्त (२.११) में इस व्युत्पति को स्वीकार किया है। अनेक परवर्ती धर्मग्रन्थों एवं रामायण महाभारत में भी इस व्युत्पत्ति का समर्थन किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (३१.१) पुत्र की महिमा का वर्णन करते हुए उसे ऋणमुक्त करने वाला, अमृतत्व प्रदान करने वाला तथा पुत् नामक नरक से बचाने वाला कहता है।

परिवार में पुत्रों का महत्वपूर्ण स्थान

पिता पुत्र का सम्बन्ध प्रायःप्रेमपूर्ण होता था। शांखायन आरण्यक से ज्ञात होता है कि युवक पुत्र के प्रति प्रेम प्रदर्शित करता हुआ पिता कभी-

---

१. शत० ब्रा० ४.४.२.६
२. तै० सं० ५.६.५.३
३. महाभारत १.१६९.३६-५६
४. शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट कहा गया है कि—"पूर्ववय में पिता द्वारा पालित होकर युवावस्था में पुत्र वृद्ध पिता का पालन पोषण करता है। (तस्मात् पूर्ववयसे पुत्राः पितरमुपजीवन्ति। उत्तरवयसे पुत्रान् पितोपजीवति), शत० ब्रा० १२.२.३.४
५. शत० ब्रा० १.७.२.११, तै० सं० ६.३.१०.५
६. गो० ब्रा० १११.१२

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

कभी उसका माथा चूमता था। स्वयं शिक्षित होने पर अनेक व्यक्ति अपने पुत्र को स्वयं शिक्षा प्रदान करते थे। श्वेतकेतु आरुणेय की कथा इस प्रसंग में उदाहरणीय है। उसके पिता उद्दालक ने उसे चौबीस वर्ष की अवस्था तक वेदाध्ययन कराया था।[१] इसके अनुकूल ही हम पुत्रों में भी पिता के प्रति श्रद्धा भाव पाते हैं। अथर्ववेद (३.३०.२) पुत्र को पिता के प्रति अनुव्रत बतलाता है। पुत्र पिताकी वृद्धावस्था में उसकी रक्षा एवं सेवा करते थे। जिमर महोदय ने प्रतिपादितकिया है कि वैदिक युग में बेटे बूढ़े माता-पिता को हत्या कर देते थे तथा उन्हें जंगली जानवरों के खाने के लिए जंगल में छोड़ देते थे।[२] जिमर की इस स्थापना का आधार 'उद्धित्' शब्द है जिसका अर्थ है 'उठाकर अलग रक्खा हुआ'। अथर्ववेद (१८.२.३४) में इस शब्द का प्रयोग पितृमेध सूक्त में शवों के प्रसंग में आया है। वैदिक युग में शवों को गाड़ने की विधि भी प्रचलित थी और जलाने की भी। पहले प्रकार को अनग्निदग्ध और दूसरे प्रकार को अग्निदग्ध कहा जाता था।[३] अनग्निदग्ध कभी गाड़ दिए जाते थे (निखात) और कभी जंगल में छोड़ दिए जाते थे। जंगल में छोड़ने की इस परम्परा को 'उद्धित' कहा गया है। अथर्ववेद (१८.२.३४) में मृत-शरीर के ही उद्धित करने का वर्णन है जीवित शरीर के नहीं। ऋग्वेद (८.५१.२) में अवश्य ही पार्षद्वाण द्वारा बूढ़े सोते पिता को उद्धित करने की बात कही गई है किंतु इस प्रसंग में 'उद्धित' शब्द केवल बाहर फेंक देने की क्रिया का संकेत करता है न कि हत्या का। सम्भव है उद्दण्ड पार्षद्वाण ने अभागे पिता को शयनावस्था में घर के बाहर फेंक दिया हो। इस प्रमाण के आधार पर पितृहत्या सर्वथा अकल्पनीय है। यदि इस प्रकार की कोई परम्परा वैदिक युग में प्रचलित होती तो कम से कम सूत्र साहित्य में कुछ निषेधात्मक निर्देश अवश्य मिलता। इसके विपरीत तैत्तिरीय उपनिषद के अनुसार आचार्य शिक्षा समाप्ति पर विद्यार्थी को माता-पिता की देववत पूजा का उपदेश देते थे।[४] पिता की ही भाँति पुत्र माता का भी सम्मान करता था। अथर्ववेद (३.३०.२) माता के अनुकूल मन वाला होने का उपदेश देता है। महाभारत (१.१९६.१६) में माता को सर्वश्रेष्ठ गुरु माना गया है। वैदिक

---

१. वृ० उप० ६.२.१४
२. वैदिक इण्डेक्स १, ५२७ से उद्धृत
३. देखिए ऋ० १०.१५.१४, अथर्ववेद १८.२.३४
४. तै० उप० १. ११. २, मातृदेवो भव पितृ देवो भव

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

साहित्य में पितृव्य शब्द का अभाव इस बात का संकेतक है कि चाचा को भी लोग पिता ही कहकर पुकारते थे। महाभारत में भी चाचा को पितृव्य न कह कर पिता ही कहा गया है। पाण्डवों ने धृतराष्ट्र को कभी भी पितृव्य नहीं कहा। वे उन्हें 'पिता' अथवा 'तात' कहकर सम्बोधित करते थे।

धार्मिक और आर्थिक दृष्टि से कम उपयोगी होने के कारण पुत्री की दशा पुत्र की अपेक्षा हीन थी। यद्यपि बृहदारण्यक उपनिषद में धीमती कन्या के जन्म के लिए विधि नियम बताया गया है[1] तथापि उसके जन्म पर प्रायः खिन्नता ही प्रकट की गई है।[2] ऐतरेय ब्राह्मण (३३. १) में उसे कृपण कहा गया है। इसका भाष्य करते हुए सायण ने कहा है कि 'वह जन्म के समय अपने सम्बन्धियों को कष्ट देती है, विवाह के समय अर्थहानि का कारण बनती है और यौवन में अनेक दोषों के कारण (कुल को) कलंकित कर सकती है। इस प्रकार कन्या माता-पिता का हृदय विदीर्ण करने वाली होती है।[3] कन्या के प्रति अनादर का भाव इस बात से भी प्रकट है कि जहां पुत्र उत्पन्न होने पर उसे (शय्यापर से) उठा लेते थे, नवजात कन्या को (शय्या पर ही) छोड़ देते थे।[4] यहां कन्या को छोड़ने के लिये 'परास्यन्ति' शब्द का प्रयोग है। इसके आधार पर विद्वानों ने अनेक भीषण कल्पनाएँ कर ली हैं। जिमर और डेलब्रुइक ने प्रतिपादित किया है कि वैदिक युग में बालिकावध की प्रथा प्रचलित थी।[5] कन्यावध की परम्परा अत्यन्त प्राचीनकाल में यूनान, चीन और अरब जैसे देशों और स्वयं मध्यकालीन भारत में प्रचलित थी। अरब में कन्यावध का विरोध करने वाले पहले व्यक्ति मुहम्मद साहब थे। इन उदाहरणों से उत्पन्न पूर्वाग्रह के कारण-जिमर एवं डेलब्रुइक महोदय ने मान्यता रखी है कि वैदिक आर्य कन्याओं को घने जंगलों में छोड़ देते थे, जिससे उन्हें वन्य पशु खा जाँय। राजवाड़े

कन्या की स्थिति

---

१. बृ० उप०. ४. २७

२. अथर्ववेद ६. २, ३.

३. सायणभाष्य ऐत० ब्रा० ३३. १, सम्भवे स्वजनदुख-कारिका, सम्प्रदान समये अर्थहारिका यौवनेऽपि बहुदोषकारिका, दारिकाहृदयदारिकापितुः।

४. काठक सं० २७. ६, तै० सं० ६. ५. १०. ३, मै० सं० ४. ६. ४, ४. ७६

५. तस्मात्स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसं। वैदिक इण्डेक्स १. ४८७ से उद्धृत

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

ने उनके इस मन्तव्य का समर्थन किया है।[१] लेकिन इन विद्वानों की कल्पना सर्वथा निराधार है। किसी भी प्राचीन टीकाकार ने इस शब्द का यह अर्थ नहीं माना है। सायण में इसका अर्थ कन्या को पति कुल में छोड़ना किया है।[२] कन्यावध का समर्थन करने वाला कोई भी विद्वान वैदिक साहित्य से एक भी निर्विवाद प्रमाण नहीं दे सका है। वेबर महोदय पंचविंश ब्राह्मण (११. ८. ८.) में प्राप्त आंगिरस युक्ताश्व की कथा को कन्यावध का प्रमाण मानते हैं किन्तु इस कथा में युक्ताश्व द्वारा शिशुओं को केवल विपरिहार अथवा कष्ट देने का उल्लेख है न कि उनको मारने का।

कन्या के प्रति वैदिक आर्यों की उदासीनतातथा पारिवारिक जीवन में उनकी अवहेलना तत्कालीन समाज की संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचायक है। जाति एवं वंश की परम्परा को अविच्छिन्न रखने में पुत्री का भी उतना ही योग था, जितना पुत्र का। वही कन्या विवाह के उपरान्त पत्नी और जाया के रूप में अधिक उपयोगी होने के कारण आदर प्राप्त करती थी किन्तु उसके इस भावी महत्व पर ध्यान नहीं दिया जाता था।

माता-पिता की वृद्धावस्था में कन्या को प्रायः भाई और भाभी के शासन तथा सुरक्षा में रहना पड़ता था। जैसा कि भ्राता शब्द के अर्थ से ही स्पष्ट है भाई बहिन का रक्षक और पोषक माना जाता था। भ्रातृ-युक्त कन्याएं सौभाग्यशालिनी समझी जाती थीं। इसी आधार पर बाद में भगिनी शब्द का विकास भी हुआ। वैदिक साहित्य में भ्रातृहीना कन्याओं की दुर्दशा का चित्र प्रायः मिलता है। अभ्रातृका कन्या का विवाह प्रायः कठिन होता था। या तो उन्हें आजीवन कौमार्य व्रत धारण करना पड़ता था अथवा विवश होकर वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ती थी।[३] इसके कई कारण थे एक, प्रायः वैदिक आर्य अनाथ और अरक्षित कन्याओं से विवाह करने में हिचकते थे विवाह के पश्चात् स्याला अपने बहिन के पति के लिए एक प्रबल मित्र और सहायक सिद्ध होता था। देवताओं की उदारता की तुलना स्याले को उदार वृत्ति से की गई।[४] अतः यह स्वाभाविक ही था कि विवाहार्थी ऐसी कन्या

---

१. निरुक्त, भंडाकार ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यू द्वारा प्रकाशित, पृ० ४२१
२. सायण भाष्य तैं० सं० १. ४. २८
३. द्र० वैदिक इण्डेक्स २. ४९६, अथर्ववेद १. १७.१ अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः
४. निरुक्त ६. ९; वैदिक इण्डेक्स २. ११३, ४८६, ४९०, ४९६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

से विवाह करने में हिचकिचाहट दिखावे जो इस उदार मित्र और सहायक से हीन हो।[१] दूसरे मातृहीना-कन्याओं को पिता पिण्डदान की सुविधा के लिए पुत्रिका बना लेते थे।[२] ऐसी पुत्री प्रायः पिता के घर रहती थी, तथा उससे उत्पन्न पुत्र अपने पिता को पिंडदान न देकर अपने नाना (मैटर्नल ग्रैंड फ़ादर) को देता था। इस प्रकार भ्रातृहीना कन्या से विवाह धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक तीनों दृष्टियों से हानिकारक समझा जाता था।

भाई और बहिन के बीच स्नेह तन्तु के होते हुए भी बहुधा ननद-भाभी का सम्बन्ध प्रेमपूर्ण नहीं होता था। इसका कारण मनोवैज्ञानिक है। घर में इन दोनों की स्थिति प्रायः समान होती थी। ननद अपने भाई के दुलार तथा गृहस्वामिनी माता के प्यार की अधिकारिणी होने के कारण परिवार के नारी सदस्यों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती थी। इसके विपरीत नववधू न केवल परिवार के सदस्यों का स्नेह और ध्यान आकर्षित करती थी वरन् कालक्रम से ननद पर शासन भी करने लगती थी। ऐसी स्थिति में ननद का खिन्न और ईर्ष्यालु हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। ऐतरेय ब्राह्मण का एक प्रसंग ननद-भाभी के सम्बन्धों पर अच्छा प्रकाश डालता है। इसमें कहा गया है 'एक व्यक्ति की बहिन, जो उसी गर्भ से पैदा हुई है जिससे वह स्वयं पैदा हुआ है, उसकी पत्नी का जो दूसरे के गर्भ से उत्पन्न हुई है अनुसरण करती हुई जीवन व्यतीत करती है।[३] तृतीय या चतुर्थ सदी तक अथवा इसके पूर्व ही संस्कृत शब्द 'ननदृ' की व्युत्पत्ति 'न प्रसन्न होने वाली' (न नन्दति इति) किया जाने लगा था।[४] हम ठीक प्रकार से नहीं कह सकते कि यह स्थिति केवल कुमारी कन्याओं की ही थी अथवा विवाह के पश्चात् पितृगृह में लौटी हुई कन्याओं की भी, किन्तु सम्भवतः दोनों स्थितियों में ननद के ऊपर भाभी का शासन प्रायः हुआ करता था क्योंकि उसकी भाभी का पति गृहपति होता था और वह गृहपत्नी।

---

१. फैमिली एण्ड किन इन इण्डो आर्यन कल्चर, पृ० ४८

२. द्र० वैदिक इण्डेक्स, १. ५२८, ५३७, २. ४९६

३. ऐत० ब्रा० ३.२.१२

४. द्रष्टव्य—इरावती कार्वे, किनशिप आर्गनाइजेशन इन इण्डिया, पृ० ४३

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

वधू गृहपत्नी के रूप में न केवल पति की बहिनों पर शासन करती थी बल्कि न्यूनाधिक रूप से पति के छोटे भाई भी उसके प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत थे यद्यपि देवर कुछ अवस्थाओं में उसपर पतिवत् अधिकार भी रखता था। यास्क ने देवर शब्द की टीका करते हुए उसे दूसरा पति बताया है।[१] महाभारत में भी पति के अभाव में देवर से विवाह का उल्लेख है। वैदिक युग में पति की मृत्यु के पश्चात् विधवा का विवाह प्रायः देवर से ही होता था। ऐसी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत भाभी के हृदय में देवर के प्रति (एक अज्ञात भय के कारण) सम्मान होना स्वाभाविक ही था। अथर्ववेद (१४.२.१८) से इन दोनों सम्बन्धियों के बीच प्रेमपूर्ण सम्बन्ध की पुष्टि होती है।

वधू

सास-ससुर के प्रति वधू का व्यवहार प्रायः आदरपूर्ण होता था। उत्तर वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि वधू ससुर के समक्ष सलज्ज और अनुशासनयुक्त रहती थी। मैत्रायणी संहिता में ब्राह्मण के लिए एक स्थान पर सुरापान का निषेध इसलिए किया गया है कि सुरा के प्रभाव में ससुर और पुत्रवधू भी परस्पर अभद्र बातें करते हैं।[२] इससे प्रकट होता है कि ससुर और पुत्रवधू में बहुत ही संयत और अनुशासनपूर्ण व्यवहार तथा सम्बन्ध की अपेक्षा की जाती थी। अथर्ववेद में स्पष्टतः ससुर और पुत्रवधू के बीच लज्जाजनित दूरी का उल्लेख हुआ है।[३] यहां बताया गया है कि जिस प्रकार लोग धूप से दूर रहने और बचने का प्रयास करते हैं उसी प्रकार पुत्रवधू ससुर से दूर रहने का प्रयास करती है। ऐतरेय ब्राह्मण शत्रुसेना को शक्तिहीन करने के लिए एक अनुष्ठान का उल्लेख करता है जिसके प्रभाव के प्रसंग में ससुर-पुत्रवधू संबन्ध का रूपक दिया गया है।[४] सायणाचार्य ने इसपर भाष्य करते हुए कहा है कि यह अनुष्ठान शत्रुसेना को पराजित करने में सहायक है क्योंकि इसमें जिस देवता का आह्वान होता है वह शत्रुसेना की संरक्षिका देवी का ससुर होता है। जिस प्रकार युवती पुत्रवधू ससुर के समक्ष लज्जावश अंगों को छिपाने के लिए

---

१. निरुक्त ३.१५
२. मैत्रा० सं० २.४.१-२
३. अथर्व० ८.६.२४, ये सूर्यात्परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि।
४. ऐत० ब्रा० १९.११, स्नुषा श्वशुराल्लज्जमानानिलीयमानेति।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

अपने को वस्त्रों से आच्छादित करती है तथा धीरे से घर के अन्दर सरक जाती है उसी प्रकार का आचरण इस विशेष अनुष्ठान के प्रभाव से शत्रु सेना करती है। आश्वलायन श्रौतसूत्र में भी शत्रु को वशीभूत करने के लिए 'स्नुषा-श्वशुरिय इष्टि' का वर्णन है।[१] अथर्ववेद (१४.२.२६) में पुत्रवधू द्वारा श्वशुर की सहायता की कामना की गई है। वृद्धावस्था में प्रायः श्वशुर पुत्रवधू के शासन और देखभाल में आ जाता था। वैदिक साहित्य में यद्यपि श्वश्रू (मदर इन ला) और स्नुषा के पारस्परिक सम्बन्धों को सूचित करने वाले प्रसंगों का अभाव है तथापि अथर्ववेद (१४.२.२६) से स्पष्ट है कि पुत्रवधू श्वसुर और श्वश्रू दोनों का समान रूप से आदर और सत्कार करती थी।[२] बहुवों का सास के प्रति व्यवहार पर्याप्त नम्र होता था।[३] सास की वृद्धावस्था में बहू उसका उत्तरदायित्व सम्हालती थी, तथा घर की सम्राज्ञी बनती थी।[४]

वैदिक परिवार के पितृप्रधान होने के कारण पत्नी के पिता अथवा स्त्री पक्ष के अन्य सम्बन्धियों का विशेष उल्लेख नहीं हुआ है। श्वशुर शब्द जहां पति के पिता का बोधक है, पत्नी के पिता का बोधक नहीं है। स्याला के सम्बन्ध में जो एकाकी प्रसंग मिलते हैं उनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। उसे इन्द्र और अग्नि के समान उदार (उपहारादि) देने वाला बतलाया गया है। मामा, जिनकी स्थिति महाकाव्यों और स्मृतियों के काल तक महत्वपूर्ण हो चली थी, वैदिक युग में प्रायः महत्वहीन सम्बन्धी हैं। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में उनका उल्लेख केवल एक बार हुआ है।[५] वैदिक साहित्य में इन्हें 'मातुभ्रातृ' कहा गया है। सूत्रकाल से आगे इन्हें मातुल कहा गया सूत्रसाहित्य में सम्मानित किए जाने वाले व्यक्तियों में मामा का स्थान पितृव्य के बाद माना गया है।[६]

---

१. आश्वलायन २.११

२. श्वशुराय शंभूः स्योना श्वश्रूवै।

३. काठक सं० ३१.१

४. ऋ० १०.८५.४६

५. मै० सं० १.६.१२

६. गौतम ५.२८-३०, वशिष्ठ ११.१, बोधायन २.४६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

स्त्रियों की दशा

किसी भी युग अथवा देश की सामाजिक व्यवस्था एवं तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण का वास्तविक मूल्यांकन स्त्रियों की स्थिति एवं उनके विषय में प्रचलित धारणाओं के अध्ययन के बिना प्रायः अपूर्ण है। उत्तर वैदिक युग की नारी का जीवन समुन्नत होते हुए भी पतनोन्मुख था। एक ओर जहाँ हम स्त्रियों के प्रति परम्परागत सम्मान का भाव देखते हैं वहीं दूसरी ओर उनके प्रति नवीन अस्वस्थ धारणाओं का जन्म होता हुआ भी पाते हैं। शैक्षणिक सुविधाएँ स्त्रियों को प्रायः पुरुषों की भाँति प्राप्त थीं। बृहदारण्यक उपनिषद् (६. ४. १७) में पंडिता कन्या की प्राप्ति के लिये विशेष अनुष्ठानों की योजना मिलती है। अथर्ववेद में कन्या द्वारा ब्रह्मचर्य आश्रम में शिक्षा-प्राप्ति का उल्लेख मिलता है।[1] शुक्ल यजुर्वेद में शिक्षित स्त्री-पुरुष को ही विवाह के उपयुक्त बतलाया गया है।[2] वास्तव में कन्या ब्रह्मचर्य काल में अपने को न केवल विदुषी बनाती थी बल्कि सामाजिक जीवन के उपयुक्त बनने का भी प्रयास करती थी। इसमें वह अपनी शारीरिक एवं बौद्धिक शक्तियों का विकास करती हुई समाज और धर्म के उन सभी नियमों से सुपरिचित हो जाती थी जिनकी उसे गृहस्थ जीवन में आवश्यकता पड़ती थी। उपनिषद-युग तक तो स्त्रियाँ दार्शनिक विषयों के अध्ययन एवं चिन्तन में पर्याप्त ख्याति प्राप्त करने लगी थीं। ऐसी स्त्रियाँ भी अज्ञात नहीं थीं जो आजीवन अध्यात्मचिन्तन में ही लगी रहती थीं। उन्हें ब्रह्मवादिनी कहा गया है। पारिवारिक जीवन में उलझी गृहपत्नियाँ भी ब्रह्म और आत्मन के रहस्य को जानने के लिए जिज्ञासु रहती थीं। बृहदारण्यक उपनिषद में हम याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी को दार्शनिक ज्ञान के लिए उत्कंठित देखते हैं।[3] इसी पुस्तक में इस बात का भी उल्लेख है कि विदेह राज जनक के दरबार में याज्ञवल्क्य अनेक पण्डितों को परास्त करने के पश्चात् गार्गी वाचक्नवी की विद्वत्ता को समक्ष अकस्मात् हतप्रभ हो गये थे।[4] कौषीतकि ब्राह्मण (२.६) में एक कुमारी गन्धर्व-गृहीत अग्निहोत्र में पारंगत बताई गई है। तैत्तिरीय संहिता

---

१. अथर्ववेद ११.५ १८

२. शुक्ल यजुर्वेद ८.१

३. वृ० उप० २.४.३ तथा ४.५.४ सा हवाच येनाहं नामृतां स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान वेद तदेव मे ब्रूहि।

४. वृ० उप० ३.६ तथा ८

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

(६.१६.५) तथा मैत्रायणी संहिता (३.७.३) में स्त्रियों की संगीत-नृत्य-अभिरुचि का वर्णन है।[१] शतपथ ब्राह्मण (१४.३.१.३५) सामगान को स्त्रियों का विशेष कार्य बतलाता है। इससे प्रकट है कि उत्तर वैदिक युग में स्त्रियाँ गान विद्या में प्रवीण होती थीं तथा उनमें मंत्रों के शुद्ध पाठ एवं स्वरों के उचित आरोहवरोह की क्षमता होती थी। आश्वलायन गृह्यसूत्र (३.८.११) में स्त्रियों के समावर्तन संस्कार का उल्लेख है इससे प्रकट होता है कि गृह्य सूत्रों के काल तक स्त्रियों को वेदाध्ययन का अधिकार पूर्ववत प्राप्त था। धार्मिक एवं सामाजिक अनुष्ठानों, नियमों एवं विधि-निषेधों से स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक परिचित थीं। आपस्तम्ब का कथन है कि अनुल्लिखित कर्तव्यों का ज्ञान स्त्रियों से प्राप्त करना चाहिए। उनका ज्ञान समस्त अध्ययन का पूरक है।[२]

सामाजिक एवं धार्मिक महत्व के उत्सवों में भी स्त्रियाँ स्वतंत्रतापूर्वक भाग ले सकती थीं। अथर्ववेद में अलंकृता नारी के सभा में जाने का उल्लेख है।[३] यज्ञ में तो पत्नी पति के साथ अनिवार्य रूप से भाग लेती थी। स्त्रियों को स्पष्टतः यज्ञ का अधिकारिणी कहा गया है।[४] अपत्नीक व्यक्ति यज्ञ के लिए अनुपयुक्त समझा जाता था।[५] रामायण काल तक हम राम को सीता की अनुपस्थिति में यज्ञ करने मे असमर्थ पाते हैं। इस समस्या के समाधान हेतु उन्हें सीता की सुवर्ण-प्रतिमा बनवानी पड़ी थी। शतपथ ब्राह्मण में पत्नी द्वारा यज्ञ की अनेक क्रियाओं के सम्पादन का वर्णन है।[६] यज्ञ की वेदी के निर्माण में उसकी सहायता अपेक्षित थी।[७] इसके अतिरिक्त अन्य याज्ञिक क्रियाओं में भी वह पति को सहयोग देती थी।[८] पारस्कर गृह्यसूत्र (२.१७) से ज्ञात होता हैं कि शस्यवृद्धि के लिए पत्नी स्वतंत्र रूप से भी सीता यज्ञ कर सकती थी। धार्मिक क्रियाओं की भाँति ही उनसे

---

१. गायन्तं स्त्रियः कामयन्ते,
२. आप० ध० सू० २,२.२९.१५
३. अथर्ववेद २.३६.१
४. अथर्ववेद ११.१.१७-२७. योषितो यज्ञिया इमाः
५. शत० ब्रा० ५.१.६.१०, तै० ब्रा० २२.२.६
६. शत० ब्रा० १.९.२.१, १.९.२.५
७. शत० ब्रा० १०.२.३.१ ; १०.२.३.३
८. शत० ब्रा० ३.८.२.१-६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

उत्पन्न फल के भोग में भी पत्नी पति के समान ही अधिकारिणी समझी जाती थी। अकेले पुरुष स्वर्ग के भोग की भी आकांक्षा नहीं करता था। वाजपेय यज्ञ में यज्ञीय यूप के सहारे सीढ़ी पर चढ़ता हुआ पति पत्नी से कहता था आओ हम दोनों साथ साथ स्वर्गारोहण करें।[१]

उपर्युक्त वर्णन से वैदिक नारी की जिस उच्च स्थिति का बोध होता है वह चिरस्थायी नहीं थी। उत्तर वैदिक युग में ही स्त्रियों की दशा पतनोन्मुख हो चली थी। उनके विषय में विभिन्न प्रकार के हीन विचारों का प्रतिपादन एवं प्रचार हो रहा था। पत्नी के लिए अब अधिकांशतः भार्या और जाया शब्द का प्रयोग होने लगा था। पोष्या और भार्या जैसे शब्द स्त्री की अधीनता का संकेत करते हैं। जाया शब्द का बाहुल्य नारी के प्रजनन-कार्य के महत्व पर बल दिए जाने का प्रमाण है। परवर्ती संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रंथों में जहाँ कहीं भी स्त्रियों के महत्व पर उनकी उपयोगिता को पृथक् करके विचार किया गया है, प्रायः उनकी भर्त्सना की गई है। मैत्रायणी संहिता (३.६.३) में स्त्री को झूठ बोलने वाली और मृत्यु के देवता से सम्बद्ध बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण (१४.१.१.३१) में भी स्त्रियो को अनृत कहा गया है। काठक संहिता नारी को भावुक और निर्वीर्य बतलाता है।[२] मैत्रायणी संहिता के एक अन्य प्रसंग में स्त्री पर चरित्रहीनता का दोष लगाते हुए कहा गया है कि पति द्वारा धन से खरीदी जाने वाली स्त्री भी अन्य पुरुषों के साथ विचरण करती है।[३] इस प्रसंग से स्त्रियों का क्रय-विक्रय भी न्यूनाधिक रूप में प्रमाणित है। स्त्री-विक्रय की परम्परा के प्रचलन का संकेत यास्क ने अपने निरुक्त में भी दिया है।[४] तैत्तिरीय संहिता में भी नारी की शारीरिक हीनता का उल्लेख हुआ है और उसे यज्ञ में सोम का भाग लेने के अधिकार से विहीन एवं पापी पुरुषों से भी तुच्छ बातें करनेवाली बताया गया है।[५] जैमिनीय ब्राह्मण (१.९८) में स्त्रियों को दुःख का साधन माना गया है तथा कहा गया है कि इन्हें देवताओं ने क्रोध, आलस्य, नींद, भूख या वासना तथा

---

१. शत० ब्रा० ५.२.१.१०
२. काठक सं० २८.८.४४
३. मै० सं० १.१०.११
४. निरुक्त ३.४
५. तै० सं० ६.५.८.२

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

द्यूतक्रीड़ा जैसे दुर्व्यसनों के साथ मनुष्य को कष्ट देने के लिए बनाया है। शतपथ ब्राह्मण पुरुष के समक्ष नारी की हीनता का प्रतिपादन करते हुए यहाँ तक कहता है कि अनेक स्त्रियों के बीच एक छोटा बालक हो तो उनमें वही श्रेष्ठ समझा जायगा।[१]

इस युग के सामाजिक जीवन में जो संघर्ष दिखाई देता है उसका प्रभाव सामान्यजनों के व्यक्तिगत जीवन पर भी पड़ा। पारिवारिक जीवन में हम पुरुषों को स्त्रियों के समक्ष अपनी उच्चता का प्रतिपादन करते हुए देखते हैं। दाम्पत्य जीवन में भी समान अधिकारों का ह्रास एवं स्त्रियों की दुर्बलता का लाभ उठाकर उनके शोषण का प्रयास होने लगता है। शतपथ ब्राह्मण एक स्थान पर पति का अत्ता कहता है। विचारणीय है कि इसी प्रकार राजा को भी 'विश' का अत्ता कहा गया है। पत्नी के समक्ष पति की गुरुता एवं श्रेष्ठता की स्थापना का प्रयास शतपथ ब्राह्मण (१.१.४.१३) में स्पष्ट दिखाई देता है। शतपथ ब्राह्मण का यह अंश इस बात की व्यवस्था करता है कि पत्नी को पति के पश्चात् भोजन करना चाहिए। शतपथ ब्राह्मण पत्नी के शरीर पर भी प्रायः पति का अधिकार मानता है।[२] इस अंश में हमें स्त्री की परतन्त्रता (न नारी स्वातंत्र्यमर्हति) का स्पष्ट वर्णन दिखाई देता है। यहाँ कहा गया है कि 'देवताओं' ने पीट-पीट कर अपनी पत्नियों को शक्तिहीन कर दिया है। अतः इस प्रकार पीड़ित और शक्तिहीन होने के कारण उनका अपने शरीर और सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं है।

इसी युग में नारी को याज्ञिक अधिकारों से भी वंचित करने का प्रयास किया गया। यद्यपि यज्ञों से धर्मपत्नी के रूप में नारी को बहिष्कृत नहीं किया जा सका, तथापि उसके धार्मिक अधिकारों को सीमित और संकुचित कर दिया गया। धार्मिक क्षेत्र में उनकी अपवित्रता और याज्ञिक अनुपयुक्तता का विचार प्रचलित हो गया जिसकी प्रतिध्वनि उत्तर वैदिक साहित्य के उत्तरार्द्ध में सर्वत्र मिलती है। याज्ञिकों के एक सम्प्रदाय ने यह प्रतिपादित किया कि स्त्रियां यज्ञ की अधिकारिणी ही नहीं हैं। उनका स्थान यज्ञ की वेदी के बाहर होना चाहिए।[३] यद्यपि शतपथ ब्राह्मण स्त्रियों को यज्ञ से बहिष्कृत करने का समर्थन नहीं करता फिर उन्हें अयज्वन शूद्रों की कोटि

---

१. शत० ब्रा० १.३.१.९
२. शत० ब्रा० ४.४.२.१३
३. शांखा० ब्रा० २७.४, अयज्ञिया वैपत्न्यो बहिर्वेदिहिताः

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

में रखता है तथा उनकी अपवित्रता की घोषणा करता है।[१] स्त्रियों का धार्मिक अनुष्ठानों से बहिष्कार एक आकस्मिक घटना नहीं थी। उनके अधिकारों का अपहरण बड़ी मन्द गति से हुआ। जिन अपवित्रताओं एवं दूषणों के कारण उत्तरवैदिक युग के अन्त तक स्त्रियों को यज्ञाधिकार से वंचित कर दिया गया उनके निराकरण का प्रारम्भ में प्रयास भी किया गया। शतपथ ब्राह्मण (१.३.१.१३) पत्नी के नाभि के नीचेवाले भाग को अपवित्र बतलाता है तथा इस अशौच को दूर करने के लिए वस्त्रों के ऊपर कुशा घास के चण्डातक की व्यवस्था करता है। यज्ञ में होने वाले विभिन्न अनुष्ठान धीरे-धीरे स्त्रियों के हाथ से निकल कर पुरोहितों के अधिकार क्षेत्र में आने लगे। पहले पत्नी द्वारा होने वाला हवि तैयार करने का कार्य अब पुराहित (अग्नीध्र) करने लगा।[२] इसी प्रकार सोमयाग में प्रवर्ग्य नामक कृत्य (घर्म नामक गरम बर्तन में दूध डालना) पहले पत्नी द्वारा सम्पादित होता था, किंतु बाद में इसे उद्गाता करने लगा।[३] इन प्रमाणों के आधार पर यद्यपि यह तो नहीं कहा जा सकता कि उत्तर वैदिक युगीन नारी धार्मिक जीवन से बहिष्कृत कर दी गई थी क्योंकि हम अनेक प्रसंगों में पत्नी को पति के साथ यज्ञ कार्य करते हुए पाते हैं, तथापि इनके आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि समाज के अन्य वर्गों एवं संस्थाओं की भाँति ही स्त्रियों के सम्बन्ध में भी नए विचारों एवं नवीन मूल्यों का उन्मेष प्रारम्भ हो गया था। इस प्रकार भारतीय नारी के पतन का जो इतिहास बाद में उपलब्ध होता है उसके विकास के बीज उत्तरवैदिक युग की सामाजिक व्यवस्था में ही निहित थे।

प्रश्न वैदिक आर्यों के पितृप्रधान समाज में पुरुष की अपेक्षा नारी को कम सम्मान प्राप्त होना स्वाभाविक था। पूर्व वैदिक युग की सामाजिक-अव्यवस्था एवं वाह्य संघर्षों ने पुरुष को स्त्रियों पर स्वामित्व के आरोपण का विशेष अवसर नहीं दिया। उत्तरवैदिक युग तक, जब समाज के विभिन्न वर्गों एवं परिवार के विभिन्न सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों एवं उनकी सामाजिक स्थिति स्पष्टतर होने लगी, पुरुषापेक्षी प्रवृत्तियाँ उग्र हो चलीं। इसके पीछे जहां एक ओर समाज में व्याप्त वर्ग संघर्ष, शोषण और अधिकरण की नूतन

---

१. शत० ब्रा० १४.१.१.१३
२. शत० ब्रा० १.१.४.१३
३. शत० ब्रा० ४.३.१.८५, पत्नीकर्मैव एतेऽत्र कुर्वन्ति यदुद्गातरः।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

प्रक्रिया का परोक्ष प्रभाव था वहीं कतिपय अनार्य जनों के मातृमूलक-समाज के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली प्रतिक्रिया भी थी।

स्त्रियों को धार्मिक जीवन से बहिष्करण के प्रयास के कारण अधिकांशतः परिस्थितिक थे। वर्णव्यवस्था के विकास एवं पुरोहित वर्ग के प्रभावक्षेत्र में विस्तार के कारण यज्ञों का स्वरूप वामन के शरीर की भांति बढ़ने लगा। याज्ञिक प्रक्रियाएँ उत्तरोत्तर जटिल और आडम्बरपूर्ण होने लगीं। यज्ञ की छोटी क्रियाओं के लिए विस्तृत विधियां निर्धारित की जाने लगीं। पहले पति पत्नी द्वारा किया जाने वाला साधारण कृत्य अब होता उद्गाता अध्वर्यु ब्रह्मा आदि अनेक पुरोहितों की सहायता से होने लगा। वैदिक मंत्रों के उच्चारण में लेशमात्र भी त्रुटि अनिष्टकर मानी जाने लगी।[१] फलतः कम पढ़ी-लिखी स्त्रियों के लिए यज्ञ में भाग लेना कठिन हो गया। दूसरे पुरोहितों ने पत्नी द्वारा सम्पादित होने वाले अनेक कृत्यों को स्वयं करना प्रारम्भ किया जिससे स्त्रियों का यज्ञों में सहयोग क्रमशः कम होने लगा। विशेषतः पुरोहितों द्वारा किए गए इस परिवर्तन पर आक्षेप करने में स्त्रियां समर्थ भी नहीं थीं। इस नैराश्य से प्रभावित होकर उपनिषद काल तक अनेक स्त्रियों ने ब्रह्मज्ञान को अपनी बौद्धिक एवं अध्यात्मिक जिज्ञासा का केन्द्र बनाया।

इसी प्रकार आर्यों का अनार्या स्त्रियों से विवाह भी पत्नी को यज्ञाधिकार से बहिष्कृत करने का एक प्रमुख कारण बना। यद्यपि शूद्रा अथवा अनार्या से विवाह हतोत्साहित किये जाते थे तथापि आर्य परिवारों में शूद्र स्त्रियां विवाहिता वधू अथवा रखेल के रूप में आती रहीं। आर्यों की अनार्य पत्नियों का उल्लेख धर्मसूत्रों के काल तक मिलता है। बशिष्ठ धर्मसूत्र[२] कृष्णवर्णा स्त्री को धर्म के लिए उपयुक्त न मानकर केवल रमण के लिए उपयुक्त मानता है। वैदिक कर्मकाण्डों से अपरिचित होने के कारण स्वभावतः अनार्या पत्नियां अनुष्ठानों में अधिक भूल कर सकती थीं। अतः यज्ञों की पवित्रता की रक्षा के लिए तथा अभीप्सित फल की प्राप्ति के लिए ऐसी स्त्रियों से याज्ञिक अधिकार छीनना वांछनीय समझा गया। किन्तु कालान्तर में इन शूद्राओं के दुर्भाग्य की छाया उनकी आर्या सपत्नियों पर भी पड़ने लगी तथा नारी मात्र को धार्मिक दृष्टि से अपवित्र समझा जाने लगा।

---

१. पाणिनि शिक्षा ५२
२. बशिष्ठ धर्मसूत्र १८, १७

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

धार्मिक दृष्टि से स्त्रियों को अपवित्र घोषित करने के लिए उनकी दुर्बलताओं का आश्रय लेना आवश्यक था। इसीलिए स्त्रियों की अपवित्रता का प्रमुख कारण मासिक-धर्म बताया गया। रजस्वला नारी की अपवित्रता का संकेत हमें सर्वप्रथम तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में मिलता है। तैत्तिरीय संहिता (२.५.१) के अनुसार 'उस समय स्त्री मलिन वस्त्रों वाली होती है। ऐसी स्त्री के साथ न बोलना चाहिए न बैठना। उनका अन्न भी ग्रहण नहीं करना चाहि। ऐसी स्थिति में यह स्वभाविक था कि पत्नी को यज्ञ कार्य से भी पृथक् किय जाता। तैत्तिरीय ब्राह्मण उस पुरुष को भाग्यहीन बतलाता है जिसकी पत्नी उसे यज्ञ के समय रजस्वला होने कारण प्राप्त नहीं होती[१] क्योंकि पत्नी के अभाव में आधा यज्ञ नष्ट हो जाता है। प्रारम्भ में केवल रजस्वला स्त्रियां अपवित्र समझी जाती रही होंगी किन्तु बाद में प्रतिमास होने वाले इस दूषण के कारण उन्हें स्थायी रूप से अपवित्र और अमेध्य मान लिया गया। शतपथ ब्राह्मण इसीलिए स्त्री के नाभि के नीचे वाले भाग को स्थायी रूप से अमेध्य बतलाता है[२] मासिक धर्म से उत्पन्न होने वाले अशौच और कुप्रभाव को विश्व की अनेक प्राचीन एवं आधुनिक जातियों ने स्वीकार किया है।[३] फ्रेजर महोदय के अनुसार इस अवस्था में स्त्री की अपवित्रता का कारण आदिम जातियों का यह विश्वास रहा है कि जीवन-शक्ति रक्त में रहती है[४] इसलिए रजस्वला स्त्रियां रक्तस्राव के कारण दुर्बल हो जाती है। अत: उनका स्पर्श करने वाला पुरुष भी दुर्बल और रुग्ण हो जायगा।

उत्तरवैदिक युग में विधवाएं तिरस्कृत और उपेक्षित नहीं थीं। सती प्रथा के प्रचलन के चिह्न हमें इस युग में नहीं मिलते। सम्भवत: भारत में प्रवेश करने के पूर्व आर्यों में भी सती-प्रथा का प्रचलन था परन्तु ऋग्वेद और अवेस्ता के सामूहिक साक्ष्य के आधार पर यह सिद्ध होता है कि आर्य हिन्दू इरानी युग में ही इस प्रथा का त्याग कर चुके थे। वैदिक आर्यों में सती प्रथा के निषेध का कारण नितान्त व्यवहारिक प्रतीत होता

वैधव्य

---

१. तै० ब्रा० ३. ७. १
२. शत० ब्रा० १.३,१.१३, ५.२.१.१८
३. फ्रेज़र, गोल्डेन बाउ १. पृ० २२६–२७, हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० १३५
४. वही, २, पृ० २४०

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

है। अपने को सामरिक दृष्टि से अधिक सशक्त करने के लिए तथा वंशविस्तार के लिए उन्होंने प्रजनन कार्य में समर्थ विधवाओं को मृयु की विभीषिका से निकाल कर नवजीवन के प्रकाश में खड़ा किया तथा उन्हें पुनः समृद्ध और सन्तानयुक्त जीवन व्यतीत करने की सुविधा दी।[१] तैत्तिरीय आरण्यक में विधवा स्त्री का अपने पति के हाथों से उसकी धनुष आदि प्रिय वस्तुओं को लेकर गृहप्रत्यागमन तथा उसके आगामी जीवन में सुख समृद्धि की कामना का उल्लेख है।[२] ऋ० १०.१८.८ तथा उत्तरवैदिक साहित्य के प्रस्तुत प्रसंग इस बात का संकेत करते हैं कि वैदिक युग में वे पति के शव के पार्श्व में लेटती थीं तत्पश्चात् पुनः उन्हें जीवलोक में लौट आने का संदेश दिया जाताथा। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के अनुसार विधवा स्त्री को देवर, मृत पति का शिष्य अथवा कोई विश्वस्त वृद्ध दास श्मशान से घर लाता था।[३] समस्त सूत्र साहित्य मनुष्य के जन्म से मृत्यु तक विभिन्न संस्कारों का वर्णन करता हुआ भी सती प्रथा के विषय में सर्वथा मौन है।

पुनर्विवाह तथा नियोग

पूर्व वैदिक युग की भांति उत्तरवैदिक युग में भी विधवा विवाह प्रचलित थे। अथर्ववेद में एक स्थान पर पंचौदन क्रिया के द्वारा पत्नी और उसके द्वितीय पति में अपार्थक्य और अभिन्नता उत्पन्न करने की योजना है।[४] तैत्तिरीय संहिता ३.२.४.४ में 'देधिषव्य' अथवा विधवा के पुत्र का उल्लेख है। धर्मशास्त्रों में पुनर्भू और पौनर्भव शब्द का स्थान-स्थान पर प्रयोग पुनः विवाह के सूत्रकालपर्यन्त अक्षुण्ण प्रचलन को सिद्ध करता है। महाभारत में भी पति के अभाव में देवर को पति बनाने की व्यवस्था की गई है।[५] गौतम ने देवर के साथ नियोग का प्रतिपादन किया है (गौतम १८.४-८)।

---

१. अथर्ववेद १८, १. १, इयं नारीपतिलोकं वृणानांनिपद्यते उपत्वा मर्त्य मेतम् धर्मम् पुराणमनुपालयन्ती तस्मै प्रजाद्रविणं चेत धत्त।

२. तै० आर० ६.१

३. आप० गृहय० सू० ४.२.१८, तामुत्थापयेद्देवरः पतिस्थानीयोऽन्तेवासी जरद्दासो वा उदीर्ष्व नारि अभिजीवलोकं इति।

४. अथर्व० ९.५.२७-२८ या पूर्वं पतिं वित्वा अथान्यं विन्दते पतिम् पञ्चौदनं च तौ अजं ददतो न नियोजत :। समान लोको भवति पुनर्भुवा अपर : पति :

५. महा० १३.१२.१९ नारी तु पत्यभावे देवरं कुणुतेपतिं।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

वैदिक साहित्य के साक्ष्यों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि विधवा का पुनर्विवाह अथवा नियोग उसके देवर के ही साथ होता था। जब हम ऋग्वेद में नवपरिणीता वधू को दिए गए आशीर्वाद 'देवृकामा भव', ऋग्वेद (१०.४.२.२) में उल्लिखित शैय्यारूढ़ विधवा के पास पहुँचते देवर, एवं यास्क द्वारा दी गई देवर शब्द की व्युत्पत्ति पर सामूहिक रूप से विचार करते हैं तो यह निष्कर्ष अपरिहार्य हो जाता है कि विधवाओं का पुनर्विवाह प्रायः पति के भ्राता के साथ ही होता था। महाभारत के अनुसार पाण्डु और धृतराष्ट्र के जन्म के लिए सत्यवती ने जब अपने पुत्रवधुओं के नियोग की व्यवस्था की थी, उसके लिए उसने अपने ही पुत्र व्यासद्वैपायन को निमंत्रित किया था। देवर से साथ पुनर्विवाह और नियोग की प्रथा विश्व की अन्य जातियों में भी प्रचलित थी। प्राचीन काल में यहूदियों में इस प्रथा का प्रचलन था। ओल्ड टेस्टामेण्ट में इसका उल्लेख हुआ है।[१]

---

१. पोज़ीशन आव वीमेन इन हिन्दू सिविलिज़ेशन, पृ० १४३

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

समाज और राज्य

उत्तर वैदिक युग में आदर्शों के उन्मेष तथा सामाजिक संस्थाओं की व्यवस्था के साथ ही राज्य के संघटन में भी विकास दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि उस युग में प्रायः जनराज्यों की ही परम्परा थी। यदु, पुरु, दृह्यु, भरत आदि जिन जनों का उल्लेख इस ग्रन्थ में हुआ है उनका कोई निश्चित भूप्रदेश नहीं था। भ्रमणशील कबीलों के साथ ही उनके राज्य भी बदलते रहते थे। कबीली जीवन के ये संस्कार उत्तर-वैदिक युग तक भी पूर्णतः समाप्त नहीं हुए थे। शतपथ ब्राह्मण (४.१.५.२) से ज्ञात होता है कि एक ग्राम अपने नेता शर्यात मानव के नेतृत्व में इधर-उधर घूमा करता था। इससे स्पष्ट है कि उत्तर-वैदिक युग में भी आर्यों के कुछ समूह अस्थायी जीवन व्यतीत कर रहे थे। प्रादेशिक (Territorial) राज्यों की स्थापना के पश्चात् भी जन-राज्यों की परम्परा का प्रभाव पूर्णतः नष्ट नहीं हो पाया था। राजसूय यज्ञ के 'देवषु-हविषी' नामक अनुष्ठान में राजा के लिए जान राज्य की भी कामना की गई है।[१] यद्यपि विद्वानों ने जान-राज्य के विविध अर्थ किये हैं[२] तथापि इस शब्द को पूर्व-वैदिक युगीन जन-राज्यों का संकेत मानना ही अधिक युक्तिसंगत होगा। सम्भवतः जान-राज्य के माध्यम से यह इच्छा व्यक्त की जाती थी कि राजा अपने जन का शासक बने।[३] ब्राह्मण साहित्य में वर्णित राजसूय यज्ञ के प्रसंग में ऐसे अनेक अनुष्ठानों का विधान है जिनका स्वरूप पूर्णतया आदिम है।[४] इन्हीं को दृष्टि में रखते हुये घोषाल महोदय ने यहाँ तक कहा है कि उत्तर-वैदिक युग का राज-तंत्र अंशतः कबीली अवस्था में था।[५]

---

१. वाज० सं० ९.४०, मै० सं० २.६.६, मै० सं० १.८.१०, का० सं० १५.५

२. द्र०, यू० एन० घोषाल, स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३१०

३. रामशरन शर्मा, आस्पेक्ट्स आव पोलिटिकल आइडियाज़ एण्ड इंस्टीट्यूशन्स पृ० १२०

४. वही पुस्तक, पृ० ११९–१२९

५. घोषाल, हिस्टीरियोग्रैफी एण्ड अदर एसेज़, पृ० २८९

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

सामान्यतः उत्तर-वैदिक युग तक स्थायी प्रादेशिक-राज्यों की स्थापना हो चुकी थी और पूर्व-वैदिक युग के अधिकांश जन जनपदों का रूप ग्रहण कर चुके थे।[१] उनके राजा अब राष्ट्र अर्थात् प्रदेश के भी स्वामी समझे जाने लगे थे।[२] उत्तर-वैदिक साहित्य में एकराट् का राज्य-क्षेत्र ससागर पृथ्वी बताया गया है जिससे प्रादेशिक राज्यों का पूर्ण विकास प्रमाणित होता है।[३] इस युग के राजा विश के साथ ही राष्ट्र पर भी प्रभुता स्थापित करने के लिए चिन्तित थे, ऐसा संकेत तैत्तिरीय संहिता में एक अनुष्ठान का महत्व समझाते हुए किया गया है।[४] प्रादेशिक राज्यों की स्थापना के परिणामस्वरूप साम्राज्यवादी मनोवृत्ति में वृद्धि हुई। सार्वभौम पद की प्राप्ति के लिए तथा सागर-वेष्टित वसुधा का एकमात्र स्वामी बनने के लिये राजाओं ने वैदिक कर्मकाण्डों का आश्रय लिया। अश्वमेघ, वाजपेय और ऐन्द्रमहाभिषेक जैसे यज्ञों की लोकप्रियता में वृद्धि हुई। ब्राह्मण ग्रन्थों में कुरु पंचाल, कोशल और मत्स्य के ऐसे अनेक राजाओं का उल्लेख है जिन्होंने अश्वमेघ तथा ऐन्द्र महाभिषेक के द्वारा सार्वभौम प्राप्त किया। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जनमेजय, भीम सेन श्रुतसेन तथा भरत व सत्रजित-शतानीक आदि बारह राजाओ ने अश्वमेघ द्वारा सार्वभौम पद प्राप्त किया था। सम्राट् पद की प्राप्ति के लिये सम्भवतः वाजपेय यज्ञ भी किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वाजपेय से सम्राट् बनता है। राज्य हीन है और साम्राज्य श्रेष्ठ।[५] सम्राट् की वास्तविक स्थिति का ज्ञान तो हमें नहीं है किन्तु इतना स्पष्ट है कि वह राजा से श्रेष्ठ समझा जाता था। राजा लोग सम्राट् पद की कामना करते थे। वैदिक राज्य होमर युगीन यूनानी राज्यों की भांति ही आकार में छोटे रहे होंगे किन्तु फिर भी सम्राट् का राज्य-क्षेत्र अवश्य कुछ विस्तृत रहा होगा। ऐतरेय ब्राह्मण (७.३) के अनुसार प्राच्य देश के शासकों का अभिषेक साम्राज्य पद के लिये होता था।[६] शतपथ ब्राह्मण में विदेह-

स्थायी प्रादेशिक राज्यों की स्थापना

---

१. ऐत० ब्रा० ८.३. १४
२. अथर्व० ३.४.२, वर्ष्मन राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व तै० सं० २.३.३–४
३. ऐत० ब्रा० ८.१६, हिन्दू सभ्यता, पृ० १००
४. तै० सं० २.३.१,—उभे एव विशं चराष्ट्रं चावगच्छति।
५. शत० ब्रा० ५.२.१.१३।
६. ऐत० ब्रा० ७.३.१४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

राज जनक को, जो निश्चय ही प्राच्य-देशीय नरेश थे सम्राट कहा गया है।[१] राजसूय के अवसर पर राजा धनुष-बाण लेकर चारों दिशाओं की प्रतीकात्मक विजय के माध्यम से अपने दिग्विजय की कामना की अभिव्यक्त करता था। उत्तर-वैदिक समाज में यह धारणा प्रबल हो चुकी थी कि यज्ञों के सम्पादक से यजमान को अभीप्सित फल की प्राप्ति होती है।[२] ऐतरेय ब्राह्मण में ऐन्द्र महाभिषेक के महत्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति समुद्र-पर्यन्त वसुधा का एकराट् होना चाहे वह ऐन्द्र-महाभिषेक द्वारा अभिषिक्त हो।[३] ऐसी स्थिति में यह प्रतीत होता है कि बहुधा राजे विशेष राजनैतिक सफलताओं के अभाव में भी इन विशिष्ट यज्ञों के सम्पादन से ही सम्राट, एकराट् तथा सार्वभौम पद के अधिकारी मान लिये जाते थे। इस दृष्टि से जनक जैसे राजाओं का सम्राट होना आपत्तिहीन भी प्रतीत होता होता है, क्योंकि उनके द्वारा किये गये किसी दिग्विजय का उल्लेख परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में नहीं मिलता।

शासन-पद्धतियाँ

इस युग में विभिन्न प्रकार की शासन पद्धतियों का प्रचलन मिलता है। हम जानते हैं कि पूर्व-वैदिक युग के जन-राज्यों की स्थिति शासन-व्यवस्था की दृष्टि से बहुमुखी प्रयोग के लिये विशेष अनुकूल नहीं थी। सुव्यवस्थित शासन-पद्धतियों का विकास तो स्थायी-प्रादेशिक-राज्यों में ही सम्भव था। ऋग्वेद और अथर्ववेद के अध्ययन ने शासन-व्यवस्था में राजतन्त्र और जनतन्त्र का मिश्रित स्वरूप दिखाई देता है। किन्तु यजुर्वेद की संहिताओं एवं ब्राह्मणों से इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि उत्तर वैदिक युग में अनेक प्रकार की शासन-पद्धतियाँ व्यवहृत होने लगी थीं। ऐतरेय ब्राह्मण में साम्राज्य, राज्य, स्वाराज्य, भौज्य और वैराज्य नाम की पाँच शासन-प्रणालियों का उल्लेख हुआ है।[४] इनमें से प्रथम दो तो निश्चित रूप से राजतन्त्र के ही विभेद है जिसका प्रचलन क्रमशः प्राच्य देश और मध्यदेश में था। उत्तर वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणों के अधिकांश की रचना मध्यदेश में हुई।

---

१. शत० ब्रा० ११.३.१.२–६

२. देखिये पंच० ब्रा० २०.१२.४, चित्ररथ कापेय द्विरात्र यज्ञ के द्वारा 'एकः क्षत्रपति' हुआ।

३. ऐत० ब्रा० ८.१५

४. ऐत० ब्रा० ७.३.१४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि कुरु पंचाल के शासकों ने हीं राजसूय यज्ञ का सम्पादन भी विशेष रूप से किया था।[१] अतः ब्राह्मणों में वर्णित राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञों के प्रसंग में नृपतंत्रात्मक राज्यों की व्यवस्था का विस्तृत उल्लेख मिलता है। इसके विपरीत अन्य शासन प्रणालियों के सम्बन्ध में प्रामाणिक सामग्री का सर्वथा अभाव है। महाभारत और अर्थशास्त्र के अध्ययन से ज्ञात तथ्यों की पृष्ठभूमि में स्वाराज्य, भौज्य और वैराज्य जनतंत्रात्मक राज्य प्रतीत होते हैं। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि उत्तर-वैदिक युगीन सामाजिक वातावरण जनतंत्रात्मक शासन-पद्धतियों के विकास के लिये विशेष अनुकूल नहीं था। यही कारण है कि वैराज्य स्वाराज्य और भौज्य शासन-प्रणालियाँ वैदिक संस्कृति के केन्द्र मध्यदेश से दूर, विशेषतः आर्य-प्रभाव से मुक्त प्रदेशों में ही प्रचलित हुईं।[२] यहाँ उत्तर-वैदिक युग में हुये उन सामाजिक परिवर्तनों पर भी न्यूनाधिक रूप से विचार करना आवश्यक है।

वर्ण-व्यवस्था के नवोदित प्रभाव के कारण जनसाधारण राजनीति से पृथक् एवं उदासीन हो चले थे। शतपथ ब्राह्मण में यहाँ तक कहा गया है कि ब्राह्मण राजकार्य के लिये व्यर्थ होता है।[३] ऐसी स्थिति में वैश्यों एवं शूद्रों का राजनीति में विशेष प्रवेश निश्चय ही कठिन रहा होगा। राजनैतिक क्षेत्र में राजन्यों का प्रभाव क्रमशः बढ़ता जा रहा था। परिस्थैतिक साक्ष्य इस बात को प्रमाणित करते हैं कि समिति नामक संस्था, जिसे राष्ट्रीय सभा स्वीकार किया गया है[४], ब्राह्मण युग तक लुप्त हो चली थी। ब्राह्मण साहित्य में राजसूय के विस्तृत विवरण में समिति का कोई उल्लेख नहीं है। इससे प्रकट होता है कि उत्तर-वैदिक समाज में राजतन्त्रात्मक शासन पद्धति के विकास के साथ ही जनतंत्रात्मक संस्थाओं का अस्तित्व लुप्तप्राय हो गया।[५] छान्दोग्य उपनिषद में पांचालों की समितिका उल्लेख अवश्य हुआ है, जहाँ विद्वान ब्राह्मणों के साथ उपस्थित उनके राजा प्राव-

---

१. शत० ब्रा० ५.५.२.५

२. द्र० इसी अध्याय के अग्रिम पृष्ठों में।

३. शत० ब्रा० ५.१।१.१२, न वै ब्राह्मणो राज्याय अलं

४. हिन्दू राजतंत्र, भाग १, पृ० १२, एन० सी० वन्दोपाध्याय—डेवलपमेण्ट आव हिंदू पालिटी एण्ड पोलिटिकल थियरी, पृ० ११८

५. द्र० घोषाल, हिन्दू पब्लिक लाइफ, पृ० ११९

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

हण जैवलि ने श्वेतकेतु आरुणेय से पांच प्रश्न पूछे थे।[१] जायसवाल महोदय ने यहाँ भी समिति को ऋग्वेद और अथर्ववेद की समिति की भाँति ही राष्ट्रीय सभा माना है तथा इसमें उपस्थित लोगों को जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि माना है।[२] उनका यह मत पूर्णतः पूर्वाग्रह-जन्य कल्पना पर आधारित है। क्योंकि इस प्रसंग में समिति शब्द का प्रयोग राज-परिषद के अर्थ में हुआ प्रतीत होता है। वृहदारण्यक उपनिषद (६.२.१) में भी श्वेतकेतु सम्बन्धी इस घटना का उल्लेख हुआ है। किन्तु इस प्रसंग में समिति की जगह पांचालों की परिषद का उल्लेख है। इन दोनों प्रसंगों की अतिशय समानता को देखते हुये यह प्रतीत होता है कि समिति और परिषद दोनों शब्दों का प्रयोग एक अर्थ में हुआ है। वृहदारण्यक उपनिषद से यह भी ज्ञात होता है कि वहाँ भृत्य गण राजा की सेवा में तत्पर थे। इस प्रसंग में समिति द्वारा होनेवाले किसी सार्वजनिक कार्य का कोई संकेत नहीं है। उत्तर-वैदिक संस्कृति के केन्द्र कुरु-पंचाल में यदि समिति नामक जन-सभा (Popular assembly) जीवित होती तो ब्राह्मण साहित्य उसके विषय में बिल्कुल मौन कदापि नहीं होता। सूत्र साहित्य तो समिति के नाम से भी अपरिचित है।

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार वैराज्य शासन प्रणाली का प्रचलन हिमालय से समीपवर्ती प्रवेश उत्तर-कुरु और उत्तर-मद्र में था।[३] जिमर महोदयने उत्तर कुरु की एकता कश्मीर से स्थापित की है जो असम्भव नहीं प्रतीत होता।[४] मैक्डानेल और कीथ ने वैराज्य को राजतन्त्र का ही एक रूप माना है।[५] किन्तु वैराज्य शब्द का सम्बन्ध राजतन्त्र से जोड़ना असंगत प्रतीत होता है। क्योंकि इस प्रसंग में वैराज्य शब्द का प्रयोग जनपद के लिये हुआ है न कि राजा के लिये।। काशी प्रसाद जायसवाल और रमेशचन्द्र मजुमदार ने वैराज्य को जनतंत्र माना है।[६] श्री जायसवाल ये अपने मत को सतर्क प्रस्तुत करने

---

१. छान्दोग्य ५.३
२. हिन्दू राजतन्त्र, भाग १, पृ० १३
३. "ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा इति वैराज्यायतेऽभिषिच्यन्ते। विराडिति तेनाभिषिक्तानाचक्षते।" ऐत० ब्रा० ७.३.१४
४. जिमर—कारपोरेट लाइफ, पृ० २१६ पर उद्धृत, वैदिक इण्डेक्स १, ८४
५. वैदिक इण्डेक्स, २. २२१
६. हिन्दू राजतंत्र १, १२४, कारपोरेट लाइफ, पृ० २१६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

का प्रयास किया है किन्तु उनका यह मत अन्य ज्ञात तथ्यों के अविरुद्ध नहीं है। उन्होंने वैराज्य का अर्थ 'राजा-विहीन' शासन प्रणाली किया है किन्तु इसका शाब्दिक अर्थ केवल 'राजा-विहीन' होगा। ऐसी स्थिति में वैराज्य जनतंत्र का भी बोधक हो सकता है और अराजक स्थिति का भी। अथर्ववेद में स्पष्टतया 'विराड' शब्द का प्रयोग अराजक स्थिति के लिये हुआ है।[१] फिर वैदिक साहित्य के ही एक अंग ऐतरेय ब्राह्मण में विराड का अर्थ एकमात्र कल्पना के सहारे जनतंत्र करना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। सम्भवतः उत्तर-कुरु जैसे सुदूरस्थ पर्वतीय प्रदेशों में वैदिक संस्कृति का प्रभाव अपेक्षाकृत देर से पड़ा। महाभारत इस बात की सूचना देता है कि उत्तर कुरु नामक प्रदेश में दीर्घकाल तक विवाह की मर्यादा नहीं स्थापित हो सकी थी।[२] इसका तात्पर्य है कि परिवार नामक संस्था, जो वैदिक समाज में पूर्णतः स्थिर हो चुकी थी, यहां बहुत बाद में व्यवस्थित हुई। हम जानते हैं कि परिवार और व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना का राज्य के विकास में अनिवार्य योग रहा है।[३] सामाजिक-अव्यवस्था की स्थिति में राजनैतिक व्यवस्था की कल्पना निराधार है। असम्भव नहीं है कि अथर्ववेद में वर्णित अराजकता की स्थिति (विराड) उत्तर-कुरु और उत्तर-मद्र में काफी समय तक बनी रही हो। इस अराजक स्थिति में सार्वजनिक समस्याओं पर जनता ही विचार करती होगी। इसलिये सम्भवतः ऐतरेय ब्राह्मण में वैराज्य के लिये सम्पूर्ण जनपद के अभिषेक की बात कही गई है। कौटिल्य ने भी वैराज्य में जनता के विचारों की प्रधानता (प्रकृति-चित्त-ग्रहणापेक्षि) को स्वीकार किया है किन्तु साथ ही उन्होंने जनता की उदासीनता, अनुत्तरदायित्व और असुरक्षित स्थिति का भी उल्लेख किया है।[४] इससे स्पष्ट है कि वैराज्य एक ऐसी स्थिति थी जिसमें राजशक्ति के अभाव में जनता के विचारों की प्रधानता

---

१. अथर्व० ८. १०. १, विराड वा इदमग्रमासीत तस्या जातायाः सर्वमविभेदेयमेवेदं भविष्यति।

२ यत्र नार्यः कामचारा भवन्ति। १२. १०२, २६ (वाम्बे सस्करण)

३. राकहिल—दि लाइफ आफ बुद्ध, पृ० ४-७

४. अर्थशास्त्र ८.२, वैराज्यन्तु प्रकृतिचित्त ग्रहणापेक्षि यथास्थितमन्यैर्भुज्यत इत्याचार्याः। नेति कौटिल्यः। वैराज्ये तु जीवतः परस्पराच्छिद्य नेतन्ममेति मन्यमानः कर्षयत्यपवाहयति। पण्यं वा करोति। विरक्तं वा परित्यज्यापगच्छतीति।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

रही होगी, किन्तु साथ ही राजनैतिक संगठन की चेतना का अभाव रहा होगा। ऐसी दशा में उत्तर-वैदिक युगीन वैराज्य को सुविकसित एवं संगठित प्रजातन्त्र न मानकर अराजक-स्थिति मानना ही अधिक युक्तिसंगत एवं ज्ञात तथ्यों के अनुकूल होगा।

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार स्वाराज्य शासन-प्रणाली का प्रचलन प्रतीची-दिशा (पश्चिम) के नीच्यों और अपाच्यों में था।[१] कुछ विद्वानों ने नीच्यों को सिन्ध नदी के मुहाने के समीप रखने का प्रयास किया है तथा अपाच्यों को उनका पड़ोसी माना है।[२] उत्तर-वैदिक युग की भौगोलिक परिधि इस बात को प्रमाणित करती है कि पंजाब से दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़ते हुये वैदिक-जन पश्चिमीय भारत के उपनिवेशीकरण के प्रति उदासीन रहे। इससे स्पष्ट है कि इस युग तक पश्चिमी भारत का अधिकांश वैदिक संस्कृति के प्रभाव-क्षेत्र के बाहिर था। इसके विपरीत इस क्षेत्र मे अनार्य सैन्धव संस्कृति का अस्तित्व दीर्घ काल तक कायम रहा। रंगपुर और लोथल के उत्खनन से प्राप्त अवशेषों से यह प्रमाणित है कि सैन्धव-संस्कृति की परम्परायें पंजाब और सिन्ध में विनष्ट होने के पश्चात् भी पश्चिम में गुजरात और काठियावाड़ तक वैदिक संस्कृत के विकास-काल में भी जीवित रहीं। परिस्थैतिक-साक्ष्यों को ध्यान में रखते हुये पश्चिमीय प्रदेशों में प्रचलित स्वाराज्य शासन-पद्धति को सैन्धव-सांस्कृतिक परम्पराओं से सम्बन्धित करना सर्वथा स्वाभाविक होगा। स्वराट वे थे जिनकी स्थिति समानों में ज्येष्ठ की थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण में स्वाराज्य का अर्थ समान लोगों का नेता होना या ज्येष्ठ्य प्राप्त करना बतलाया गया है।[३] स्वराट शासक की स्थिति गण या संघ के सभापति की थी। महाभारत से यह ज्ञात होता है कि गणों के शासन में कतिपय कुलीन परिवारों का ही हाथ था जिनकी स्थितिसमान मानी जाती थी।[४] इस प्रकार स्वाराज्य एक कुलीन तंत्रात्मक-शासन-पद्धति प्रतीत होती है। इस प्रकार की शासन-पद्धति बौद्ध युग में लिच्छवियों में प्रचलितथी।

---

१. सायण ने नीच्य और अपाच्य शब्दों का प्रयोग कुत्सित अर्थ में माना है।
२. हिन्दू पालिटी, पृ० ८१।
३. तै० ब्रा० १.३.२.२२, य एवं विद्वान वाजपेयेन यजति गच्छति स्वाराज्यम्, अग्रं समानानापर्योति, तिष्ठन्ते = स्मे ज्येष्ठ्याय
४. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय १०१, श्लोक ६,
जात्या च सदृशाः सर्वे कुजे सदृशास्तथा

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

उत्तर-वैदिक युग में विदेह में राजतंत्र का प्रचलन था किन्तु बौद्ध युग तक हम यहां गणतंत्र का आकस्मिक विकास देखते हैं। सम्भव है कि इस परिवर्तन के पीछेभी सैन्धव संस्कृति का प्रभाव रहा हो। इस अनुमान के लिये कोई प्रबल आधार तो नहीं है। किन्तु पुरातात्विक साक्ष्यों का सांकेतिक समर्थन अवश्य प्राप्त है। एक तरफ जहां स्वाराज्य शासन-प्रणाली और लिच्छवियों की शासन-प्रणाली में समानता मिलती है वहीं दूसरी ओर मोए नजोदड़ों से प्राप्त विशाल भवन एवं स्नानागार वैशाली के संथागार और अभिषेक पुष्करिणी की याद दिलाते हैं। सैन्धव-संस्कृति के प्रभाव का सुदूर पूर्व में वैशाली तक पहुँचना असम्भव अवश्य प्रतीत होगा किन्तु उनकी भौतिक परम्पराओं का प्रभाव निश्चित रूप से कौशाम्बी तक दृष्टिगोचर होता है।[१] ऐसी स्थिति में इस प्रभाव का वैशाली तक पहुँचना असम्भाव्य नहीं है। दक्षिणा त्यों में प्रचलित भौज्य शासन-पद्धति भी स्वाराज्य से मिलती जुलती गणतंत्रात्मक व्यवस्था थी। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार भौज्य शासन प्रणाली सत्वत (यादवों का ही पुराना नाम) लोगों में प्रचलित थी। जायसवाल महोदय ने गुजरात को भौज्य लोगों का प्राचीनतम निवास-स्थान माना है।[२] भोज आज भी काठियावाड़ के एक देशी रियासत का नाम है। इससे प्रतीत होता है कि भौज्य शासन पद्धति का प्रचलन दक्षिण-पश्चिम दिशा में था। ऐतरेय ब्राह्मण के लेखक के लिये गुजरात को दक्षिण मानना अस्वाभाविक नहीं है। सम्भवतः भौज्य वे शासक थे जो वंशानुगत न होकर एक निश्चित काल के लिये शासक होते थे। भौज्य-शासन एक परिषद की सहायता से चलता था। महाभारत परिषद में होने वाले उग्र वाद-विवाद एवं सदस्यों की पारस्परिक स्पर्धा की भी सूचना देता है।[३] महाभारत से ज्ञात होता हैं कि वासुदेव कृष्ण ऐसे ही भोज्य संघ के प्रमुख थे जिसका संगठन अंधक, वृष्णि, यादव, कुकुर और भोज ने स्वयं को मिलाकर किया था।[४] उत्तर-वैदिक युग में सम्भवतः वीतहव्यों में भी भोज्य शासन-प्रणाली का ही प्रचलन था। अथर्ववेद में वीतहव्यों के सहस्त्रों की संख्या में शासन

---

१. जी० आर० शर्मा, एक्सकेवेसन्स एट कौशाम्बी, पृ० ६
२. हिन्दू पालिटी, पृ० ८०
३. शान्तिपर्व ८१.७-११
४. यादवा : कुकुरा : भोजा : सर्वेचान्धकवृष्णयः
त्वय्यायत्ता महाबाहो लोका लोकेश्वराश्चये। शान्तिपर्व ८१.२९

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

करने का उल्लेख है[१] जिससे उनकी गणतंत्रात्मक शासन-प्रणाली प्रमाणित होती है। इन वीतहव्यों का सम्बन्ध हैहयों से था जो यादवों की ही एक शाखा थे।[२] यादवों में भोज्य शासन प्रणाली का प्रचलन अप्रत्याख्येय है। भोज्य-शासन पद्धति भी अधिकांशतः वैदिक संस्कृति से अप्रभावित प्रदेशों में प्रचलित होने के कारण तथा स्वाराज्य से मिलती-जुलती होने के कारण अनार्य शासन पद्धति ही प्रतीत होती है। इस प्रसंग में यह बतलाना भी उचित होगा कि सहस्त्रों की संख्या में शासन करने वाले वीतहव्य घोर ब्राह्मण-विरोधी थे। अथर्ववेद में ब्राह्मणों के विरोध और शाप के कारण इनके विनाश की बात भी कही गई है।

राजतन्त्र

राजतंत्रात्मक शासन-पद्धति ही उत्तर-वैदिक युग की सामान्य तथा लोकप्रिय व्यवस्था थी। इस युग के राजाओं ने वैदिक कर्मकांडों में विशेष अभिरुचि दिखाई। राजनैतिक महत्व के विविध यज्ञों के प्रसंग में राजाओं की महत्वकांक्षा, उनके अधिकार और कर्तव्य आदि का सांकेतिक उल्लेख भी हुआ है। ज्ञात तथ्यों के आधार पर यहां तक कहा जा सकता है कि राजतंत्रात्मकशासन-व्यवस्था के माध्यम से उत्तर-वैदिक काल में सर्वप्रथम राजा की अपेक्षाकृत अनियंत्रित सत्ता का विकास तथा जनता के शोषण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। राजा की शक्ति केवल दैवी विधि-नियम द्वारा सीमित थी।[३]

आनुवंशिक राजपद

इस बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त प्रमाण हैं कि प्रारम्भ में राजा के निर्वाचन की ही प्रथा सम्मान्य थी। ऋग्वेद में तो राजा के निर्वाचन का उल्लेख मिलता ही है, अथर्ववेद में भी विश द्वारा राजा के वरण की कामना की गई है।[४] किन्तु निर्वाचन की यह प्रथा उत्तर-वैदिक युग तक राज-शक्ति में वृद्धि, राज्य की विशालता तथा जनता की उदासीनता के कारण

१. अथर्व० ५.१८.१०, ये सहस्रं अराजन्नासन् दश शता उत ते ब्राह्मणस्य गां जग्धा वैतहव्या पराभवन्

२. डा० राजबली पाण्डेय का लेख, 'इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस १९५२, भाग १, पृ० ७९-८५

३. वन्दोपाध्याय, डेवलपमेण्ट आव हिन्दू पालिटी एण्ड पोलिटिकल थियरी, पृ० १२५

४. अथर्ववेद ३, ४. २ 'त्वां विशो वृणुतां राज्याय'।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

धीरे-धीरे अव्यावहारिक हो चली थी। एतरेय ब्राह्मण (८.१२.५, १७.५) के अनुसार राजा को राजसूय के अवसर पर राज-पितृ भी कहा जाता था[१] जिसका तात्पर्य है 'भावी राजा के पिता'। इस विरुद से राजपद का आनुवंशिक होना प्रमाणित होता है। शतपथ ब्राह्मण में दश पीढ़ियों से शासित राज्यों का उल्लेख है।[२] कुरु जनपद में भी वंशानुगत शासन की परम्परा थी। इससे प्रतीत होता है कि इस युग में नृपतन्त्र सामान्यतः वंशानुगत था। वर्ण-व्यवस्था के विकास के कारण विविध वर्ण एवं व्यवसाय वंशानुगत हो गये थे। पैत्रिक या वंशानुगत व्यवसाय को ग्रहण करना ही धर्म समझा जाने लगा था। उत्तर-वैदिक युग में एक भी विश्वामित्र अथवा देवापि न हो सका जो पैत्रिक व्यवसाय का त्यागकर स्वतन्त्रतापूर्वक पौरोहित्य कर सके। ऐसी स्थिति में राजपद का आनुवंशिक होना सामाजिक व्यवस्थापन के अनुकूल भी था। राजा अब विश द्वारा निर्वाचित होने वाला जन का नेता नहीं था। वह स्वयं अब 'विशामत्ता' (विश का भक्षक) बन चुका था।[३] अब राजा को अपनी स्थिति दृढ़ करने के लिये राजन्यों एवं अन्य सजात राजपुत्रों की सहायता अपेक्षित थी। ये सजात राजपुत्र अक्सर प्रतिस्पर्धा से युक्त होने के कारण राजा के लिए विपत्ति हो जाते थे। भ्रातृव्य शब्द का शत्रुवाची अर्थ इसका संकेत करता है। हम जानते हैं कि महाभारत युद्ध के पीछे भ्रातृव्यों का संघर्ष ही था। सम्भवतः इन्हीं सजात राजपुत्रों को दृष्टि में रखते हुये राजा के लिए 'असपत्न' होने की कामना की गई है।[४] शतपथ ब्राह्मण मे यह भी कहा गया है कि राजा वही हो सकता है, जिसे राजा लोग स्वीकार करें, दूसरा नहीं हो सकता।[५] यहाँ राजानः राजन्य का पर्यायवाची प्रतीत होता है जिनका समर्थन राजा को अपनी स्थिति सुरक्षित करने के लिये अनिवार्य था। अथर्ववेद के एक मन्त्र के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि बहुधा कतिपय कारणों से प्रजा ही राजा को निर्वासित भी कर सकती थी तथा यदि जनता उसे पुनः राजपद पर प्रतिष्ठित करना चाहे तो

---

१. ऐत० ना० ८.१२ राजानं राजपितरं।
२. शत० ब्रा० १२. ६. ३. ३
३. ऐत० ब्रा० ३८ और ३९.३
४. यजुर्वेद ९.४०
५. शत० ब्रा० ९.३.४.५ यस्मै वा राजानो राज्यमनुमन्यते स राजा भवति नसयस्मै न।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

उसे वापस भी बुलाया जा सकता था।[१] किन्तु इस प्रसंग में न तो जनता द्वारा निर्वासन का ही कोई संकेत है और न तो जनता द्वारा उसके पुनः राजपद पर प्रतिष्ठित होने का ही। उक्त मन्त्र में यह कहा गया है कि 'वह जो अन्य क्षेत्र में अवरुद्ध है, वह श्येन द्वारा पराये स्थान से पुनः यहाँ लाया जायगा। अश्विन उसके लिए मार्ग को सुगम कर देंगे। सब सजात उसके चारों ओर एकत्र होंगे'। सायणाचार्य के भाष्य से स्पष्ट है कि इस मन्त्र में शत्रूत्सादित राजा का उल्लेख है न कि जनता द्वारा निर्वासित राजा का। इस सूक्त में राजा के पुनरागमन तथा राज्यप्राप्ति के पीछे भी सजातों की सहायता का ही संकेत है न कि विश के।

राजशक्ति का विस्तार एवं राजा के विशेषाधिकार

इस युग में राजाओं की शक्ति का चरम उत्कर्ष दिखाई देता है। अथर्ववेद में उसे योद्धाओं में श्रेष्ठ, धनपति और जनता का स्वामी कहा गया हैं।[२] राजसूय के एक अनुष्ठान के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य प्रत्येक राजा के लिये एक गाय छोड़ता है।[३] इसका तात्पर्य यह है कि राजा का प्रभुत्व प्रत्येक वर्ण पर है। उसके क्रोध का आतंक भी क्रमशः बढ़ता जा रहा था।[४] शतपथ ब्राह्मण (५.४.३.२१) में अभिषिक्त राजा के सम्बन्ध में कहा गया है कि "जिसका अभिषेक हो गया है वह अब महान हो गया है पृथ्वी अब उससे भय खाती है।" यहाँ पृथ्वी का भय निश्चित रूप से राष्ट्र का भय है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राजा की सत्ता सर्वकंष हो चुकी थी। वह राज्य के सम्पूर्ण क्रिया-चक्र का केन्द्र समझा जाने लगा था।[५] शतपथ ब्राह्मण (५.२.१.२५) में भी इसी भाव को प्रकट करते हुये कहा गया है कि 'यह तुम्हारा राष्ट्र है, तुम इसके नियामक और धारणकर्ता हो।[६] इस युग में हम राजाओं के व्यक्तित्व में दैवी गुणों एवं विशेषणों का भी आरोप पाते हैं। राजा को

---

१. अथर्व० ३.३.५
२. अथर्व० ४.२२
३. तै० सं० १.८.२६, तै० ब्रा० १.७.१७
४. अथर्व० ६.४७.२ अन्यत्र राज्ञामभियातु मन्युः।
५. क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि। शुक्ल यजुर्वेद २० १
६. इदं ते राट् यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

वरुण के समान धर्मपति कहा गया है। इसके साथ ही इन्द्र की उपाधियां भी राजा को लगाई जाने लगी थीं।[१] राज्याभिषेक के अवसर पर पुरोहित कहता है कि भगवान सविता के ही आदेश से अभिषेक किया जाता है तथा यह अभिषेक मनुष्य द्वारा न होकर पूषन और अश्विनी कुमारों द्वारा ही सम्पन्न होता है। ऐसा विश्वास था कि अभिषेक के समय राजा के शरीर में अग्नि और सविता और वृहस्पति देवता प्रवेश करते हैं। बहु-संख्यक प्रजा द्वारा राजाज्ञा के पालन का एक कारण यह बतलाया गया है कि राजा प्रजापति का प्रत्यक्षरूप है।[२] इस प्रकार आंशिक रूप से राजाओं के देवत्व की कल्पना भी प्रारम्भ हो गयी थी। अथर्ववेद के एक उत्तर-कालीन सूक्त में (२०.१२७.७) राजा परीक्षित को स्पष्ट रूप से मर्त्यों का देवता कहा गया है।

ब्राह्मण युग तक राजा अपने वर्द्धमान प्रभाव के कारण अदंड्य भी समझा जाने लगा था। राजसूय के एक कृत्य के अनुसार पुरोहित एक दंड से बहुत कोमलतम-पूर्वक राजा के पीठ का स्पर्श करता था। श्री काशी प्रसाद जायसवाल के अनुसार इस प्रतीकात्मक अनुष्ठान द्वारा यह सूचित किया जाता था कि राजा न्याय या दंड के ऊपर नहीं बल्कि उसके अधीन हैं।[३] किन्तु शतपथ ब्राह्मण (५.४.४.७.) के अनुसार इसके द्वारा राजा का शरीर दंड-वध से परे हो जाता है।[४] यही आशय कात्यायन श्रौतसूत्र में भी प्रकट किया गया है।[५] इन दोनों उद्धरणों की प्रामाणिकता को दृष्टि में रखने पर यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि इस अनुष्ठान द्वारा पुरोहित न्याय के समक्ष राजा के अदण्ड्य होने की ही घोषणा करता था।[६] राजा का यह न्याय-विषयक विशेषाधिकार उस वातावरण में असम्भव नहीं प्रतीत होता जिसमें वह ऋत के रक्षक वरुण की भाँति साक्षात धर्मपति

---

१. ऐत० ब्रा० ८.२
२. शत० ब्रा० ५.१.५.१४, एष वै प्रजापतेः प्रत्यक्षतमो यद्राजन्यः
३. हिन्दू पालिटी, पृ० २१७
४. शत० ब्रा० ५.४.४.७, अथैनं पृष्ठतः तूष्णीमेव दण्डैर्घ्नन्ति दण्डवधमति-नयन्ति तस्मात राजा दण्ड्यो यदेनं दण्डवधमतिनयन्ति।
५. का० श्रौत० सू० १५.७.६, पाप्मानं ते पहन्मोति त्वां वधम् न यामिति वा।
६. द्र० यू० एन० घोषाल, हिस्टोरियोग्रैफी एण्ड अदर एसेज, पृ० २६६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

समझा जाने लगा था। इस कृत्य को पुरोहित के प्रभुत्व का द्योतक मानना[१] अथवा आदिम परम्परा का अवशेष मानना[२] अनावश्यक कल्पनायें हैं।

इस बढ़ती हुई राजशक्ति का तत्कालीन सामाजिक-व्यवस्था पर प्रबल प्रभाव पड़ा। राजनैतिक प्रभुत्व के कारण क्षत्रियों के गौरव में वृद्धि हुई। ऐतरेय ब्राह्मण में विभिन्न वर्णों तथा राजा के सम्बन्ध का संकेत करते हुए राजा को ब्राह्मण को इच्छानुसार निष्कासित करनेवाला, वैश्य का भक्षक तथा शूद्र का यथाकाम वध करने वाला कहा गया है।[३] विचारणीय है कि इस प्रसंग में राजा का प्रभाव क्षत्रिय वर्ण पर नहीं दिखालाया गया है क्योंकि वह स्वयं क्षत्रियों का ही प्रतिनिधि था। ऐसी स्थिति में उत्तर वैदिक साहित्य में क्षत्रियों की सामाजिक श्रेष्ठता का प्रतिपादन सर्वथा स्वाभाविक है। वृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है कि समाज में सबसे ऊँचा स्थान क्षत्रीय का है, ब्राह्मण का स्थान उसके नीचे है।[४] इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह कहा गया है कि राजा जो चाहता है ब्राह्मण को वही करना पड़ता है।[५] क्षत्रियों की इस वर्धमान प्रभुता तथा समाजिक श्रेष्ठता का विरोध वैश्य और शूद्र तो नहीं कर सके किन्तु धर्म-प्राण प्रजा के पूज्य धर्माधिकारियों में इसकी प्रतिक्रिया अवश्य हुई। ब्राह्मणों ने क्षत्रियों की बढ़ती हुई शक्ति के प्रतिरोध का विशेष प्रयास तो नहीं किया क्योंकि शक्तिशाली राजन्य ब्राह्मण और धर्म दोनों का गोसा समझा जाता था[६] किन्तु उन्होंने क्षत्रियों के समक्ष अपनी श्रेष्ठता को सुरक्षित रखने का भरभूर प्रयत्न किया। राजसूय के प्रकरण में देवपुहविषी नामक अनुष्ठान के प्रसंग में पुरोहित एकत्र लोगों से कहता था 'हे मनुष्यों, यह तुम्हारा राजा है। हम ब्राह्मणों का राजा सोम है।[७] शतपथ ब्राह्मण में इसे स्पष्ट करते हुये कहा

---

१. वेबर, पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक, पृ० २ पर उद्धृत

२. आर० एस० शर्मा एस्पेक्ट्स आव पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, पृ० १२३

३. ऐत० ब्रा० ७. २९

४. तत्स्मात्क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते, १. ४. १०

५. यदा वै राजा कामयते अथ ब्राह्मणं जिजनाति । ३. ९. १४

६. घोषाल—स्टडीज् इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३३७

७. सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा।
वाज० सं० ९. ४० तै० सं० १८, १०, तै० ब्रा० १. ७. ४, आदि

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

है कि ब्राह्मण को पार्थिव नरेश के प्रभाव क्षेत्र से मुक्त करने का तात्पर्य यह है कि राजा को कर ब्राह्मणोत्तर लोगों से ही लेना चाहिये।[१] उत्तर-वैदिक युगीन ब्राह्मणों की यह मान्यता विरल नहीं है। शतपथ ब्राह्मण (१३. ६. २. १८) में स्पष्ट कहा गया है कि राजा अपनी सम्पूर्ण भूमि पुरोहितों को दान में देता है तब उस दान के अन्तर्गत ब्राह्मण की सम्पत्ति नहीं आती। वशिष्ठ ने अपने धर्मशास्त्र (१. ४४) में सम्भवतः इन्हीं वैदिक प्रसंगों के आधार पर यह नियम बना डाला कि राजा को ब्राह्मण पर कर नहीं लगाना चाहिए तथा गौतम धर्मसूत्र में कहा गया कि राजा का शासन ब्राह्मण वर्ग पर नहीं चल सकता।[२] शतपथ के निर्देश तथा उत्तर-वैदिक सामाजिक पृष्ठभूमि को देखते हुये यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि 'राजसूय के अवसर पर पुरोहित द्वारा कहे गये उपर्युक्तवाक्य में राजा को ही सोम (देवता) कहा गया है तथा इस कथन द्वारा राजा की ही श्रेष्ठता व्यक्त की गई है न कि ब्राह्मण की राजसत्ता से मुक्ति'।[३] इतना ही नहीं ब्राह्मण वर्ग ने अपनी सर्वोच्च सामाजिक स्थिति को सुरक्षित रखने के लिये पर्याप्त मनोवैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करने का प्रयास किया। राजन्य राष्ट्र से प्रभु थे। उनके सम्मुख बिना उनकी सहमति के अपनी श्रेष्ठता को स्थिर रखना कठिन था। इसलिये राजा द्वारा ब्राह्मण के समक्ष अपनी हीनता का प्रदर्शन तथा ब्राह्मण की श्रेष्ठता का स्वीकरण ही राजा और राष्ट्र दोनों के अभ्युदय का कारण बतलाया गया। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि जो राजा ब्राह्मण के प्रति नम्रहोता है वही शत्रु के लिये बलशाली सिद्ध होता है।[४] इसी आशय का एक मन्त्र ऋग्वेद में भी मिलता है, जिसमें यह कहा गया है कि जो राजा पुरोहित का यथेष्ट सम्मान करता है वह शत्रुओं पर विजय तथा प्रजा से सम्मान प्राप्त करता है। इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में भी राजा का ब्राह्मण के वशीभूत होना राष्ट्र के लिये समृद्धजनक एवं श्रेयस्कर कहा गया।[५] राज्याभिषेक के अवसर पर राजा तीन

---

१. शत० ब्रा० ५. ४. २.३,
२. राजावै सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम्। १. ११
३. हीस्टरमैन—दी ऐन्शयेन्ट इण्डियन रायल कन्शक्रेशन, पृ० ७७-७८ जायसवाल—'हिन्दू राजतन्त्र, खण्ड २, पृ० ५०-५३
४. शत० ब्रा० ५. ४. ४. १५
५. ऐत० ब्रा० ८.९, तद्यत्र वै ब्राह्मणः क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं तद्वीरवदाह।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

बार ब्राह्मण को नमस्कार करता था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार जब तक वह ऐसा करता है, तभी तक उसकी समृद्धि होती है।[१] इस युग में ब्राह्मणों ने कुछ ऐसे भी नियम बनाये जिससे राजनीति में भी उनका प्रवेश अपरिहार्य हो गया। एक तरफ जहाँ उन्होंने अपनी सामाजिक प्रधानता तथा विशिष्ट स्थिति का प्रतिपादन किया वहीं अनिवार्य अनुग्रह द्वारा राजाओं को कृतज्ञ तथा नम्र बनाये रखने का व्यावहारिक प्रयास भी किया। तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह स्थापना मिलती है कि बिना पुरोहित के देवता राजा की बलि स्वीकार नहीं करते।[२] शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त राजसूय के विवरण से भी स्पष्ट है कि राजा को अपनी स्थिति दृढ़ करने के लिये समाज के विभिन्न वर्गों के सहयोग की आवश्यकता थी तथा देवताओं की कृपा भी अपेक्षित थी। पुरोहित जनमत को भी राजा के अनुकूल करता था और साथ ही यज्ञों द्वारा राजा को दैवी अनुग्रह का पात्र भी बनाता था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार जिस राजा के राज्य का गोप्ता ब्राह्मण पुरोहित हो वही अपनी शक्तिसे विजय प्राप्त करता है तथा उसी को विश भी एकमत से स्वीकार करती है।[३] राजनैतिक जीवन में ब्राह्मणों की यह महत्ता केवल सैद्धान्तिक नहीं थी। व्यावहारिक जीवन में भी अधिकांशतः इसे स्वीकृत किया गया था। शतपथ ब्राह्मण को छोड़कर अन्य सभी ग्रन्थों में रत्नियों की सूची में पुरोहित का ही नाम प्रथम है। राजसूय के अवसर पर यज्ञिय तलवार को क्रमशः अनेक उपस्थित लोग धारण करते थे। शुक्ल यजुर्वेद के अनुसार सर्वप्रथम अध्वर्यु ही उसे ग्रहण करता था तथा तत्पश्चात् राजा को देता था। शतपथ ब्राह्मण (४.४.१५.१९) में इस कृत्य का अभिप्राय बतलाते हुये कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति तलवार को अपने से निम्न स्तर वाले व्यक्ति को देता है। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि उत्तर-वैदिक युग में सामाजिक जीवन की भांति ही राजनैतिक जीवन में भी ब्राह्मण पुरोहित का पर्याप्त प्रभाव था[४] किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं

---

१. ऐत० ब्रा० ८. १, स (नृपः) यन्नमो ब्रह्मणे इति त्रिस्कृत्वो ब्रह्मणे नमस्करोति ब्रह्मण एव तत्क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं तद्वीरवदाह।

२. तै० ब्रा० १.७.१

३. ऐत० ब्रा० ८.२५, यस्येवं विद्वान ब्राह्मणो राष्ट्रगोपः पुरोहितः तस्मै विशः संजानत संमुखा एकमनसो।

४. देखिए घोषाल—स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३२२

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

है कि इस युग में राज्य के ऊपर धर्म का अथवा राजा के समक्ष ब्राह्मण का प्रभाव एक पूर्णतः मान्य स्थिति थी। यत्र-तत्र ब्राह्मण ग्रन्थों में ही राजनैतिक महत्व के अवसरों पर पुरोहित का स्थान गौण तथा अन्य पदाधिकारियों का स्थान प्रमुख दिखाई देता है। शतपथ ब्राह्मण रत्नियों की सूची में पुरोहित के पहले सेनानी को स्थान देता है,[१] तथा पंचविंश ब्राह्मण में वीरों का उल्लेख करते हुये पुरोहित का नाम राज-भ्राता और राज-पुत्र के बाद रखा गया है। कृष्ण-यजुर्वेद में यज्ञिय तलवार के क्रमिक हस्तांतरण के प्रसंग में शुक्ल यजुर्वेद के विपरीत राजा का नाम प्रथम और पुरोहित से पूर्व है।[२] इससे स्पष्ट है कि वैदिक पुरोहित लेखकों के अनुसार भी राज्य पूर्णतया सम्प्रदाय अथवा धर्म द्वारा अनुशासित नहीं था।[३] दूसरे इस युग में ऐसे शासक भी अज्ञात नहीं थे जिन्होंने ब्राह्मणों में विरुद्ध आचरण किये। ब्राह्मणों की गाय छीननेवाले राजा के लिए जो भयंकर शाप उच्चरित हुए हैं उनके लक्ष्य ऐसे ही राजे रहे होंगे[४] जो धर्मगुरुओं द्वारा राज्य में हस्तक्षेप का विरोध करते थे। ऐसी स्थिति में ही राज्य और धर्म का संघर्ष हुआ होगा। निश्चय ही अपने विशेषाधिकारों का विरोध करनेवाले राजाओं को ब्राह्मणों ने अभिशाप दिया होगा तथा उनके पतन के लिए षड्यन्त्र भी किये होंगे। ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसे अनेक उल्लेख है कि ब्राह्मणों के विरोध के कारण राजाओं को राज्य तथा सिंहासन से हाथ धोना पड़ा। राजा परीक्षित ने ब्राह्मणों के प्रति अनुचित व्यवहार किया जिसके कारण उन्हें राजगद्दी छोड़नी पड़ी। इसी प्रकार दस पीढ़ी से शासनारूढ़ सृञ्जयों का राज्य नष्ट हो गया। महाभारत में भी ब्राह्मण-विरोधी राजाओं के पतन की अनेक कथाये उपलब्ध हैं।[५]

जैसा कि ऊपर भी संकेत किया जा चुका है, उत्तर वैदिक कालीन राजतंत्र से समिति जैसी लोकसंस्थाओं के लोप के कारण राजसंस्था पर बाह्य अंकुश का अभाव था। कुछ विद्वानों ने राजसूय के प्रसंग में उल्लिखित रत्नियों को समिति का निर्वाचित प्रतिनिधि सिद्ध करने का प्रयास किया

---

१. शत० ब्रा० ५.३.१
२. पंच० ब्रा० १९.१.४
३. घोषाल—स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३०५
४. अथर्ववेद १२.५, १३.१.१–२५
५. द्र० प्राचीन भारतीय शासनपद्धति, पृ० ८३

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

है।[१] किन्तु जैसा कि हम आगे विचार करेंगे, रत्निन केवल राज्य-कर्मचारी थे। प्रमाणों को दृष्टि में रखते हुये यह नहीं कहा जा सकता कि शासन में महत्वपूर्ण स्थिति रखते हुये भी रत्निन लोग राज-शक्ति को मर्यादित करने में समर्थ थे। राजा की प्रभुता सर्वोपरि थी। सम्पूर्ण विश पर उसका प्रभाव था।[२] अपनी स्थिति का लाभ उठा कर कुछ राजे निरंकुश और आततायी भी हो जाते थे। वैदिक साहित्य में ऐसे राजाओं की घोर निन्दा की गई है। अथर्ववेद (५.१९.१५) का कथन है कि अधार्मिक राजा के राज्य में वर्षा नहीं होती, और उसे समिति तथा मित्र-वर्ग का सहयोग नहीं प्राप्त होता। शतपथ ब्राह्मण में उस राजा के लिये 'राष्ट्रिय' शब्द का प्रयोग हुआ है जो निरंकुशतापूर्वक राष्ट्र के साधनोंका प्रयोग एकमात्र अपने लिये करता है। वहीं पर यह कहा गया है कि जिस प्रकार यव को हरिण खा जाता है उसी प्रकार निरंकुश और अत्याचारी राजा प्रजा को-खा डालता है। साथ ही, जिस प्रकार शिकारी पुष्ट पशु का वध कर डालता हैं उसी प्रकार निरंकुश राजा प्रजा को नहीं छोड़ता।[३] किन्तु सामान्यतः राजा दैवी पुरातन नियमों तथा सामाजिक परम्पराओं के विरुद्ध आचरण नहीं करता था।[४] विधिनियम साक्षात देवदत्त माने जाते थे और यह अनि-वार्य समझा जाता था कि राजा उनका पालन करे। धर्म से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है अतः धर्म का पालन राजा का नित्य और आवश्यक कर्त्तव्य था।[५] इस धर्म के निरूपक ऋषि थे न कि राजा। आपाततः राजा की शक्ति अनियंत्रित और अमर्यादित अवश्य थी किन्तु वास्तव में उसका शासन पूर्णतया समाज द्वारा निर्धारित नियमों एवं आदर्शों के अनुरूप होने के कारण पर्याप्त रूप से मर्यादित और लोकमतापेक्षी होता था। जनता के धर्मभीरु होने के कारण राजा समाज द्वारा स्थापित मान्यताओं को नहीं तोड़ सकता था। संसार के सर्वप्रथम राजा वरुण को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ी थी कि श्रुति स्मृतियों में जो धर्म कहा गया है, उसका पूरा पालन करूंगा

राजशक्ति की मर्यादा एवं राजा के कर्तव्य

---

१. हिन्दू राजतंत्र, भाग २, पृ० ३४
२. अथर्ववेद ४.२२.७
३. शत० ब्रा० १३.२.३.८
४. घोषाल–स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३४९
५. 'तदेतक्षत्रस्य क्षत्र यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्ति।'–बृ० उप० १.४.१४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

और कभी मनमानी नहीं करूंगा।[१] सामाजिक नियम राजा की इच्छा से अधिक महत्वपूर्ण थे। राजा वरुण की भांति धर्मपति समझा जाता था[२] इसका तात्पर्य है कि वरुण की भांति ही राजा द्वारा 'ऋत' की रक्षा की कामना की जाती थी। ऐसी स्थिति में भला राजा स्वयं धर्म की मर्यादाओं का उल्लंघन किस प्रकार कर सकता था। धर्म के विरुद्ध आचरण करने वाले राजाओं के लिये पदभ्रष्ट होने का भय सदैव बना रहता था। इस बात के उदाहरण हम दे चुके हैं कि किस प्रकार धर्माधिकारियों के विरोध के कारण अनेक राजाओं एवं राजवंशों को राज्य-च्युत होना पड़ा। शतपथ ब्राह्मण (५.४.३.२१) में स्पष्ट कहा गया है कि राजा शक्तिशाली होते हुए भी पृथ्वी से भय खाता है कि कहीं पृथ्वी उसे पद-भ्रष्ट न कर दे। इसीलिये राजा पृथ्वी अर्थात् राष्ट्र के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करते हुये कहता था 'पृथ्वी तू मेरी माता है। न तू मेरी हत्या कर और न मैं तुम्हारी हत्या करूं'।[३] इस प्रसंग में राज्यारोहण के समय राजा द्वारा की गई एक प्रतिज्ञा विशेष महत्वपूर्ण है। राजा श्रद्धासहित यह प्रतिज्ञा करता था कि 'जिस रात्रि में मैं पैदा हुआ हूँ तथा जिस रात्रि में मैं मरूंगा, इन दोनों के बीच जितने भी यज्ञ व अनुष्ठान मैंने किये हैं, उनसे तथा स्वर्ग लोक और अपनी सन्तान से वंचित हो जाऊं, यदि तुमसे द्रोह करूं'।[४] वेबर महोदय ने तथा श्री घोषाल ने यह मत प्रतिपादित किया है कि इस प्रसंग में राजा जो प्रतिज्ञा करता था वह ब्राह्मण पुरोहित के प्रति होती थी।[५] उनके अनुसार इससे केवल ब्राह्मणों की उस अहंमन्यता का बोध होता है जिसके द्वारा वे राजा को अपने प्रति विनीत बनाने की कोशिश करते थे। किन्तु राजसूय के अवसर पर समाज के विविध वर्गों के लोग उपस्थित रहते थे। उन सबके प्रति राजा का उत्तरदायित्व था। राज्य उसे पुरोहित अकेला नहीं प्रदान करता था। ऐसी स्थितिमें राजसूय जैसे सार्वजनिक महत्व के अवसर पर राजा द्वारा केवल पुरोहित के प्रति अपनी श्रद्धा और कर्त्तव्यपरायणता दिखलाना सर्वथा अस्वाभाविक और विचित्र

---

१. महाभारत १२.४९.११६
२. शत० ब्रा० ५.३.३-६ और ९
३. पृथिवि मातर्मा हिसीर्मा हंत्वाम् इति।—शत० ब्रा० ५.४.३.२०
४. ऐत० ब्रा० ८.३.१५, यां च रात्रिमजायेऽहं यां च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेण इष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृंजीथा यदि ते द्रुह्येयेयामिति।
५. वेबर, स्टडीज़ इन इण्डियन हिस्टरी एण्ड कल्चर, पृ० ३३० पर उद्धृत

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

लगता है। जायसवाल तथा रमेशचन्द्र मजुमदार का यह मत अधिक ऐतिहासिक और ग्राह्य प्रतीत होता है कि राजा पुरोहित के माध्यम से सम्पूर्ण जनता के प्रति अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा के सूचनार्थ इस प्रतिज्ञा को दुहराता था।[१] प्राचीन जातियों में प्रजा के प्रति राजा की इस प्रकार की प्रतिज्ञा अन्य देशों में भी मिलती है। मैक्सिको लोगों में राजा सिंहासनारोहण के समय यह प्रतिज्ञा करता था कि उसके राज्य-काल में सूर्य में प्रकाश, बादलों में जल, नदियों में प्रवाह और धरती में उर्वरा शक्ति की प्रचुरता रहेगी।[२] इस प्रतिज्ञा में प्रजा और राष्ट्र दोनों के प्रति राजा की निष्ठा प्रकट होती है। साथ ही इस बात का भी संकेत मिलता है कि राजा किस प्रकार अपने कर्त्तव्य के बन्धन में बंधा होता था। कर्त्तव्यपरायणता स्वयं राजा की निरंकुशता को मर्यादित करने में काफी हद तक समर्थ थी। राजा की कर्त्तव्यनिष्ठा के कारण ही अथर्ववेद में उसे राष्ट्र-भृत्य माना गया है।[३] एक प्राचीन धर्मसूत्र लेखक के अनुसार राजा वास्तव में प्रजा का सेवक है और प्रजा की आय का छठां भाग उसे वेतन के रूप में दिया जाता है।[४]

राजा के कर्तव्य

जब हम राजा के प्रमुख कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों पर विचार करते हैं तो स्वभावतः राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में भी वैदिक दृष्टिकोण का अनुमान इस प्रसंग में होता है। राजा का प्रमुख कर्त्तव्य युद्ध काल में शत्रुओं से रक्षा और शान्ति-काल में प्रजापालन था।[५] स्वहित-चिंतन की प्रधानता के कारण पुरोहितों ने खासतौर पर राजा को 'ब्राह्मणों का गोप्ता' ही कहा। धर्मसूत्रकारों ने राजा के सुरक्षा-कार्य को विशेष महत्व प्रदान करते हुये कहा है कि राजा का कर्त्तव्य प्रजा का संरक्षण है जिसके लिये उसे प्रजा की आय का छठां भाग वेतन के रूप में मिलता है।[६] किन्तु राजा का कार्य क्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं था। राजा वरुण की भाँति धृत-व्रत,

---

१. जायसवाल—हिन्दू राजतंत्र, भाग २,
मजुमदार—ऐन्शयेन्ट इण्डिया, पृ० ७६
२. फ्रेजर—गोल्डेन बाऊ, पृ० ८७
३. अथर्व० १६.३७.३
४. बौ० धर्म० सू० १.१०.
५. ऋ० ३.४३.५ गोपा जनस्य
६. बौधायन १.१०.६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

नियम और व्यवस्था का संरक्षक, साधुओं का प्रतिपालक और दुष्टों को दंड देने वाला समझा जाता था।[१] धर्म का सम्वर्धन, सदाचार को प्रोत्साहन तथा ज्ञान का संरक्षण प्रत्येक राज्य के लिये गौरव का विषय था।[२] राज्य और राजा की स्थिति का उद्देश्य प्रजा का सर्वांगीण विकास ही समझा जाता था। अथर्ववेद (१६.८.१–२) का कथन इस बात की पुष्टि करता है। इन मंत्रों में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि इस योग्य पुरुष को चुनने से हमारी विजय होगी, हमारी उन्नति होगी, हमारा आरोग्य बढ़ेगा, हमारा तेज, हमारा ज्ञान और हमारा आत्मिक बल बढ़ेगा, हमारा यज्ञ सफल होगा, हमारे पशु पुष्ट होंगे, हमारी सन्तति ठीक होगी और शूर-वीर पुरुष हमारे पास रहेंगे। राजा का वरुण की भांति धर्मपति होना राजा के न्याय सम्बन्धी अधिकारों का भी संकेत करता हैं। न्याय-कार्य से वरुण का सम्बन्ध ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में उल्लिखित उनके गुप्तचरों (स्पशः) से प्रकट होता है। वरुण के गुणों एवं विशेषणों का राजा पर आरोप इस बात की पुष्टि करता है कि उत्तरवैदिक युग तक राजा का न्याय सम्बन्धी अधिकार भी पर्याप्त विस्तृत हो चुका था।[३] वैदिक शासक प्रजा की भौतिक उन्नति के प्रति भी सजग और सचेष्ट रहता था। राजसूय के अवसर पर जब प्रथम बार राजा सिंहासन पर बैठता था तब पुरोहित उससे कहता था कि कृषि कर्म के लिए, कल्याण के लिए, समृद्धि के लिये और पोषण के लिये यह राज्य तुम्हें दिया जाता है।[४] इससे स्पष्ट है कि प्रजा की समृद्धि और सुख में सम्वर्धन राजा का प्रमुख कर्त्तव्य था। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण (५.२.१.२५) के अनुसार राजा के सिंहासनारोहण का प्रमुख उद्देश्य जनकल्याण ही है। इस प्रसंग में हमें जनकल्याणकारी राज्य को जन्म देनेवाली धारणाओं का बीज दिखाई देता है। अथर्ववेद (२०.११७.९.१०) में परीक्षित के सफल शासन में प्रजा के सुख-समृद्धि का उल्लेख हैं। इसी ग्रंथ (३.४.४) में यह आशा प्रकट की गई है कि राजा वैभव की वृद्धि करेगा तथा प्रजा में समान रूप से उसका

---

१. शत० ब्रा० ५.३.३.६ और ९

२. छान्दोग्य ५.११-५, न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो
नानाहिताग्निर्वा विदान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः।

३. घोषाल—स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३१८–१९
काठक सं० २८.४, तस्माद्राजन्येनाभ्यक्षेण वैश्यं घ्नन्ति।

४. शत० ब्रा० ५. २. १.-२५ कृष्यै त्वांक्षेमाय त्वां रय्यै त्वां पोषायत्वां।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

वितरण करेगा। सौभाग्य से उत्तर-वैदिक युग धर्मपरायण, विद्वान एवं दार्शनिक राजाओं का युग था जिनकी कर्त्तव्यनिष्ठा एवं जनकल्याण की भावना में सन्देह नहीं किया जा सकता।

धर्मप्रधान होने के कारण वैदिक वाङ्मय से राज्यों की तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान नहीं प्राप्त होता।

राजकीय आय

राज्यों के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में राजकीय आय के साधन अत्यन्त सीमित थे। लोग स्वेच्छापूर्वक जो बलि राजा को उपहारस्वरूप देते थे वही उसे कर के रूप में प्राप्त होता था।[१] ऐसी स्थिति में राजा को अपने कर्मचारियों तथा अनुयायियों का भरण-पोषण अपनी ही भूमि, चरागाहों और गोधन से प्राप्त होने वाली आय से करना पड़ता था। युद्ध में पराजित शत्रुओं की सम्पत्ति अवश्य कभी-कभी राजा की आय में वृद्धि का कारण बनती थी। राज्य-भ्रष्ट राजा के पुनः राज्य प्राप्ति के समय प्रार्थना की जाती थी कि इन्द्र उसे प्रजा से बलि प्राप्त करने में सहायता दे[२] तथा उसे प्रजा से प्रचुर उपहार और बलि प्राप्त हो।[३] किन्तु ब्राह्मण साहित्य में राजा द्वारा प्रजा से कर लेने के अधिकार को पूर्ण मान्यता प्रदान की गई। इस युग तक ऐच्छिक बलि का स्थान नियमित भाग ने ले लिया। राज्य के द्वारा नियुक्त भाग धुक नामक अधिकारी राजकीय कर की वसूली करता था। राज्याभिषेक के प्रसंग में राजा को 'विशामत्ता' कहा गया है इससे भी यह सिद्ध होता है कि राजा नियमित रूप से प्रजा से कर लेने लगा था। इस युग में कर का अधिकांश बोझ वैश्यों पर ही था। अनेक स्थलों पर उनका वर्णन विशेष रूप से करदाताओं के रूप में हुआ है।[४] उत्तर-वैदिक युग में पुरोहित वर्ग राज-कर से मुक्ति की दावा करने लगा था। सम्भव है राज्य ने भी पुरोहितों के प्रभाव के कारण इसे स्वीकार किया हो। क्षत्रिय स्वयं शासक वर्ग के थे। शूद्रों के पास विशेष सम्पत्ति नहीं थी। ऐसी स्थिति में वैश्यों पर ही कर का विशेष भार होना सर्वथा स्वाभाविक था।

---

१. द्र० ऐस्पेक्ट्स आफ पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूसन्स, पृ० १०६

२. अथ ते इन्द्रः केवलीः प्रजाः बलितहूतस्करत। ऋ० १०. १७६. ६

३. अथर्ववेद ३. ४. ३

४. 'अन्यस्य बलिकृति,' ऐत० ब्रा० ७. २६, शत० ब्रा० १२. २. ६. १४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

हापकिन्स ने 'विशामत्ता' शब्द के आधार पर यह मत प्रतिपादित किया है कि वैदिक काल में कर बहुत कठोर थे। किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में अत्ता शब्द का प्रयोग भोक्ता शब्द के ही अर्थ में हुआ है। यथा एक स्थान पर पति को अत्ता और पत्नी को आद्य कहा गया है।[१] वैदिक इण्डेक्स के अनुसार इस उक्ति का सूत्र उस पुरानी प्रथा में है जिसमें राजा और उसके कर्मचारियों का पोषण प्रजा के उपहारों से चलता था जिसके अनेक उदाहरण अन्य देशों के इतिहास में भी पाये जाते हैं।[२] सम्भव है कि राज्याभिषेक के अवसर पर राजा की महत्ता के सूचनार्थ विशामत्ता शब्द का लाक्षणिक प्रयोग हुआ हो। फिर भी इतना अवश्य है कि कर का भार मुख्यतः वैश्यों पर था। कुछ अत्याचारी राजा ऐसे भी रहे होंगे जो अपनी शक्ति का दुरुपयोग करके जनता का शोषण करते हों। यह बात शतपथ ब्राह्मण (१३. २. ३. ८) से स्पष्ट है। इस प्रसंग में यह कहा गया है कि जिस प्रकार शिकारी पुष्ट पशु का वध कर देता है उसी प्रकार निरंकुश राजा-प्रजा को नहीं छोड़ता। किन्तु निश्चय ही यह सामान्य स्थिति का उल्लेख नहीं है।

इस युग में भागधुक और समाहर्ता नाम के कर्मचारी सम्भवतः कर विभाग से ही सम्बन्धित थे। सम्भवतः भागधुक (राजा का भाग वसूलने वाला) का काम अन्न एवं अन्य उत्पादित सामग्रियों में से राजा का राजकीय भाग एकत्र करना था, तथा दूसरे का नाम इन्हें भण्डारों और कोषों में सुरक्षित करना था।[३] राज्य की आय के प्रमुख स्रोत कृषि और पशु पालन थे। कृषक राजा को फसल का एक भाग दिया करते थे जिसका परिमाण वैदिक साहित्य में नहीं बताया गया है। सम्भव है धर्मसूत्र काल की भांति ही इस काल में भी राजा उत्पादित वस्तु के छठे भाग का अधिकारी रहा हो। उस युग में पशु-धन का विशेष महत्व था। पशुपालक लोग कर में गाय, बैल और घोड़े दिया करते थे।[४] राज्य इन सबके एक निश्चित अंश का ही अधिकारी था। वैदिक काल में वाणिज्य और व्यवसाय अभी विकास की प्रारम्भिक स्थिति में थे इसलिये इस स्रोत से विशेष आय बहुत अधिक नहीं रही होगी।

---

१. शत० ब्रा० १. २. ३. ६
२. वैदिक इण्डेक्स २, ६२
३. इस विषय पर आगे रत्नियों के प्रसंग में विचार किया गया है।
४. अथर्ववेद ४.२२.२ एम भज ग्रामे अश्वेषु गोषु।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

राजकर्मचारी

उत्तर-वैदिक युग तक शासन में राजा की सहायता के हेतु राजपरिषद का विकास सम्भवतः हो चुका था। इस परिषद के सदस्यों का स्वरूप अनुवर्ती युगों के मंत्रियों तथा उच्चाधिकारियों के समान रहा होगा। अथर्ववेद के एक मंत्र में यम के सभासदों के राजसी पद का उल्लेख है जिन्हें यम को प्राप्त होने वाले यज्ञ के १६ वें भाग का अधिकारी कहा गया है।[१] इससे प्रतीत होता है कि मृत्युलोक के राजा के भी सभासद होते थे, जिन्हें राजकीय आय का एक निश्चित भाग प्राप्त होता था। सम्भव है इन सभासदों के माध्यम से ही मंत्रिमण्डल और राजकर्मचारियों का संकेत हो। इससे अधिक स्पष्ट वर्णन यजुर्वेद की संहिताओं एवं ब्राह्मणों में रत्नियों का मिलता है, जो राज-परिषद के सदस्य प्रतीत होते हैं। शासन के संचालन में इनका महत्वपूर्ण योग रत्नी-सूची के अन्तर्गत परिगणित नामों से ही स्पष्ट है। राजसूय के अवसर पर राजा स्वयं रत्न-हवि के माध्यम से विभिन्न रत्नियों के प्रतिअपनी श्रद्धा प्रकट करता था।[२] यद्यपि घोषाल महोदय ने यह आक्षेप किया है कि ये हवियां रत्नियों को न देकर निश्चित देवताओं को दी जाती थीं[३] किन्तु इससे रत्नियों का महत्व नहीं घटता क्योंकि इस विशिष्ट कार्य के लिये रत्नियों के ही घर पर उपस्थित होना पड़ता था। इसके अतिरिक्त मैत्रायणी संहिता में रत्नियों को राजशक्ति का अनिवार्य अंग कहा गया है जिनकी तेजस्विता से सम्पूर्ण राष्ट्र तेजस्वी होता है।[४] तैत्तिरीय ब्राह्मण (१.७.३.१) में रत्नियों को राष्ट्र को प्रदान करने वाला और धारण करने वाला कहा गया है।[५] राजसूय के अवसर पर राजा-प्रत्येक रत्नी से यह कहता था कि वह निश्चित रूप से राजा का एक रत्न है तथा उसी के लिये राजा का अभिषेक होता है।[६] राजसूय के इस कृत्य का

---

१. अथर्ववेद ३.२९.१, यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः।

२. हिन्दू राजतंत्र, भाग २, पृ० २६

३. स्टडीज़ इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३०४

४. म० सं ८.३.४

५. तै० ब्रा० १.७.३.१,

६. शत० ब्रा० ५.३.१.१–१२

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

लक्ष्य राजा के लिये जनता के इन महत्वपूर्ण व्यक्तियों की स्वामिभक्ति (उपजीव्यता) प्राप्त करना बतलाया गया है।[१]

दुर्भाग्यवश इन रत्नियों की संख्या की जो सूची विभिन्न ग्रन्थों से प्राप्त होती है उसमें कुछ अन्तर है। इन विभिन्न संहिताओं और ब्राह्मणों में मिलने वाली संख्या की सूची घोषाल तथा शर्मा महोदय ने अपने ग्रंथों में उद्धृत की है। जायसवाल ने केवल ग्यारह रत्नियो की गणना की है।[२] तैत्तिरीय संहिता में रत्नियों की संख्या ग्यारह अवश्य बतलाई गई है किन्तु मैत्रायणी संहिता में चौदह, काठक-संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में बारह रत्नियों का उल्लेख है।[३] विचित्र बात तो यह है कि 'द्वादश-मंडल' की परम्परा अन्य भारोपीय जातियों में भी पाई जाती है।[४] कुछ भारोपीय देवताओं के भी द्वादश-मंडल का उल्लेख मिलता है।[५] इसके आधार पर चाद्विक महोदय ने 'द्वादश-मण्डल' को आर्य जाति की एक अत्यन्त प्राचीन संस्था माना है जिसकी परम्परा आर्यों के विविध शाखाओं में बिखर जाने के बाद भी जीवित रही।[६] असम्भव नहीं है कि वैदिक राज्य में रत्नी-मण्डल की १२ अथवा ११ की संख्या इस प्राचीन परम्परा से परम्परागत और परोक्ष रूप से प्रभावित होने के कारण ही हो। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि रत्नियों की सूची में राजा के सम्बन्धी, मंत्री, विभागों के अध्यक्ष एवं अन्य राजकर्मचारी सम्मिलित थे। रत्नी-सूची के तक्षन और रथकार का नाम केवल मैत्रायणी संहिता में ही मिलता है। सम्भवतः इन्हीं दो नामों के कारण मैत्रायणी संहिता की सूची भी अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा कुछ असामान्य हो गई हैं। प्रारम्भ में ये दोनों व्यवसाय बहुत ही महत्वपूर्ण अतएव आदरणीय समझे जाते थे। आदिम समाज में कारीगरों की सामाजिक स्थिति प्रायः सर्वत्र उच्च थी।[७] अथर्ववेद में उन्हें राजा का सहायक बनने के लिए

---

१. मै० सं० ४.३.८, इमामेवैनं प्रजाभ्य उपजीवनीयं करोति।
२. हिन्दू पालिटी, पृ० २००
३. मैत्रा० सं० ११.६.५, का० सं० १५.४, तै० ब्रा० १.७.३
४. चादविक—हिरोइक एज, पृ० ३७०
५. वही
६. चादविक, हिरोइक एज, पृ० ३७०
७. अलेक्जेण्डर गोल्डेनवेजर, एन्थ्रोपोलोजी, पृ० ३८६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

प्रार्थना की गई है।[१] उत्तर-वैदिक साहित्य में कालक्रम की दृष्टि से मैत्रायणी संहिता की प्राचीनता भी स्वीकृत है। इससे यह प्रतीत होता है कि प्रारंभ में तक्षन और रथकार अपनी व्यावसायिक विशिष्टता के कारण रत्नी वर्ग के सदस्य थे किन्तु बाद में जैसे-जैसे व्यावसायिक जीवन में अनार्यों के प्रवेश के कारण उद्योगधंधों के प्रति हीन भाव उत्पन्न होता गया वैसे ही रथकार और तक्षन जैसे व्यवसायियों का सामाजिक और राजनैतिक महत्व भी घटता गया। धर्मसूत्रों में रथकार को वर्णसंकर (Mixed caste) कहा गया है तथा बौद्ध साहित्य में उनके व्यवसाय को 'हीन शिप्पम्' के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। दूसरे, बाद के अन्य ग्रंथों में प्राप्त सूचियों में केवल उन्हीं लोगों को स्थान दिया गया है जो शासन की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण थे। इन्हीं कारणों से मैत्रायणी संहिता को छोड़ कर अन्य चार ग्रन्थों में तक्षन और रथकार का समावेश रत्नी सूची के अन्तर्गत नहीं किया गया है।

ब्राह्मण अथवा पुरोहित शतपथ ब्राह्मण को छोड़ कर अन्य सभी ग्रन्थों से प्राप्त रत्नी-सूची में अपना प्रथम स्थान रखता है। इससे शासन-तंत्र में उसका प्रबल प्रभाव प्रकट होता है। पुरोहित राजा का परामर्शदाता था तथा साथ ही वह यज्ञों और अनुष्ठानों द्वारा राजा को दैवी कृपा का पात्र बनाता था। ऐतरेय ब्राह्मण (८.२४-२८) में उसे राष्ट्रगोप कहा गया है जिससे उसके राजनैतिक महत्व का बोध होता है। रत्नी-सूची के ब्राह्मण अथवा पुरोहित को ब्राह्मण वर्ग का प्रतिनिधि मानना[२] एक पूर्वाग्रह जन्य कल्पना है। वस्तुतः राजनैतिक जीवन में पुरोहित का अस्तित्व एवं महत्व शासन कार्य में धार्मिक एवं बौद्धिक सहयोग के कारण था न कि किसी सामाजिक वर्ग का प्रतिनिधि होने के कारण। इसी प्रकार यह मत भी नहीं स्वीकार किया जा सकता कि ब्राह्मण वर्ग अनार्य पुरोहितों का था[३] जिन्हें राजनैतिक जीवन में प्रधानता और श्रेष्ठता प्रदान करके नवागन्तुक विजेताओं ने बहुत बड़ी सहनशीलता का परिचय दिया।[४] जैसा कि हमने पहले ही स्वीकार किया है, समानधर्मी होने से ब्राह्मण वर्ण में अनार्य पुरोहितों का

---

१. अथर्ववेद ३.५.६.

२. हिन्दू पालिटी, पृ० २०४

३. पार्जीटर—ऐन्शयेन्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन, पृ० ३०६
कोशाम्बी-एन इण्ट्रोडक्शन टु दी स्टडी आफ इण्डियन हिस्ट्री, पृ० ६७-६८

४. एस्पेक्ट्स आव पालिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, पृ० १०५

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

प्रवेश असम्भाव्य नहीं है, किन्तु ब्राह्मणों को सामान्यतया अनार्य पुरोहितों का वर्ग मानना अतिशयोक्ति की पराकाष्ठा होगी। वैदिक आर्यों के हृदय में स्थानीय अनार्यों के प्रति सहिष्णुता और सहनशीलता का भाव नाम-मात्र को ही था। यह बात शूद्रों के प्रति वैदिक समाज के दृष्टिकोण से स्पष्ट है।[१] शूद्रों के अन्दर अनार्यत्व की प्रधानता सर्वथा अप्रत्याख्येय है।[२] रत्नी सूची के पुरोहित के विषय में एक विशेष महत्वपूर्ण बात यह है कि शतपथ ब्राह्मण में उसका स्थान सेनानी के पश्चात् है तथा पंचविंश ब्राह्मण के वीरों की सूची में उसका नाम राजभ्राता और राजपुत्र के पश्चात् है।[३] इससे प्रकट होता है कि उत्तर वैदिक युग में ही काल-क्रम से शासन-तंत्र में पुरोहितों और धर्माधिकारियों का प्रभाव घट रहा था।

तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायणी संहिता, काठक संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'राजन्य' को दूसरा स्थान दिया गया है। शतपथ ब्राह्मण में उसे सेनानी और पुरोहित के पश्चात् रखा गया है। काठक संहिता में राजन्य के स्थान पर राजा और शतपथ ब्राह्मण में यजमान का उल्लेख है। इससे यह प्रतीत होता है कि तीसरा रत्नी जिसे राजन्य भी कहा गया है राजा स्वयं होता था। राजा के यहां इन्द्र देवता को हवि दी जाती थी। इन्द्र को उत्तर-वैदिक साहित्य में देवताओं का राजा स्वीकार किया गया है।[४] इस बात को स्वीकार करने के लिये प्रमाणों का अभाव है कि राजन्य क्षत्रिय वर्ग का प्रतिनिधित्व करता था।

शतपथ ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य सभी ग्रन्थों की सूची में महिषी का नाम तीसरा है। महिषी शब्द, जिसका तात्पर्य राजा की प्रधान रानी से है, राजाओं की बहुपत्नीकता की पुष्टि करता है। इससे यह भी प्रकट होता है कि वैदिक काल में रानी की हैसियत राजा की पत्नी की ही नहीं थी बल्कि शासन-व्यवस्था में भी उसका महत्वपूर्ण स्थान था।[५] जायसवाल

---

१. ऐत० ब्रा० ७.२९, यथाकाम वध्यः।
२. वैदिक इण्डेक्स, वाल्यूम २, पृ० ३८८-८९, कैम्ब्रिज हिस्ट्री, ब्रा० १, पृ० ८६,१२८-९
३. शत० ब्रा० ५. ३. १ पंचविंश ब्रा० १९. १ ४
४. अथर्वा० ४. ६. ११, ६. ९८. १., तै० सं० २. २. ११. ६, तै० ब्रा० २. २. १०
५. घोषाल—स्टडीज् इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३०६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

महोदय महिषी के इस महत्व का कारण राजा द्वारा धार्मिक अनुष्ठानों के सम्पादन में पत्नी के सहयोगकी आवश्यकता को मानते हैं।[१] 'शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ही अपत्नीक व्यक्ति-यज्ञ-कर्म का अधिकारी नहीं होता।[२] ऐसी स्थिति में राजसूय के अवसर पर पत्नी की उपस्थिति निश्चय ही अत्यन्त महत्वपूर्ण रही होगी। किन्तु रत्नी-सूची में महिषी की महत्वपूर्ण स्थिति उसके शासन-सम्बन्धी उत्तरदायित्वों की ओर भी संकेत करती है, क्योंकि रत्नी सूची के सभी सदस्य प्रायः राजनैनिक एवं प्रशासकीय महत्व के व्यक्ति हैं। महिषी के यहां, माता की भांति भरण-पोषण करने वाली अदिति को हवि प्रदान की जाती थी[३] जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महिषी की स्थिति सर्वसाधारण के लिये राजमाता की थी जो न केवल पारिवारिक जीवन में राजा की पत्नी होती थी बल्कि राष्ट्रीय जीवन में राजा के साथ प्रजा-पालन के गुरुतर उत्तरदायित्व का वहन करती थी। महिषी के अतिरिक्त रत्नी-सूची में वावाता और परिवृत्ति का उल्लेख उत्तर-वैदिक राजनैतिक जीवन में मातृसत्तात्मक परम्पराओंके अवशिष्ट प्रभाव का संकेत करता है।[४] वावाता के नाम का उल्लेख केवल तैत्तिरीय ब्राह्मण में हुआ है किन्तु परिवृत्ति का नाम शतपथ को छोड़ कर शेष चारों ग्रन्थों में हुआ है। तीन ग्रन्थ परिवृत्ति को चौथा स्थान देते हैं। केवल तैत्तिरीय ब्राह्मण में वावाता में समावेश के कारण उसे पांचवां स्थान मिला है। राजा की इन दोनों पत्नियों के राजनैतिक महत्व का कारण प्रायः अज्ञात है। सम्भव है कि इन राजपत्नियों को सम्मानित करने के लिये तथा इन्हें विरोध का अवसर न प्रदान करने के लिये ही रत्नी-वर्ग का सदस्य माना गया हो।[५] कुछ भी हो, महिषी, वावाता और परिवृत्ति का रत्नी-वर्ग का सदस्य होना इस बात का प्रबल प्रमाण है कि उत्तर-वैदिक समाज में स्त्रियों की दशा इतनी उच्च थी कि राजनैतिक कार्यों में भी सहयोग करती थीं। सम्भव है कि सामान्य स्त्रियां राजनैतिक जीवन से अलग रही हों जैसा कि मैत्रायाणी

---

१. हिन्दू पालिटी, पृ० २०१

२. शत० ब्रा० ५. १. ६, १०,

३. शत० ब्रा० ५. ३. १. ४

४. रामशरन शर्मा—पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक, पृ० १०६

५. वही, पृ० १०६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

संहिता में स्त्रियों के सभा-गमन के विरोध से प्रकट होता है।[१] किन्तु इसके विपरीत पंचविंश ब्राह्मण में वीरों की सूची में महिषी की गणना तथा राजपत्नियों की रत्नी-मण्डल की सदस्यता इस बात को प्रमाणित करती है कि स्त्रियां नियमतः राजनैतिक जीवन से पृथक् नहीं थीं।

तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायणी संहिता, और काठक संहिता के अनुसार सेनानी का स्थान रत्नियों में पांचवां है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसे छठवां और शतपथ ब्राह्मण में प्रथम स्थान दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि राजाओं की साम्राज्यवादी मनोवृत्ति के विकास के कारण ब्राह्मण युग के अन्त तक सेनानी का पद काफी महत्वपूर्ण हो गया था। अधिकांश ग्रंथों में इसके पांचवें स्थान के कारण तथा पंचविंश ब्राह्मण के वीरों की सूची में इसके अनुल्लेख के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि शासन विभाग की तुलना में सेना विभाग का महत्व कम था।[२] सायण का यह मत कि सेनानी शूद्र होता था, पूर्णतः कल्पनाप्रसूत प्रतीत होता है क्योंकि सेनानी के घर पर पवित्र वैदिक देवता अग्नि को हवि प्रदान किया जाता था। सेनानी अग्नि देवता का पार्थिव प्रतिनिधि प्रतीत होता है। वैदिक साहित्य में अग्नि का उल्लेख सेना के अग्रणी नेता के रुप में भी हुआ है।[३] सेनानी का कार्य भी युद्धों में सेना का नेतृत्व करना ही था।

उपर्युक्त पांच रत्नियों के अतिरिक्त सूत, ग्रामणी, क्षत्तृ संग्रहीतृ, भागधुक, और अक्षावाप का नाम सभी सूचियों में मिलता है। विभिन्न ग्रंथों में इनकी गणना के सम्बन्ध में क्रम-भेद अवश्य है। ये पांचों शासन-कार्य में सहायता देने वाले राजकर्मचारी थे। सूत के वास्तविक कार्य के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। अल्तेकर महोदय के अनुसार वह रथसेना का प्रधान था जो सम्मान के लिये राजा को सारथी का पद वहन करता था।[४] घोषाल महोदय ने उसे वन्दी या आख्यायक माना है[५] जो महाकाव्यों में वर्णित सूत के काफी निकट प्रतीत होता है। वैदिक साहित्य से उपलब्ध

---

१. मै० सं० ४. ७. ४
२. घोषाल—स्टडीज एन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३०७
३. अथर्ववेद ३.१.१, डा० वी० डब्ल्यू० करम्बेलकर, दी अथर्ववैदिक सिविलाइजेशन, पृ० ११५
४. अल्तेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० ११०
५. घोषाल—स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३०३

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

प्रमाणों की पृष्ठभूमि में यह अधिक ग्राह्य है। एक स्थान पर सूत को जनता का मुख कहा गया है।[१] बहुत सम्भव है कि सूत के कुछ प्रशासकीय उत्तरदायित्व भी रहे हों। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उसकी गणना पौराणिक आदि साधारण पदाधिकारियों में की गई है जिन्हें एक सहस्र रजत मुद्रायें प्रति वर्ष वेतन में मिलती थीं।[२]

ग्रामणी को मैत्रायणी संहिता और काठक संहिता में वैश्य-ग्रामणी कहा गया है। इससे इसके वर्ण का ज्ञान होता है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट प्रतीत होता है वह गाँव का मुखिया या प्रधान था। निश्चय ही वैदिक राज्यों के आकार में लघु होने पर भी एक राज्य में बहुत से ग्राम रहे होंगे किन्तु रत्नहविषी के प्रसंग में केवल एक ही ग्रामणी का उल्लेख है। इस समस्या के समाधान की दृष्टि से अल्तेकर महोदय ने ग्रामणी को गाँवों के मुखियों का प्रधान माना है।[३] किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि रत्नहविषी अनुष्ठान में भाग लेने वाला ग्रामणी राजधानी का ही प्रमुख वैश्य नागरिक होता था। सम्भव है युद्ध के अवसर पर छोटे समूहों का का नेतृत्व करने के अतिरिक्त वह ग्राम्य शासन में राजा के प्रतिनिधि के रूप में योग देता हो। जायसवाल महोदय उसे पौर का प्रधान भी मानते हैं (Head of the township)।[४] किन्तु उत्तर-वैदिक युग तक पूर्ण विकसित नागरिक जीवन सन्दिग्ध है। इसी प्रकार यह कल्पना कि राजकीय कर को वसूल करने का कार्य ग्रामणी का था[५] निराधार प्रतीत होती है क्योंकि यह कार्य भागदुध द्वारा किया जाता था।

डा० यू० एन० घोषाल के अनुसार क्षतृ भोजन बाँटने वाले को कहते थे।[६] किन्तु इस प्रकार का कोई विभाग उस युग में था, यह बहुत संदिग्ध है। क्षतृ शब्द का एक अर्थ प्रतिहार (Chamberlain) भी है जो

---

१. मैत्रा० सं० ४.३.८

२. अर्थशास्त्र ५.३-९१, द्र०, हिन्दू पालिटी पृ० २०२

३. अल्तेकर—प्राचीन भारतीय शासनपद्धति, पृ० १११

४. जायसवाल—हिन्दू पालिटी, पृ० २०४

५. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया, १,११७

६. घोषाल पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक, पृ० ३०३

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

इस प्रसंग में अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।[१] सम्भव है वह राजा का परिपार्श्वक भी रहा हो।[२]

संग्रहीतृ की वास्तविक स्थिति एवं कार्य के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मत वैभिन्य है। किन्तु टीकाकारों के मत को दृष्टि में रखते हुए तथा अर्थशास्त्र के सन्निधाता नामक अधिकारी से इसकी समानता स्थापित करते हुए यह कहा जा सकता है कि वह कोषाध्यक्ष था।[३] अधिकांश ग्रन्थों में भागधुक के साथ इसके उल्लेख से भी इस बात की पुष्टि होती है। अनेक विद्वानों ने संग्रहीतृ का अर्थ वल्गा धारण करने वाला (Holder of the reins) या रथचालक स्वीकार किया है,[४] तथा इस आधार पर उसे प्रमुख योद्धा का सारथी माना है। किन्तु यह एक सम्भावना मात्र है। वस्तुतः भागधुक, जिसका काम कर वसूलना था, कोषाध्यक्ष के अस्तित्व एवं महत्व को अपरिहार्य बना देता है। ऐसी स्थिति में संग्रहीतृ को कोषाध्यक्ष मानना ही परिस्थैतिक साक्ष्यों के अनुकूल होगा क्योंकि भागधुक द्वारा एकत्रित राजकर की सुरक्षा की दृष्टि से भी कोषाध्यक्ष की स्थिति अनिवार्य थी।

भागधुक और संग्रहीतृ का उल्लेख ऋग्वेद और अथर्ववेद में नहीं मिलता। इनका उल्लेख यजुर्वेद की संहिताओं और ब्राह्मणों में है इससे स्पष्ट है कि नियमित राजकर वसूलने की परम्परा तथा राजकोष की व्यवस्था उत्तर-वैदिक युग में ही हो सकी। भागधुक राजा का भाग वसूलने वाला अधिकारी

---

१. वाज० सं० ३०.१३ पर टीका करते हुये महीधर ने क्षतृ का अर्थ प्रतिहार किया है तथा सायण ने शतपथ ब्राह्मण ५.२.१.७ पर टीका करते हुये इसका अर्थ अन्तःपुराध्यक्ष किया है।

२. प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० ११०

३. जायसवाल—हिन्दू पाटिली, पृ० २०२

४. द्र०, शत० ब्रा० ५.३.१.८ पर ईगलिंग की टीका, तै० सं० १.८.६ पर कीथ की टीका,
शर्मा—ऐस्पेक्ट्स आव पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूसन्स, पृ० १०

५. सायण महोदय ने तै० सं० १.८.६ पर टीका करते हुए संग्रहीतृ को 'धन संग्रहकर्ता कोषाध्यक्षः' कहा है तथा तै० ब्रा० ३.४.७ पर टीका करते हुये इसका अर्थ 'भाण्डागाराध्यक्ष' माना है।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

था। उसका पद राज्य के विकास की उस स्थिति का संकेत करता है जब राज-कर ऐच्छिक न रहकर अनिवार्य हो चला था। ऋग्वेद में राजा को प्राप्त होनेवाले ऐच्छिक उपहारों को बलि कहा गया है।[१] किन्तु उत्तर-वैदिक युग तक राजा प्रजा की आय के एक निश्चित भाग का अधिकारी समझा जाने लगा था। सम्भव है भाग का तात्पर्य यहां धर्मसूत्रों में उल्लिखित षष्ठांश से हो। भाग सम्भवतः अन्न के रूप में ही ग्रहण किया जाता था। भागधुक के घर पर पशुओं के देवता पूषन को बलि दी जाती थी[२] अतः पशुओं के रूप में भी राजकीय भाग एकत्रित करने की बात सम्भव प्रतीत होती है।

अक्षावाप नामक ग्यारहवें रत्नी का कार्य भी सन्दिग्ध है। इसका शाब्दिक अर्थ होगा (द्यूतक्रीड़ा में) पांसा फेंकनेवाला।[३] इस प्रकार कुछ विद्वानों ने इसे द्यूतक्रीड़ा में राजा का साथी तथा कुछ ने इसे द्यूतक्रीड़ा से सम्बन्धित अधिकारी माना है। अक्षावाप की समानता अर्थशास्त्र के अक्ष-पटलाध्यक्ष से स्थापित करते हुए जायसवाल महोदय ने उसे आय-व्यय के लेखे के प्रधान अधिकारी माना है।[४] किन्तु शतपथ ब्राह्मण (५.३.१.१०) में अक्षावाप के साथ अक्ष (पांसा) और जुआ खेलनेवाली पटरी का भी उल्लेख है जिससे द्यूतक्रीड़ा से इसका सम्बन्ध स्थापित करना दुर्निवार्य हो जाता है। सम्भव है कि वह द्यूतक्रीड़ा तथा अन्य सामाजिक आनन्दोत्सवों का प्रबन्धक रहा हो।

गोविकर्तन नामक रत्नी का उल्लेख तीन सूचियों में मिलता है किन्तु तीनों सूचियों में इसके नाम में कुछ अन्तर है। मैत्रायणी संहिता में इसे गोविकर्त, काठक संहिता में गोव्यच्च और शतपथ ब्राह्मण में गोनिकर्तन कहा गया है। इस शब्द का शाब्दिक अर्थ होगा गोवध करनेवाला या कसाई। जायसवाल महोदय ने इसे जंगलों का प्रधान अधिकारी माना है[५] तथा घोषाल ने इसे शिकारियों का प्रधान माना है।[६] इसके घर पर रुद्र को बलि

---

१. घोषाल—हिन्दू रेवैन्यू सिस्टम पृ० २२१–३२
२. शत० ब्रा० ५.३.१.९
३. द्रष्टव्य घोषाल—स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३०३
४. जायसवाल—हिन्दू पालिटी, पृ० २०३
५. जायसवाल—हिंदू पालिटी, पृ० २०३
६. हिस्टीरियोग्रैफी एण्ड अदर एसेज, पृ० २४९

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

दी जाती थी इससे पशुओं के प्रति इसकी भयंकरता का संकेत मिलता है। जैसा कि जायसवाल महोदय ने कहा है, असम्भव नहीं प्रतीत होता कि वह मेगस्थनीज द्वारा उल्लिखित उस मौर्य कालीन अधिकारी के समान रहा हो जो शिकारियों का प्रधान होता था तथा बीज खानेवाले पशुओं एवं पक्षियों का नाश करता था।[१] सम्भव है यह अधिकारी राजकीय भोजनालय के लिए भी पशुओं का शिकार करता हो।

पालागल का उल्लेख केवल शतपथ ब्राह्मण में मिलता है जिसकी गणना प्राचीनतम ब्राह्मण साहित्य के अन्तर्गत नहीं है। इससे स्पष्ट है कि इसे ब्राह्मण युग के अन्तगति में रत्नी सूची में स्थान मिला जो इसके नवोदित महत्व की सूचना देता है। अल्तेकर महोदय उसे परवर्ती युगों के विदूषक की भांति राजा का अन्तरंग मित्र मानते हैं। किन्तु शतपथ ब्राह्मण (५.३.१.११) से यह प्रकट होता है कि वह संदेशवाहक का काम या दौत्य कर्म करता था। यह शूद्र वर्ण का होता था।[२] फिर भी उसका राजनैतिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान था। राज्य की आन्तरिक एवं बाह्य घटनाओं, कुचक्रों एवं विचारधाराओं की सूचना वह राजा को देता था। साथ ही राजकीय सन्देश दूसरे राज्यों में पहुँचाता था। इस प्रकार राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध, युद्ध और विग्रह की स्थिति में सदैव उसका महत्व था। आस्ट्रेलिया की आदिम जातियों में भी इस प्रकार के सन्देशवाहकों का राजनैतिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान होता है।[३] वे जातीय भोज, प्रतिकार सम्बन्धी युद्ध की तैयारी, अथवा जातीय सभा की सूचना को प्रसारित करने के लिये विशेषतः महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। पंचविंश ब्राह्मण (१६.१.४) में राजा के सहायक आठ वीरों का उल्लेख है जिसमें रत्नी-सूची को पुरोहित, महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षत्तृ और संग्रहीतृ के अतिरिक्त राज-भ्राता और राजपुत्र को भी सम्मिलित किया गया है। यद्यपि अन्तिम दो को रत्नी-सूची के अन्तर्गत स्थान नहीं दिया गया है किन्तु पंचविंश ब्राह्मण के इस अंश से सिद्ध है कि शासन-कार्य में इन दोनों का भी पर्याप्त योग था।

हीस्टरमैन ने यह विचार प्रकट किया है कि रत्नियों के नाम से तत्कालीन शासन-व्यवस्था पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।[४] उनके अनुसार रत्नी-

१. मिक्रिण्डल—मेगस्थनीज, पृ० ८४
२. शत० ब्रा० १३.५.५.८
३. अलेक्जेण्डर गोल्डेनवेइजर, एन्थ्रोपोलोजी, पृ० ३८०
४. दी ऐन्श्येन्ट इण्डियन रायल कन्सेक्रेशन, पृ० ५३

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

सूची में राज-पत्नियों, राज्याधिकारियों एवं कर्मचारियों तथा कारीगर वर्ग के लोगों के नाम अस्त-व्यस्त रूप में मिश्रित है। किन्तु वे भूल जाते है कि उत्तर-वैदिक भारतीय समाज, जो अभी लौह-युग में प्रवेश कर रहा था, इतना विकसित नहीं था कि राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक जीवन को पूर्णतः पृथक् किया जा सके। शासन-व्यवस्था के क्षेत्र में पुरोहित, राजपत्नियों तथा रथकार और तक्षन जैसे कारीगरों का प्रवेश हमें इस लिये आश्चर्यजनक लगता है कि हम पुरा-ऐतिहासिक शासन-पद्धति को वर्तमान सरकारों की पृष्ठभूमि में देखने का प्रयास करते हैं। वैदिक समाज धर्म प्रधान था अतः उस युग के राजनैतिक जीवन में पुरोहित का प्रवेश सर्वथा स्वाभाविक है। जहाँ तक राजपत्नियों का सम्बन्ध है, हम जानते हैं कि उनका भी राजनैतिक महत्व मूलतः धार्मिक एवं सामाजिक कारणों से ही था। मैत्रायणी संहिता की रत्नी-सूची में व्यवसायों की विशिष्टता एवं अत्यधिक उपयोगिता के कारण तक्षन और रथकार को रत्नी सूची में स्थान अवश्य दिया गया है किन्तु अन्य सूचियों से उनके नाम का बहिष्कार इस बात की सूचना देता है कि क्रमशः रत्नियों की सूची में वही लोग रह गये थे जो राजनैतिक दृष्टिसे महत्वपूर्ण थे। पीछे हम देख चुके हैं कि किस प्रकार प्रायः प्रत्येक रत्नी अपने ढंग से शासन कार्य में सहायक था।

काशी प्रसाद जायसवाल रत्नियों को मूलतः समिति का सदस्य मानते हैं[१] किन्तु इस अनुमान के लिए कोई आधार नहीं है। इसके विपरीत स्थिति इस सम्भावना के प्रतिकूल दिखाई देती है। प्रथमतः, समिति नामक संस्था का पूरे ब्राह्मण साहित्य में कहीं उल्लेख नहीं है जिससे इसका अस्तित्व ही सर्वथा संदिग्ध प्रतीत होता है। दूसरे, रत्नी-मण्डल की रानियां समिति जैसी किसी लोकसभा की प्रतिनिधि नहीं हो सकतीं। यही बात सेनानी, भागदुध, संग्रहीतृ आदि-अन्य अधिकारियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। पुरोहित, राजा, ग्रामणी और पालागल चार वर्णों का प्रतिनिधित्व करते थे, यह बात भी पूर्णतः संदिग्ध है।[२] वस्तुतः पुरोहित, ग्रामणी और पालागल भी राजनैतिकमहत्व के कारण ही रत्नी-सूची के सदस्य थे। समाज के विभिन्न वर्गों से इनका सम्बन्धित होना पूर्णतः आकस्मिक है। जायसवाल

१. हिन्दू राजतंत्र, भाग २, पृ० ३४
२. वही

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

का यह मत पूर्णतः निर्विवाद है कि ये रत्नी राज्य के उच्च-अधिकारी थे। विभिन्न रत्नियों में उनके पद और महत्व की दृष्टि से कुछ अन्तर और संस्तरण (Official hierarchy) अवश्य रहा होगा किन्तु उनके पद और प्रतिष्ठा में बहुत अन्तर नहीं था।[१] क्योंकि राजा के लिए सभी रत्नियों की सहायता समान रूप से महत्वपूर्ण एवंस्पृहणीय मानी गई है।

उत्तर-वैदिक साहित्य तथा धर्मसूत्रों में राज्य की परिभाषा अथवा उसके सात अंगों का कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है।[२] सर्वप्रथम कौटिल्य ने राज्य के सात अंग स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र का उल्लेख किया है।[३] कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अतिरिक्त अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी राज्य के सप्तांगों का उल्लेख हुआ है।[४] किसी भी सुविकसित राज्य में इन सात तत्वों का समावेश अनिवार्य समझा जाता था। कुछ विद्वानों ने वैदिक एवं सूत्र साहित्य में इन सप्तांगों का उल्लेख न मिलने का कारण इस संस्था के पूर्ण विकास की स्थिति का अभाव माना है।[५] किन्तु उत्तर-वैदिक साहित्य के अध्ययन से प्रकट होता हैं कि इस युग में राज्य के ये सातों तत्व अस्तित्व में आ चुके थे। उनका सैद्धान्तिक व्यवस्थापन बाद में सम्पन्न हुआ जिसका श्रेय सर्वप्रथम कौटिल्य को दिया जा सकता है। राजनीतिशास्त्र के आधुनिक विचारकों ने राज्य के चार आवश्यक तत्व माने हैं--सम्प्रभुता, सरकार, भूमि और जनता। जब हम सप्तांग सिद्धान्त से इसकी तुलना करते हैं तो ज्ञात होता हैं कि ये चारों तत्व क्रमशः स्वामी, अमात्य और जनपद के अन्तर्गत

राज्य के सात अंग

---

१. घोषाल-हिस्टीरियोग्रैफी एण्ड अदर एसेज, पृ० २५५, पाटटिप्पणी

२. सरस्वती विलास नामक पुस्तक में, जिसकी तिथि १६वीं सदी मानी गई है (काणो, हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र. १, ४१३) एक श्लोक में राज्य के सप्तांगों का उल्लेख है, जिसे गौतम धर्म सूत्र से उद्धृत बतलाया गया है किन्तु गौतमधर्मसूत्र में नहीं मिलता।

३. अर्थशास्त्र ६.१

४. मनु० ९.२९४, शान्तिपर्व ६९.६२–३, विष्णु० ३.३३, याज्ञवल्क्य १.३५३ आदि।

५. शर्मा–ऐस्पेक्ट्स आव पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, पृ० १४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

आ जाते हैं। स्वामी अथवा राजा में सम्प्रभुता निहित थी[१] तथा अमात्य मंडल द्वारा शासन संचालन होता था। जनपद एक ऐसा तत्व था जिसके अन्तर्गत जनता और उसके द्वारा अधिकृति भूमि दोनों का समावेश है। इस प्रकार आधुनिक राज्य का निर्माण करने वाले तत्वों को दृष्टि में रखने पर निश्चय ही प्राचीन भारतीयों की राज्य-विषयक धारणा नितान्त अर्वाचीन लगती है।[२]

जब हम वैदिक साहित्य में राज्य के इन सातों तत्वों को ढूंढ़ते हैं तो अप्रत्यक्ष प्रमाणों का ही आश्रय लेना पड़ता है। सप्तांग का स्वामी वैदिक युग में राजा ही था क्योंकि वह निश्चित रूप से राष्ट्र रूपी शरीर के सर्वोच्च स्थान पर आसीन माना जाता था।[३] वह राज्य का केन्द्रविन्दु तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति था।[४] उसकी प्रभुता सर्वव्यापी थी।[५]

यजुर्वेद में उल्लिखित रत्नी-सूची के विविध अधिकारी एवं कर्मचारी अमात्यमण्डल के सदस्य माने जा सकते हैं यद्यपि उनके लिये अमात्य शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है किन्तु उनका स्वरूप बहुत कुछ प्राग्-मौर्य साहित्य में वर्णित अमात्यों के समान था।[६] प्राग् मौर्य युग में शासन में भाग लेने वाले विभिन्न अधिकारी एवं कर्मचारी अमात्य नाम से अभिहित किये जाते थे।[७] इन अमात्यों में ग्राम-प्रधान अथवा ग्रामणी से लेकर न्यायाधीश और धर्माधिकारी तक सम्मिलित थे। इस प्रकार रत्नी-सूची के पुरोहित, सेनानी, सूत, ग्रामणी, संग्रहीतृ, भागधुक आदि को परवर्ती युग के अमात्यों का पूर्वरूप माना जा सकता है। अर्थशास्त्र में भी प्रधान पुरोहित, मंत्री, कर वसूलने वाले अधिकारी, तथा कोषाध्यक्ष आदि अधिकारियों को आमत्य-मण्डल का सदस्य माना गया है।[८]

---

१. स्वामी शब्द से ही राजा के सर्वव्यापी प्रभुता का अनुमान किया जा सकता है।
२. पुसाल्कर–एज आव इम्पीरियल यूनिटी, पृ० ३०७
३. अथर्ववेद ३. ४. २
४. शुक्ल यजुर्वेद, २०. १
५. अथर्ववेद ४. २२. ७
६. मेहता आर० एन०, प्री-बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १३६
७. फिक, शोसल आर्गनाइजेशन आव नार्थ-ईस्टर्न इण्डिया, पृ० १४५-९
८. १. ९-१०, १६, ८. १

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

अर्थशास्त्र में तीसरी प्रकृति को जनपद कहा गया है तथा मनु और विष्णु ने इसे राष्ट्र कहा है। यह तत्व भूमियुक्त-राज्य की स्थिति का संकेत करता है। जैसा कि पहले ही बतलाया गया है, उत्तर वैदिक युग तक भूमियुक्त राज्यों की स्थापना हो चुकी थी। उत्तर-वैदिक साहित्य में राष्ट्र और जनपद इन दोनों शब्दों का राजा और शासन के प्रसंग में अनेक बार उल्लेख हुआ है। चौथा तत्व कौटिल्य ने दुर्ग माना है किन्तु मनु ने इसे पुर नाम दिया है। महाभारत के एक अंश से प्रकट होता है कि पुर राजधानी को कहते थे।[१] उत्तर-वैदिक युग से ही इन राजधानियों को सुरक्षा की दृष्टि से प्राचीरों तथा परिखा से परिवेष्टित करने की परम्परा चल पड़ी थी[२] इसलिए पुर को दुर्ग भी कहा जाने लगा। उत्तर-वैदिक युग में आसंदीवन्त तथा कौशाम्बी आदि पुरों का अस्तित्व अप्रत्याख्येय है। उत्तर-वैदिक साहित्य में भागधुक और संग्रहीतृ के के उल्लेख से स्पष्ट है कि राजकीय कोष की उचित व्यवस्था भी होती थी। कौटिल्य ने सैन्य शक्ति को ही राज्य का छठां तत्व—दंड माना है। यजुर्वेद की संहिताओं और ब्राह्मणों में सेनानीका अनेकशः उल्लेख राज्य द्वारा समुचित सैन्य-संगठन की पुष्टि करता है। कौटिल्य के अनुसार राज्य का अन्तिम अंग मित्र है। मित्र अथवा सुहृद का स्पष्ट उल्लेख तो वैदिक साहित्य में नहीं मिलता किन्तु सम्भव है राज्याभिषेक के अभिषेचनीय नामक कृत्य में भाग लेने वाला जन्य या जन्यमित्र अर्थशास्त्र और स्मृतियों का मित्र या सुहृद हो।[३]

---

१. मनु० ६. २६, विष्णु० ३. ३३
२. शर्मा, एक्सकेवेन्स एट कौशाम्बी, पृ० ६
३. घोषाल, स्टडीज़ इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३१८

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

समाज और धर्म

पूर्व-वैदिक धर्म के तीन प्रमुख पक्ष हैं—देव-तत्व, यज्ञ-तत्व तथा दार्शनिक चिन्तन। इनमें देव-तत्व का ही प्राधान्य है। ऋक्संहिता के अधिकांश सूक्तों में देवताओं को प्रसन्न करने के लिये स्तुतिपरक ऋचायें ही संग्रहीत हैं। इन्हीं देवताओं को प्रसन्न करने के लिये यज्ञ भी किये जाते थे। यज्ञों का स्वरूप अत्यन्त सरल एवं साधारण था। यद्यपि दार्शनिक चिन्तन की झलक भी ऋग्वेद में यत्र-तत्र उपलब्ध है[१] तथापि सम्पूर्ण ऋक्संहिता में विस्तृत दार्शनिक चर्चा का अभाव ही है। उत्तर-वैदिक युग में हम देव-तत्व का ह्रास तथा यज्ञ एवं दार्शनिक चिन्तन की दिशा में झुकाव पाते हैं। तत्कालीन धर्म के अन्तर्गत स्थूल यज्ञीय कर्मकाण्डों का विस्तार तथा सूक्ष्म तत्व-चिन्तन की गरिमा—दोनों समान रूप से दृश्य हैं। यजुर्वेद तथा ब्राह्मणों में यज्ञ-संस्था का साम्राज्य है। उस युग के धार्मिक विश्वासों के अनुसार यज्ञ ही वह परम शक्तिमान साधन है जिसके द्वारा देवता भी वशीभूत किये जा सकते हैं।[२] इसी के द्वारा लौकिक सुख और पारलौकिक शान्ति भी सम्भव है। उत्तर-वैदिक युग में यज्ञमूलक धर्म का जो अतिशय विकास एवं विस्तार हुआ उसके परिणामस्वरूप मूल धार्मिक भावना लुप्त-प्राय हो गई तथा धर्म का प्रतीकात्मक एवं आडम्बरपूर्ण कलेवर ही अधिक महत्वपूर्ण हो गया।[३] इस प्रकार पूर्ववैदिक धर्म की सादगी और सरलता इस युग में नष्ट हो गई तथा उसका स्थान भावहीन कृत्रिम उपचारों ने ले लिया। धर्म, साहित्य एवं कला के क्षेत्रमें जटिलता एवं दुरूहता बहुधा भाव-शून्यता का परिचायक हुआ करती है। कर्मकाण्डों के इस विस्तार के स्वाभाविक प्रतिक्रियास्वरूप उपनिषत्काल में दार्शनिक चिन्तन की वह प्रबल धारा प्रवाहित हुई जिसका उद्गमन ऋक्संहिता से हुआ था तथा जिसकी गति परवर्ती संहिताओं एवं ब्राह्मणों के युग में प्रायः अवरुद्ध ही गई थी।

---

१. ऋ० १. १६४, १०. १२९, १०. ९०, १०. १२१,

२. तै० सं० २. ३. १. ५, पंच० ब्रा० ९. २. २२

३. राधाकृष्णन, इण्डियन फिलोसोफी, पृ० १२३.

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

सामाजिक और आर्थिक परिवेश तथा धर्म पर उसका प्रभाव

यद्यपि उत्तर-वैदिक समाज पर धर्म का अतिशय प्रभाव अप्रत्याख्येय है तथापि नवोदित सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों ने भी धर्म के विकास एवं धार्मिक दृष्टिकोण में न्यूनाधिक परिवर्तन को प्रभावित एवं प्रोत्साहित किया। वर्ण व्यवस्था के विकास के साथ ही वंशानुगत ब्राह्मण वर्ग अस्तित्व में आया। पौरोहित्य ब्राह्मणों का व्यवसाय था। ऋक्संहिता में ही ब्राह्मणों (पुरोहितों) की श्रेष्ठता को स्थिर करने का प्रयास प्रतिध्वनित है। एक प्रसंग में यह स्पष्ट कहा गया है कि राजा की समृद्धि तभी होती है जब राजा ब्राह्मण का आदर करता है।[१] उत्तर-वैदिक युग तक यज्ञ-कार्य पुरोहित की सहायता के बिना असम्भव माना गया।[२] पौरोहित्य अब एक मात्र ब्राह्मणों का वर्ण-धर्म बन गया। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने अपने व्यवसाय को अधिक लाभप्रद और स्थायी बनाने का स्वभावतः प्रयास किया। उत्तर-वैदिक यज्ञ-संस्था के आशातीत विस्तृत, विपुलकाय एवं जटिल होने का एक प्रमुख कारण ब्राह्मण-पुरोहितों का वर्गगत स्वार्थ भी था, जिसके परिणाम स्वरूप धर्म के उदात्त आदर्श निष्प्रभ हो गये। यज्ञों को रहस्यात्मक एवं दुरूह बनाने के लिए अधिकतर प्रतीकों का सहारा लिया गया तथा भाषा का प्रयोग भी इस प्रकार किया गया मानो उसका उद्देश्य विचारों को प्रकट न करके अवगुंठित करना हो।[३] इन विविध प्रतीकों एवं निर्देशों को समझने में पुरोहित ही समर्थ थे। एकान्त रूप से पौरोहित्य में प्रवृत्त होने के कारण जहाँ ब्राह्मणों ने यज्ञ संस्था को विकसित किया वहीं जन-साधारण में भय-मिश्रित श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये यज्ञों का स्वरूप रहस्यमूलक भी बनाया। समाज को यज्ञ-संस्था की ओर प्रेरित करने के लिए ब्राह्मण-साहित्य में यज्ञ की महत्ता तथा विविध अनुष्ठानों से उत्पन्न सुपरिणामों का विशद उल्लेख भी हुआ। विशाल श्रौत यज्ञ जो महीनों तक चलते थे पुरोहितों की आय में वृद्धि के महत्वपूर्ण साधन बने। अश्वमेध जैसे यज्ञ में तो यदाकदा पुरोहित (अध्वर्यु) राजा की चतुर्थ पत्नी को भी दक्षिणा में प्राप्त कर लेता था।[४] इस नवीन धार्मिक

---

१. ऋ० ४.५०.८

२. ऐत० ब्रा० ४०.१

३. राधाकृष्णन, इण्डियन फिलोसोफी, पृ० १२६

४. द्रष्टव्य, रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, पृ० ३४५

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप देव-तत्व की महत्ता में भी ह्रास हुआ। पूर्व-वैदिक काल में देवताओं को प्रार्थना द्वारा प्रसन्न किया जाता था। इसके लिए पुरोहित की सहायता अपेक्षित नहीं थी। इसके विपरीत उत्तर-वैदिक काल में यज्ञ को देवताओं को तुष्ट करने का सर्वोत्तम साधन माना गया। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि पुरोहितों की अर्थदृष्टि तथा सामाजिक प्रभुत्व के नियंत्रण की भावना ने क्रमशः साधन को साध्य बना दिया और इस प्रकार देवताओं की तुलना में यज्ञ की प्रधानता घोषित हुई। यज्ञ को सृष्टि का मूल माना गया तथा यह कहा गया कि देवता भी यज्ञ से ही शक्ति धारण करते हैं।[१] अनेक प्रमुख देवताओं का तादाम्य भी यज्ञ के साथ स्थापित किया गया। वर्ण-व्यवस्था के विकास तथा राजनैतिक संगठन के स्थैर्य के साथ-साथ प्रभुत्व-सम्पन्न राजन्य वर्ग शक्ति एवं साम्राज्य के विस्तार हेतु सचेष्ट हुआ। इन राजन्यों के राजनैतिक जीवन में पुरोहित सर्वश्रेष्ठ सहायक था।[२] इन धर्म-प्राण राजाओं ने आन्तरिक शान्ति, शत्रु-विनाश एवं दिग्विजय की कामना से तथा सम्राट, एकराट् आदि पदों की प्राप्ति के लिए बड़े-बड़े सोमयज्ञों का सम्पादन किया। इन यज्ञों से उन्हें यश भी प्राप्त हुआ और मानसिक शान्ति भी। ब्राह्मणों में कुरु-पंचाल के अनेक राजाओं का सादर उल्लेख है जिन्होंने अश्वमेध के सम्पादन से सार्वभौम पद की प्राप्ति की।

यज्ञमूलक धर्म के पीछे बढ़ती हुई भौतिक समृद्धि तथा नवीन आर्थिक परिस्थितियों का भी विशिष्ट योग था। उत्तर-वैदिक युग में मध्यदेश के उर्वर शस्य-श्यामल प्रदेश में कृषि और पशुपालन के क्षेत्र में प्रगति तो हुई ही, साथ ही नागरिक जीवन के प्रारम्भ तथा वाणिज्य, व्यापार एवं विविध उद्योगों के विकास के कारण आर्थिक प्रगति के नये द्वार खुले जिनके परिणामस्वरूप छठीं सदी ई० पू० तक श्रावस्ती और कौशाम्बी प्रभृति नगरों में अनाथपिण्डक और घोषक जैसे धनपति अस्तित्व में आये जिन्होंने अपनी आर्थिक समृद्धि से बौद्ध धर्म के सम्वर्धन का प्रयत्न किया। उत्तर-वैदिक

---

१. पंच० ब्रा० १.८.४.१

२. राजसूय के रत्नहविषी नामक अनुष्ठान में शतपथ ब्राह्मण को छोड़कर अन्य अभी ग्रन्थ पुरोहित को सर्वश्रेष्ठ रत्नी मानते हैं।
द्रष्टव्य, घोषाल, हिन्दू पब्लिक लाइफ, पृ० ७९।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

युग में भी आर्थिक दृष्टि से समृद्ध एवं सम्पन्न वैश्यों का अभाव नहीं रहा होगा। यह बात उन वैदिक प्रसंगों से सूचित होती है जिनमें स्पष्टतः यह कहा गया है कि वैश्य की सहायता के अभाव में यज्ञ सफल नहीं होते।[१] यज्ञमूलक धर्म शूद्रों के लिये दुष्कर था किन्तु उन्हें तो सांस्कृतिक पार्थक्य एवं आर्थिक हीनता के कारण नियमतः यज्ञ कर्म से बहिष्कृत कर दिया गया था।[२]

उपनिषत्कालीन दार्शनिक चिन्तन-धारा के विकास के पीछे कर्मकाण्ड-प्रधान यज्ञ-संस्था के विरुद्ध होने वाली सामाजिक प्रतिक्रिया थी जिसका मुखर रूप आरण्यकों में द्रष्टव्य है। जिज्ञासु एवं बुद्धिजीवी जनों ने कर्मकाण्डों की स्थूलता एवं वाह्याडम्बर में अन्तर्निहित सत्य को ढूंढ़ने का प्रयास किया। फलतः कालक्रमेण देवयजन के समक्ष आत्मयजन की श्रेष्ठता प्रतिपादित हुई। कर्म से विद्या का अधिक महत्व शीघ्र ही समझा और घोषित किया गया।[३]

यज्ञों का विकास एवं विस्तार

यज्ञ उत्तर-वैदिक धर्म का मेरुदंड है। अग्नि में नाना देवताओं को उद्दिष्ट कर हविष्य अथवा सोमरस का हवन यज्ञ के नाम से अभिहित किया जाता है। नृतत्ववेत्ताओं ने यज्ञों के विकास के पीछे अनेक मूलभूत कारणों का उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ बलिदान (Gift offering) पितृ-पूजा (Ancestor-Worship) उर्वरतामूलक अनुष्ठान (fertility rite) देवता से सामीप्य स्थापन (Communion with deity) तथा पापों से मुक्ति आदि यज्ञ के प्रमुख प्रेरक तत्व माने गये हैं।[४] इनमें से प्रायः प्रत्येक के समर्थक प्रमाण ब्राह्मणों में उपलब्ध होते हैं।[५] यजुर्वेद तथा ब्राह्मणों में यज्ञ-संस्था का साम्राज्य है तथा उसके

---

१. ऐत० ब्रा० १.६
२. शत० ब्रा० ३.१.१.१०
३. स्टडीज इन दि ओरिजिन्स आव बुद्धिज्म, पृ० २७६-८०
४. द्रष्टव्य, रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग १, पृ० ३५३-२७८
५. द्रष्टव्य—रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग १, पृ० २५७ और उसके आगे। अश्वमेध उर्वरतामूलक यज्ञ है। पिण्ड-पितृयज्ञ में पितृपूजा स्पष्ट है। इसी प्रकार 'इडाभक्षण' अनुष्ठान देवता से सामीप्य की भावना का संकेत करता है। बलिदान तथा पाप से मुक्ति का भाव तो विविध यज्ञों में प्रकट रूप से विद्यमान है।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

नाना अनुष्ठानों का इतना सूक्ष्म वर्णन है कि पाठक को आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। इस संस्था के सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन के लिए श्रौत एवं गृह्य सूत्रों की सहायता भी अपेक्षित है। उत्तर वैदिक युग में यज्ञ बहुत ही व्ययसाध्य, विस्तृत एवं रहस्यात्मक हो गये थे। कुछ यज्ञ महीनों तथा वर्षों तक चलते थे। इनका सम्पादन अधिकांशतः सांसारिक सुख एवं ऐश्वर्य के लिये होता था। इनमें अन्तर्निहित वणिक-वृत्ति (लेन-देन का भाव) यजुर्वेद तथा ब्राह्मणों में अनेकत्र मुखरित है।[१] इस युग में सब कर्मों में यज्ञ को श्रेष्ठ माना गया।[२] यज्ञ से सृष्टि के निर्माण की बात ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में ही मिलती है जिसे प्रकारान्तर से ब्राह्मणों में अनेकशः दुहराया गया है।[३] यज्ञ को पाप से मुक्ति के सर्वश्रेष्ठ साधन के रूप में भी प्रतिष्ठित किया गया। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अग्निहोत्र अनुष्ठान से प्राणी अपने सब पापों से मुक्त हो जाता है।[४] इसी ग्रन्थ में अन्यत्र कहा गया है कि अश्वमेध करने वाला अपने समस्त पापों को तथा ब्रह्महत्या को दूर भगा देता है।[५] गोपथ ब्राह्मण में एक सुन्दर उपमा द्वारा इस पापमोचन के तत्व को समझाया गया है। इसके अनुसार जिस प्रकार सांप अपनी पुरानी केंचुल से छूट जाता है तथा 'इषीका' मूज से छूट जाती है उसी प्रकार शाकला का हवन करने वाला समस्त पापों से छूट जाता है।[६] उत्तर-वैदिक साहित्य में इस बात का प्रचुर संकेत है कि यज्ञ देवताओं से भी अधिक महत्वपूर्ण माने जाते थे। इस युग के प्रमुख देवताओं को यज्ञ का आध्यात्मिक प्रतीक माना गया। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यज्ञ प्रजापति का ही प्रत्यक्ष रूप है।[७] इसी प्रकार विष्णु तथा आकाश में देदीप्यमान आदित्यों का भी तादात्म्य यज्ञ से स्थापित किया गया।[८] पंचविंश ब्राह्मण के एक प्रसंग में तो यह भी कहा गया है कि

---

१. वाज० सं० ३.५०, शत० ब्रा० ३.५.३.१९

२. शत० ब्रा० १.७.३.५, यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।

३. ताण्डय ब्रा० ६.१

४. शत ब्रा० २. ३. १. ६

५. शत० ब्रा० १३. ५. ४. १

६. गो० ब्रा० ४. ६

७. शत० ब्रा० ४. ३. ४. ३, एषवै प्रत्यक्ष यज्ञो यत् प्रजापतिः।

८. शत० ब्रा० ५. २. ३. ६, ५. ४. ५. १, १४. १. १.१६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

यज्ञ द्वारा ही देवता तेज एवं शक्ति प्राप्त करते हैं।[१] उत्तर वैदिक साहित्य में यज्ञ द्वारा देवताओं को बाध्य एवं वशीभूत करके इच्छानुकूल फल के प्राप्ति की बात अनेकत्र कही गई है।[२]

इस युग में अनेक यज्ञों में ऋत्विक् के कर्मों का चतुर्था विभाजन दृष्ट होता है। होता नामक ऋत्विक् ऋक्संहिता के ऋचाओं का पाठ करता था। अध्वर्यु कर्म का भार सम्हालता था तथा यजुर्वेद से सम्बद्ध होता था। उद्गाता सामगान करता था और ब्रह्मा समस्त यज्ञ-कर्म का अध्यक्ष होता था। उसका सम्बन्ध अथर्ववेद से था। सोम यज्ञों में पुरोहितों की संख्या सोलह तक होती थी जो विविध कर्मों को सम्पादित करते थे। इनमें मुख्य ऋत्विजों के तीन-तीन सहायक हुआ करते थे।

उत्तर-वैदिक काल में यज्ञों की संख्या में अतिशय विस्तार हुआ तथा स्थूलरूपेण उनके वर्गीकरण का भी प्रयास किया गया। अग्नि प्रमुखतया दो प्रकार की मानी गई–स्मार्ताग्नि और श्रौताग्नि।

यज्ञों का वर्गीकरण

इनमें प्रथम अग्नि कीस्थापना प्रत्येक विवाहित व्यक्ति के लिये कर्तव्य है। इस गृह्याग्नि में क्रियामाण यज्ञ पाक-यज्ञ कहलाता है, जिसके अन्तर्गत औपासन होम, वैश्वदेव, पार्णव, अष्टका मासिक, श्राद्ध, श्रवण, शूलगव आदि सात यज्ञों की गणना हुई है। ये यज्ञ साधारण और सरल हैं। श्रौत यज्ञों को हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ इन दो भागों में विभाजित किया गया है।[३] हविर्यज्ञ के अंतर्गत अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रयण, निरुढ़-पशु-बन्ध, सौत्रामणी और पिण्ड-पितृयज्ञ माने गये हैं। इसी प्रकार सोमयाग के अन्तर्गत अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम का उल्लेख है। पुनश्च यज्ञों का विभाजन एकाह, अहीन और सत्र में हुआ है। ब्राह्मण युग में राजसूय और अश्वमेध सर्वाधिक महत्वपूर्ण सोम-यज्ञ माने गये। राजाओं की शक्ति एवं प्रभुत्व में वृद्धि के साथ-साथ राजनैतिक महत्व के इन यज्ञों की महत्ता में वृद्धि स्वाभाविक थी। ब्राह्मण युग तक सोम-यज्ञों के लिये विस्तृत चितियों के निर्माण पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा।

---

१. पंच० ब्रा० १. ८. ४.१

२. तै० सं० २. ३, १. ५, पं० ब्रा० ६. २. २२

३. काणे, हिस्टरी आव धर्मशास्त्र, जिल्द २, भाग २, पृ० ९७६
कीथ, रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग २
विन्टरनित्स, हिस्टरी आव इण्डियन लिटरेचर, भाग १, पृ० २७१

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

अग्निहोत्र

अग्निहोत्र प्रतिदिन प्रातःकाल और सन्ध्याकाल में अग्नि की उपासना है जिसमें मुख्यतः दूध की तथा गौणतः यवागू, तण्डुल, दधि और घृत की आहुति दी जाती थी। ब्राह्मण-साहित्य में अग्निहोत्र के उद्देश्य एवं महत्व पर गौमत्य है। यह प्रायः स्वीकृत है कि इसका उद्देश्य अंशतः उदीयमान सूर्य की सहायता करना है।[१] इसे पापों से मुक्त करने वाला तथा स्वर्ग ले जाने के लिये उत्तम नाव माना गया।[२] सूर्य के विषय में यह विश्वास था कि वह शाम की अग्नि में समाहित हो जाता है।[३] इस आधार पर अनेक कल्पनायें की गई। अग्निहोत्र के अनेक तत्वों की प्रतीकात्मक व्याख्या भी हुई।[४] जनक को इस बात का श्रेय दिया गया है कि उन्होंने अग्निहोत्र की प्रक्रिया को द्यु लोक, अन्तिरिक्ष, पृथ्वी, पुरुष एवं स्त्री में ढूंढने का प्रयास किया।[५] इस प्रसंग में अग्निहोत्र की दार्शनिक व्याख्या का प्रयास दिखाई देता हैं।

दर्श और पूर्णमास

दर्श और पूर्णमास यज्ञ को अन्य सभी इष्टियों की प्रकृति माना गया है। दर्श पूर्णमास याग क्रमशः अमावस और पूर्णिमा को किये जाते थे। दर्श में आग्नेय पुरोडाश याग, इन्द्र देवताक दधि-द्रव्यक याग तथा इन्द्रदेवताक पयोद्रव्यक याग, ये तीन भाग होते हैं। पौर्णमास में अग्नि देवताक अष्टाकपाल पुरोडाश याग, अग्निषोमीय आज्यद्रव्यक उपांशुयाग, तथा अग्निषोमीय एकादश कपाल पुरोडाश याग, ये तीन भाग होते हैं। इस प्रकार छः यागों की समष्टि दर्शपूर्णमास के नाम से प्रसिद्ध है। दर्श में अग्नि और इन्द्र प्रमुख देवता हैं और पूर्णमास में अग्नि और सोम। सोम और अग्नि के इस विचित्र सम्पर्क ने विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है।[६] सम्भवतः

---

१. द्रष्टव्य, रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, पृ० ३१८

२. शत० ब्रा० १, पृ० १९१ (अच्युत ग्रन्थमाला)

३. शत० ब्रा० १ पृ० १७८ (,,)

४. शत० ब्रा० २, पृ० ११७४(,,)

५. शत ब्रा० १, पृ० २५० (,,)

६. ओल्डेनवर्ग का मत, रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग २, पृ० ३२१ पर उद्धृत

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

लोगों का ऐसा विश्वास था कि दर्श यज्ञ के सम्पादन से चन्द्रमा के पुनरोदय एवं वृद्धि में सहायता मिलती है।[१]

चार-चार मासों में अनुष्ठेय होने के कारण इसका यह नामकरण है। इसका सम्बन्ध स्पष्टतः ऋतुओं से है। इसमें चार पर्व होते हैं। वैश्वदेव का फाल्गुनी पूर्णिमा को तथा वरुण-प्रघास का सम्पादन आषाढ़ी पूर्णिमा को होता था। साकमेध चार मासों के अनन्तर कार्तिकी पूर्णिमा को तथा शुनासीरीय फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा को अनुष्ठेय थे। वरुण-प्रघास का सम्बन्ध स्पष्टतः पापमोचन से है।[२] शुनासीरीय कृषि-कर्म से संबंधित अनुष्ठान है।[३] यह भी कहा गया है कि वैश्वदेव अग्नि से सायुज्य प्राप्त कराता है, वरुण-प्रघास वरुण से तथा साकमेघ इन्द्र से। साकमेध अनुष्ठान में त्र्यम्बक को बलि चढ़ाने की महत्वपूर्ण बात कही गयी है। उन्हें बलि चौराहे पर दी जाती थी। इस अवसर पर एक पिण्ड उत्तर की दिशा में चींटियों के झुण्ड पर फेंक दिया जाता था तथा कहा जाता था 'हे रुद्र यह तुम्हारा भाग है'। इस प्रसंग में आगे रुद्र से मूजवन्त के उस पार जाने को कहा जाता है।[४] साकमेध का यह प्रसंग दो बातों को सूचित करता है। प्रथम यह कि उत्तर-वैदिक ऋत्विज-समाज की दृष्टि में रुद्र की स्थिति अन्य देवतामों से पृथक् थी। दूसरे उनको बलि भी आदिम-विधि से प्रदत्त की जाती थी तथा यजमान-बलि द्वारा उन्हें दूर करने का प्रयास करता था।

चातुर्मास्य

आग्रयण इष्टि का प्रयोजन स्पष्ट हैं। नवीन उत्पन्न द्रव्य (धान तथा यव) से शरद तथा वसन्त में यह इष्टि विहित है। यह नित्य इष्टि है। इसकेअनुष्ठान के पश्चात् ही आहिताग्नि नये अन्न को खाता है।

आग्रयण

---

१. शत० ब्रा० २, पृ० ११९६-९७ (अच्युत ग्रंथमाला)
२. रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग २, पृ० ३२२
३. कीथ, पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक, भाग २, पृ० ३२३
४. द्रष्टव्य, रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आफ दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग २, ६० ३२२

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

पशु-यज्ञ प्रति वत्सर वर्षाऋतु में करने का विधान था। कहीं-कहीं उत्तरायण के तथा दक्षिणायन के आरम्भ में दो बार भी विकल्प से अनुष्ठान विहित है। द्रव्य है छाग और वह भी प्रत्यक्ष नहीं,

निरुढ़ पशु बन्ध

प्रत्युत उसके वपा, हृदय, वक्ष यकृत आदि नाना अंगों का होम इन्द्राग्नि, सूर्य, अथवा प्रजापति के उद्देश्य से अग्नि में विहित है। खदिर अथवा विल्व के वृक्ष में छाग को बाँध कर संज्ञपन करते हैं। तदनन्तर अंगविशेषों को निकाल कर यज्ञ में हवन करते हैं। क्रमशः पशुवध में होने वाली हिंसा की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ।[१] अतः पुरोहितों ने पशु-यज्ञ को रहस्यात्मक (Mystical) और मिथ्याभिचारिक (Quasi-Magical) स्वरूप प्रदान करने का प्रयास भी किया ।[२]

यद्यपि सूत्र-साहित्य में सौत्रामणी को हविर्यज्ञ के अन्तर्गत स्थान दिया गया है किन्तु यह याग सोम-यज्ञ के अधिक निकट प्रतीत होता है।[३] इसमें पशु और सुरा की वलि दी जाती थी। हिलेब्रान्त

सौत्रामणी

इसे ब्रह्मणेतर अनुष्ठान मानते हैं जिसे सोम-यज्ञ के अनुसार परिष्कृत एवं सज्जित किया गया किन्तु कीथ महोदय ने इस मत की सतर्क आलोचना की है। वे इसका मूल इन्द्र संबंधी पुराकथा में आधारित मानते हैं।[४] स्वतंत्र और अंगभूत होने से यह इष्टि दो प्रकार की होती है। स्वतंत्र याग में ब्राह्मण का ही तथा अंगभूत में क्षत्रिय एवं वैश्य का अधिकार माना गया है। पशु तीन होते हैं—अज, मेष और ऋषभ तथा देवता भी यथाक्रम अश्विनौ, सरस्वती और इन्द्र होते हैं। प्रारम्भ मे 'सौत्रामण्यां सुराग्रहः' सम्भवतः एकान्त नियम था किन्तु आपस्तम्न श्रौतसूत्र में 'पयोग्रहा वा स्युः' 'नियम भी विकल्पतः मिलता है।[५]

---

१. शांखायन ब्राह्मण ११.१३ में कहा गया है कि यज्ञ में हिंसित पशु दूसरे लोक में जाकर यज्ञकर्ता को खाते हैं।

२. शत० ब्रा० १.३७९, ३८४ (अच्युत ग्रंथमाला)

३. रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड दि उपनिषद्स, भाग २, पृ० ३५२।

४. कीथ, पूर्वनिर्दिष्ट पुस्तक, भाग २, पृ० ३५३-५४, अतिशय सोम-पान से इन्द्र रुग्ण हुये तथा अश्विनौ और सरस्वती के प्रयत्न से स्वस्थ हुये।

५. आप० श्रौ० सू० १९.२.२३

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

पितृ यज्ञ के अन्तर्गत बलि द्वारा पितरों को सन्तुष्ट किया जाता था। इस यज्ञ के प्रसंग में पारिवारिक तथा श्रौत अनुष्ठानों में नितान्त साम्य है।

पिण्डपितृयज्ञ

पितृ यज्ञ के स्वरूप के अध्ययन से यह बात प्रकट होती है कि पितरों तथा देवताओं के प्रति लोगों के भाव में पर्याप्त अन्तर था।[१] देवताओं के प्रति किये गये यज्ञ में जहाँ फल-प्राप्ति की कामना प्रमुख थी वहीं पितृयज्ञ के मूल में पूर्वजों के प्रति श्रद्धा-भाव ही मुख्य प्रेरक तत्व था।

सोम यज्ञों की विशालता एवं जटिलता विशेष उल्लेखनीय है जो विशेषतः वाजपेय, अश्वमेघ तथा राजसूय इत्यादि राजनैतिक महत्व के यज्ञों में पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। सोम रस की आहुति देने से इन यज्ञों को सोमत्याग के अन्तर्गत माना गया है। वाजपेय प्रारम्भ में एक क्षत्रिय अनुष्ठान था जिसका लक्ष्य विजय प्राप्त करना था।[२] वैसे ब्राह्मण साहित्य में इसका सम्पादन ब्राह्मणों के लिये भी विहित है। ईशुप्रासन, अजिधावन, दुंदुभिवादन, आदि इसके प्रमुख तत्व हैं। यूपारोहण जैसे अनुष्ठानों को सम्भवतः बाद में जोड़ा गया।[३] अश्वमेध यज्ञ के सौर और उर्वरतामूलक अनुष्ठान होने के चिन्ह स्पष्ट हैं। इस दृष्टि से मेध्य अश्व तथा राजमहिषी का समागम उल्लेखनीय है।[४] मूलतः अश्वमेध यज्ञ का उद्देश्य उर्वरता के कारणभूत वसन्त के सूर्य के आगमन पर उत्सव मनाना था।[५] कालक्रमेण यह यज्ञ राजाओं के दिग्विजय से सम्बन्धित किया गया। राजसूय के अन्तर्गत राजा के अभिषेक तथा उससे सम्बन्धित अनेक अनुष्ठानों का संकलन है। अभिषेचन, द्यूतक्रीड़ा, रथ-धावन, तथा रत्नहविषी आदि इसके प्रमुख तत्व हैं। इस यज्ञ के प्रसंग में प्रयुक्त प्रतीक, प्रतिज्ञा तथा

सोम यज्ञ

---

१. रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड दि उपनिषद्स, भाग, २, पृ० ४३१

२. गो० ब्रा० ५.८

३. द्रष्टव्य, स्टडीज इन दि ओरिजिन्स आव बुद्धिज्म, पृ० २७७

४. शत० ब्रा० १३.५.२.२

५. रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग २, पृ० ३४६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

आशीष राजनैतिक संगठन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। साथ ही उनसे तत्कालीन सामाजिक संगठन, विशेषतः वर्णों के पारस्परिक सम्बन्ध एवं उनकी तुलनात्मक स्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है।

'यज्ञा यज्ञा वो अग्नये' (ऋ०.४८.१) ऋचा पर सामगान अग्निष्टोम कहलाता है। इस साम के अन्तिम होने से यह याग कहलाता है 'अग्निष्टोम संस्था' और लघुता की दृष्टि से केवल 'अग्निष्टोम'।

अग्निष्ठोम

यह याग पांच दिनों तक चलता है। ऐष्टिक वेदि में आनुषंगिक इष्टियों का तथा सौमिक वेदि में प्रधान इष्टियों का अनुष्ठान किया जाता है। प्रकृति याग होने से इसका विशेष महत्व है। बारह शस्त्रों का प्रयोग इसकी विशेषता है। हिलेब्रान्त महोदय इस अनुष्ठान को वसन्तोत्सव से सम्बन्धित मानते हैं किन्तु इस मत के पक्ष में प्रमाणों का अभाव है।[१]

उक्थ्य

इसका स्वरूप भी बहुत कुछ अग्निष्टोम के समान ही है। इसमें पूर्व याग से तीन शस्त्र अधिक होते हैं। शस्त्रों एवं स्तोत्रों की संख्या पन्द्रह होती है। दो पशुओं की बलि दी जाती है।

षोडशी

इस इष्टि मे उक्थ्म के अनन्तर एक षोडशी नामक स्तोत्र और विद्यमान रहता है। पन्द्रह स्तोत्रों को गर्भित कर एक और स्तोत्र की सत्ता इसकी विशिष्टता है। यह स्वतन्त्र क्रतु नहीं है इसलिये अग्निष्टोम की भांति इसका अनुष्ठान पृथक् रूप से नहीं होता है। इसमें मेध्य पशुओं में तीसरे पशु (मेष) भेड़ा का भी उल्लेख है।

अतिरात्र

षोडशिस्तोत्र के अनन्तर अतिरात्र संज्ञक सामों का गायन इस याग के अन्त में होता है। इसमें उन्तीस स्तोत्र और शस्त्र होते हैं। इसका सम्पादन रात्रिकाल में होता है तथा इसमें मेध्य पशुओं की संख्या चार होती है।

उपर्युक्त चारों यागों का सामूहिक अभिधान ज्योतिष्टोम है।[२] प्राचीनतर संहिताओं में अत्यग्निष्टोम, आप्तोर्याम और वाजपेय की गणना ज्योतिष्टोम

---

१. रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग २, पृ० ३२७

२. तै० ब्रा० १.५.११

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

के अन्तर्गत नही हुई है। सम्भवतः बाद में संख्या को सात करने के लिए इन्हें जोड़ दिया गया [१] क्योंकि सात की संख्या परम्परागत रूप से शुभ एवं पवित्र मानी जाती थी।

अत्यग्निष्टोम

इसमें अग्निष्टोम के अन्तर्गत बिना उक्थ्य किये ह षोडशी का विधान किया जाता है। इसमें तेरह शस्त्र एवं स्तोत्र होते हैं। अग्निष्टोम तथा अत्यग्तिष्टोम में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

आप्तोर्याम

आप्तोर्याम को यत्र-तत्र अतिरात्र के साथ अहीन यज्ञों के अन्तर्गत माना गया है तथा अन्यत्र इसकी गणना एकाह यज्ञों में हुई है। अतिरात्र के सन्धि स्तोत्र तथा आश्विन शस्त्र के बाद इसमें क्रमशः चार स्तोत्र और शस्त्र अधिक जोड़े गये हैं।[२]

पुरुषमेध

सोम यज्ञों में सर्वाधिक जटिल, विकृत एवं वीभत्स पुरुषमेध तथा अग्नि-चयन के प्रसंग में चिति-निर्माण से सम्बन्धित पंच-पशु यज्ञ है। पुरुषमेध के अन्तर्गत तो मनुष्य की बलि का विधान है ही,[३] साथ ही चिति-निर्माण में मेध्य पांच पशुओं के अन्तर्गत भी मनुष्य की गणना हुई है।[४] शुक्ल यजुर्वेद तथा कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मणों एवं सूत्रों में पुरुषमेध तथा अग्निचयन का जो वर्णन उपलब्ध होता है, उससे प्रकट होता है कि उत्तर-वैदिक युग में नरमेध सैद्धान्तिक रूप से स्वीकृत था। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि कुछ विद्वान नरमेध यज्ञ को पूर्णतः प्रतीकात्मक मानते हैं।[५] किन्तु इसके विपरीत विद्वानों का दूसरा पक्ष अंशतः वास्तविक नर-बलि की प्रथा का प्रचलन

---

१. आप० श्रौ० सू० १४.१.४, का० श्रौ० सू० १०.९.२८
२. द्रष्टव्य, कीथ, पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक, भाग २, पृ० ३२६
३. शत० ब्रा० १३.६.२.१, यदस्मिन मेध्यान्पुरुषानालभते तस्मादेव पुरुषमेधः।
४. शत० ब्रा० ६.२.१.१८
५. ईग्लिंग, सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, भाग ४४, पृ० ३४,
कीथ, रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग २, पृ० ३६२

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

स्वीकार करता है।[१] मित्र महोदय (R.L. Mitra) के मतानुसार तैत्तिरीय शाखा के अन्तर्गत पुरुषमेध का स्वरूप कथमपि प्रतीकात्मक नहीं था जब कि शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण शतपथ के अनुसार सभी मेध्य मनुष्य प्रतीकात्मक अनुष्ठान के पश्चात् मुक्त कर दिये जाते थे।[२] किन्तु उनका यह मत भी पूर्णतः निरापद नहीं है। ब्राह्मण एवं सूत्र साहित्य के अध्ययन से जो स्थिति स्पष्ट होती है उससे सूचित है कि कृष्ण यजुर्वेदीय एवं शुक्ल यजुर्वेदीय दोनों शाखाओं के अनुसार पर्यग्निकरण के पश्चात् कुछ मनुष्य मुक्त कर दिये जाते थे तथा बाकी का बलिदान होता था। कात्यायन श्रौत सूत्र में मेध्य मनुष्यों की मुक्ति के प्रति विशेष उदारता प्रदर्शित की गई है तथा विकल्पतः उनके स्थान पर हिरण्य-पुरुष तथा मृण्मय पुरुष को भी ग्राह्य बताया गया है।[३] असम्भव नहीं है कि यह श्रौतसूत्र नवोदित अहिंसा के सिद्धांत से प्रभावित होने के कारण अग्निचयन की परम्परागत प्रक्रिया मे कुछ शिथिलता का आरोप करता हो। हिलेब्रान्त महोदय पुरुषमेध के प्रचलन को स्वीकार करते हुए भी इतने बड़े मानव-समूह का वध सन्दिग्ध मानते हैं जिसका वर्णन वाजसनेयी संहिता, शतपथ ब्राह्मण तथा अन्य ग्रन्थों में हुआ है।[४] सैकड़ों की संख्या में मनुष्यों की बलि आश्चर्यजनक एवं असम्भाव्य होते हुये भी असम्भव नहीं है। यूरोपीय आर्यजातियों में 'ओथिन सम्प्रदाय' (कल्ट आफ ओथिन) के अन्तर्गत भी बहुसंख्यक मनुष्यों की बलि दी जाती थी। इस प्रसंग में निन्यानवे मनुष्यों और अश्वों के बध का उल्लेख मिलता है।[५] इस संख्या को देखते हुये वाजसनेयी संहिता में उल्लिखित एक सौ चौरासी तथा शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित एक सौ छाछठ मेध्य मनुष्यों की संख्या भी स्वीकार की जा सकती है, विशेषतः इसलिये कि पुरुषमेध के प्रसंग में उल्लिखित सभी मनुष्यों का बध नहीं होता था। उनमें से बहुसंख्यक पर्यग्निकरण के पश्चात् उसी प्रकार छोड़ दिये जाते थे जिस प्रकार अश्वमेध में बनैले पशु।[६] प्राचीन आर्य

---

१. वेबर और हिलेब्रान्त का मत, जी० आर० शर्मा, एक्सकेवेसन्स एट कौशाम्बी, पृ० ११७ पर उद्धत

२. जे० ए० एस० बी०, १८७६, पृ० १०३

३. कात्या० श्रौ० सू० १६.३२,

४. वाजसनेयी संहिता में मेध्य मनुष्यों की संख्या १८४ तथा शत० ब्रा० में १६६ बताई गई है।

५. चादविक, दि कल्ट आव ओथिन, पृ० २४

६. शत० ब्रा० १३.६.२.१, तुलनीय आप० श्रौ० सू० २०.१७.५

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

जातियों में पुरुषमेध का प्रचलन सुविदित है।[१] किन्तु यह आदिम एवं बर्बर परम्परा ऋग्वेदिक संस्कृति में मृतप्राय है। यह बात शुनःशेप की मुक्ति तथा उसकी कथा में अन्तर्निहित करुणोत्पादन के उद्देश्य द्वारा सूचित होती है। सम्पूर्ण ऋग्वेद में पुरुष-सूक्त के अतिमानवीय पुरुषमेध को छोड़कर वास्तविक पुरुषमेध का उल्लेख कहीं नहीं है।[२] उत्तर वैदिक काल में इस प्राचीन एवं आदिम परम्परा का उन्मज्जन बहुत ही आश्चर्यजनक है।[३] पुरुषमेध यज्ञ के स्वरूप, उद्देश्य तथा इसकी सामाजिक मान्यता के ज्ञान-हेतु उत्तर-वैदिक साहित्य में उपलब्ध इसके विधि-विधानों का संक्षिप्त अध्ययन और विवेचन भी कर्तव्य हैं।

सामान्यतः पुरुषमेध यज्ञ पांच दिन तक चलता था।[४] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यह चालीस दिनों तक भी चल सकता है।[५] जिस प्रकार अश्वमेध में अश्व प्रधान मेध्य पशु है उसी प्रकार पुरुषमेध में मनुष्य। इस यज्ञ की सम्पादन-पद्धति भी अश्वमेध पर ही आधारित है।[६] सत्यासाढ श्रौतसूत्र में कहा गया है कि पुरुषमेध के अधिकारी ब्राह्मण और राजा ही होते हैं।[७] इसी प्रकार कात्यायन श्रौत सूत्र में भी पुरुषमेध के अधिकारी ब्राह्मण और क्षत्रिय माने गये हैं।[८] पुरुषमेध के लिये एक ब्राह्मण या क्षत्रिय को सहस्त्र गायें और सौ घोड़े देकर खरीदने का विधान था।[८अ] यदि क्रय के माध्यम से कोई व्यक्ति उपलब्ध न हो तो किसी शत्रु को जीत कर उसकी बलि देनी

---

१. श्रोदर, प्रिहिस्टरिक एण्टिविवटीज आब दि आर्यन पिपुल्स, यफ० बी० जेवन्स का अनुवाद, पृ० ४२२

२. रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड दि उपनिषद्स, भाग २, पृ० ३४७

३. अथर्ववेद ११. २. ९ में रुद्र को पुरुष-बलि देने का प्रारम्भिक उल्लेख मिलता है।

४. शत० ब्रा० १३.६.१.१, पञ्चाहः पुरुषमेधः।

५. शत० ब्रा० १३.६.१.२

६. शांखा० श्रौ० सू० १६.१०.२, सर्वमाश्वमेधिकम्

७. सत्या० श्रौ० सू० १४.६.१, राजा ब्राह्मणो वा

८. आप० श्रौ० सू० २०.२४.२, ब्राह्मणो राजन्यो वा यजेत। का० श्रौ० सू० २५.२

८अ. शांखा० श्रौ० सू० १६.१०.९, ब्राह्मणं क्षत्रियं वा सहस्रेण शताश्वेनावक्रीय

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

चाहिये।[१] यदि उसकी पत्नी अवरोध करे तो उसकी सम्पत्ति छीन लेने तथा अब्राह्मणी होने पर उसकी हत्या करने की बात भी कही गई है।[२] इस प्रकार प्राप्त पुरुष को स्नानादि द्वारा पवित्र करके एक वर्ष तक स्वतंत्र छोड़ देने कीं व्यवस्था थी। उस काल में वह ब्रह्मचर्य को भंग नहीं कर सकता था।[३] वर्ष के पूरा होने पर इन्द्र और पूषन को पशु-बलि दी जाती थी।[४] शुशः शेप काक्षीवन्त आदि से सम्बन्धित नाराशंसी का पाठ होता था।[५] शतपथ ब्राह्मण, कात्यायन श्रौत सूत्र तथा आपस्तम्ब श्रौत सूत्र में पुरुष मेध के लिये ग्यारह यूपों का विधान है।[६] किन्तु शांखायन श्रौत सूत्र में पच्चीस यूपों के निर्माण का उल्लेख है।[७] पुरुष मेध का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अनुष्ठान तीसरे दिन होता था। इस अवसर पर मेध्य पुरुषों को विविध-यूपों में बांधा जाता था।[८] पुरोहित यूपबद्ध मनुष्यों की ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के मंत्रों के माध्यम से प्रशंसा करता था। इससे पुरुषमेध एवं पुरुष सूक्त का सम्बन्ध प्रकट होता है। इसके पश्चात् मेध्म मनुष्यों का पर्यग्निकरण होता था।[९] शुतपथ ब्राह्मण के अनुसार पर्यग्निकृत मनुष्य मुक्त कर दिये जाते थे तथा केवल ग्यारह मनुष्यों का वध होता था जो पर्यग्निकृत नहीं होते थे।[१०] अश्वमेध यज्ञ में भी पर्यग्निकृत पशुओं को मुक्त करके ही अश्व वध होता था।[११] ब्राह्मणों तथा सूत्रों के अध्ययन में इतना सुनिश्चित है कि कर्मकांडीय साहित्य में वास्तविक पुरुषमेध का विधान था किन्तु यह कहना निश्चित ही कठिन है कि समाज द्वारा इस प्रकार के अमानुषिक यज्ञों को कितनी मान्यता प्राप्त थी। यह यज्ञ अवश्य ही जनसाधारण के घृणा एवं भयमिश्रित

---

१. वैतान श्रौ० सू० ७.३७.१६, सपत्नं विजित्य तेन यजेत
२. शांखा० श्रौ० सू० १६.१०.९ संवत्सरायोत्सृजन्ति
३. शा० श्रौ० सू० १६.१०.९ सर्वकामिनमन्यत्रा ब्रह्मचर्यात
४. वैतान श्रौ० सू० ७.३७.२१
५. शांखा० श्रौ० सू० १६.११
६. शत० ब्रा० १३.६.१.६, कात्या० श्रौ० सू० २१.४, यूपैकादशिनी भवति
७. शांखा० श्रौ० सू० १६.१२.६
८. कात्या० श्रौ० सू० २१.७-९
९. शत० ब्रा० १३.६.२.१२
१०. शत० ब्रा० १३.६.२.१३-१५, एकादशिनैः संस्थापयति
११. आप० श्रौ० सू० २०.१७.५

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

अश्रद्धा का विषय रहा होगा। ब्राह्मणसाहित्य में किसी राजा द्वारा पुरुषमेध के सम्पादन का उल्लेख नहीं मिलता। प्रायः सर्वत्र इसका सैद्धान्तिक विवरण ही उपलब्ध होता है। सम्भव है कि पुरोहितों के प्रभाव से आक्रान्त किसी राजा ने पुरुषमेध को व्यावहारिक रूप भी दिया हो, किन्तु अभी तक इस सम्बन्ध में निश्चायक साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। कतिपय पुरातात्विक प्रमाण अवश्य उपलब्ध हैं, जिनसे यह सूचित होता है कि पुरुषमेध की प्रथा व्यावहारिक जीवन में भी सर्वथा अज्ञात नहीं थी।[१] पुरातात्विक साक्ष्यों का विवेचन अग्रिम पृष्ठों पर अग्निचयनके प्रसंग में किया जायगा। इसके पूर्व पुरुषमेध के उद्देश्य तथा इसके पीछे उपस्थितमूल भावना का अध्ययन आवश्यक है।

शतपथ ब्राह्मण में पुरुषमेध के महत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि इसके सम्पादन से 'पुरुष-नारायण' की स्थिति सर्वश्रेष्ठ हो गई। इसी प्रकार इसका यजमान भी सभी प्राणियों में श्रेष्ठ हो जाता है तथा सब कुछ प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।[२] सत्याषाढ श्रौत सूत्र में यह भी कहा गया है कि सभी प्राणियों में ज्येष्ठ्य, तथा श्रेष्ठ्य तथा स्वाराज्य एवं आधिपत्य का इच्छुक व्यक्ति पुरुषमेध करे।[३] शांखायन श्रौत सूत्र में कहा गया है कि प्रजापति को जो अश्वमेध से नहीं प्राप्त हो सका उसे पुरुषमेध द्वारा प्राप्त किया।[४] गोपथ ब्राह्मण में राजनैतिक महत्व के यज्ञों का उल्लेख करते हुये राजसूय, वाजपेय, अश्वमेघ, पुरुषमेध और सर्वमेध द्वारा प्रजापति के क्रमशः राजा, सम्राट, स्वराट, विराट, और सर्वराट होने की बात कही गई है।[५] इन सभी उद्धरणों से स्पष्ट है कि पुरुषमेघ के सम्पादन का उद्देश्य इच्छानुकुल फल प्राप्त करना था किन्तु यज्ञ की मूल धार्मिक प्रेरणा ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (१०. ९०) में उल्लिखित विराट-पुरुष की बलि से ली गई है। यह बात अग्निचयन के प्रसंग में अधिक स्पष्ट है। ब्राह्मणों एवं सूत्रों में ऐसे अनेक संकेत हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि अग्निचयन का उद्देश्य उस प्रजापति

---

१. शर्मा, जी० आर० एक्सकेवेसन्स एट कोशाम्बी, अध्याय ८, पृ० ८७-१२६
२. शत० ब्रा० १३. ६, १. १
३. सत्या० श्रौ० सू० १४. ६. १
४. शांखा० श्रौ० सू० १६. १०. १, प्रजापतिरश्वमेधेनेष्ट्वा पुरुषमेधमपश्यत्। तस्य यदनाप्तमश्वमेधेनासीत्तत्सर्वं पुरुषमेधेवाप्नोत।
५. गो० ब्रा० ५. ८

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

का उद्धार एवं पुनर्निमाण करना था, को पुरुष के रूप में बलिदान होकर सृष्टि के निर्माण के कारण बना।[१] इसीलिये प्रजापति का तादात्म्य यज्ञ वेदी से भी स्थापित किया गया है।[२]

पुरुषमेध का संकेत अग्निचयन के प्रसंग में भी हुआ है। अग्निचयन में चितिनिर्माण के समय जो पंचपशु वध होता था उसमें घोड़ा, बकरा, भेंड़ा तथा सांड़ के साथ मनुष्य भी विद्यमान है। अग्निचयन को सोम याग का एक अंग माना गया है।[३] अग्निचयन महाव्रत यज्ञ के लिये अनिवार्य तथा अन्य सोम यज्ञों के लिये ऐच्छिक था।[४] अग्निचयन के लिये एक वर्ष की अवधि निर्धारित है।[५] उत्तर-वैदिक साहित्य में अनेक प्रकार की चितियों का उल्लेख हुआ है। तैत्तरीय ब्राह्मणमें चन्दश्चिति, श्येनचिति, अलजाचिति आदि दस चितियों का उल्लेख है जिनका उद्देश्य क्रमशः पशुप्राप्ति, स्वर्ग प्राप्ति, प्रतीष्ठा-प्राप्ति आदि बताया गया है।[६]

चिति-निर्माण के प्रसंग में पञ्च पशुवध का जो विधान है उसके यथा-विधि पालन पर शतपथ ब्राह्मण बल देता है।[७] किन्तु अन्यत्र इसी ग्रंथ में विकल्पतः यह भी कहा गया है कि केवल अज की बलि से ही पांचों पशुओं का प्रतिनिधित्व हो जाता है।[८] बौधायन श्रौत सूत्र के अनुसार मनुष्य का सिर वेदी में रखने के लिये बिना उसकी हत्या किये भी युद्ध में मृत व्यक्ति के शव से प्राप्त किया जा सकता है।[९] आपस्तम्ब श्रौत सूत्र में भी यह कहा गया है कि यह सिर विद्युत से मरे व्यक्ति अथवा तीर से मरे व्यक्ति का भी हो सकता है।[१०] कात्यायन ने तो हिरण्यमय या मृणमय कपाल को विकल्पतः

---

१. शत० ब्रा० ५. १. २. १३
२. शत० ब्रा० ८. २, १. १८,
३. कात्या० श्रौ० सू० १६. १, हिस्टरी आव धर्मशास्त्राज, ग्रंथ २, भाग २, पृ० १२४७
४. कात्या० श्रौ० सू० १६. २
५. शत० ब्रा० ६.१.२.२०
६. तै० ब्रा० ५.४.११
७. शत० ब्रा० ६.२.१.३९
८. शत० ब्रा० ६.२.२.१५
९. बौ० श्रौ० सू० १०.९
१०. आप० श्रौ० सू० १६.६.२, वैश्यस्य राजन्यस्य केशुहतस्याशनिहतस्य वा।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

ग्राह्य बतलाया है।[१] ऐसी स्थिति में चितिनिर्माण के लिये मनुष्य-वध का प्रचलन प्रायः अज्ञात अथवा अल्पज्ञात रहा होगा। अग्निचयन के प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि इसका स्वरूप विशेषतः तांत्रिक, अभिचारपूर्ण तथा जटिल था। विविध आकार एवं बनावट वाली दस हजार आठ सौ ईटों का प्रयोग, कूर्म, सर्प, कमल-पत्र, हिरण्मय पुरुष तथा पञ्च-पशुओं के कपाल की वेदी में स्थापना, अग्निचयन के तांत्रिक स्वरूप को व्यक्त करता है।

अग्निचयन और पुरुषमेध का सूचक विरल पुरातात्विक साक्ष्य कोशाम्बी के उत्खनन से प्राप्त हुआ है। श्री गोवर्धन राय शर्मा कोशाम्बी के पूर्वी द्वार पर स्थित पक्षी के आकार वाली वेदिका को पुरुषमेध से सम्बन्धित श्येन-चिति मानते हैं।[२] इस वेदी के उत्खनन में जो सामग्रियां उपलब्ध हुई हैं उनके आधार पर उनका कहना है कि इस वेदी का सम्बन्ध पुरुषमेध से था तथा इसका निर्माण याज्ञिक साहित्य में विहित नियमों के अनुसार हुआ था। इस वेदी पर न केवल अनेक मानव-कपाल और पशुओं की अस्थियां मिली हैं बल्कि उखा, सर्प की लौहाकृति, कूर्म, और अषाढा आदि इष्टिकायें भी उन्हें प्राप्त हैं। ये सभी वस्तुयें यजुर्वेदीय ब्राह्मणों तथा श्रौतसूत्रों के अनुकूल है। सर्वाधिक उल्लेखनीय अषाढ़ा नामक इष्टिका पर उत्कीर्ण 'देवलक्ष्म' (पुरुमेध यज्ञ के चिन्ह-स्वरूप यूपबद्ध मनुष्य का इष्टिका पर अंकन) है। कोशाम्बी की इस वैदिका से प्राप्त अषाढ़ा नामक इष्टिका पर यूप से बंधे मनुष्य का चित्र है जिसके झुकी हुई गर्दन पर कोई हथियार गिरता हुआ दिखाई देता है।[३] यह प्रतीक सम्भवतः पुरुष मेध से इस चिति का सम्बन्ध-सूचित करता है। ऐसी स्थिति में यह प्रतीत होता है कि पुरुषमेध का प्रचलन-वास्तविक जीवन में भी सर्वथा अज्ञात नहीं था। शक्तिशाली राजाओं के स्वार्थ-साधन के लिये किसी निरीह मनुष्य की हत्या उस युग में सर्वथा सम्भव थी। इस विकृति के कारण ही यज्ञमूलक धर्म की लोकप्रियता भी सहसा लुप्त हो गई। उपनिषत्काल तक यज्ञों के विरुद्ध जो विद्रोह हुआ तथा अहिंसा के सिद्धान्त पर बल दिया गया उसके पीछे पशु-यज्ञ तथा विशेषतः पुरुषमेध की अमानुषिक परम्परा की प्रबल प्रतिक्रिया रही होगी।

---

१. कात्या० श्रौ० सू० १६.३२, अन्यानि वा हिरण्मयानि वा मृन्मयानि वानालाभ्यैतान्।

२. द्रष्टव्य, एक्सकेवेसन्स एट कोशाम्बी, अध्याय ८,९

३. एक्सकेवेसन्स एट कोशाम्बी, पृ० ९३, प्लेट १८ बी

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

श्रोदर के अनुसार पुरुषमेध की परम्परा आर्य जाति में अति प्राचीन काल में प्रचलित थी।[१] किन्तु ऋग्वैदिक आर्यों के धार्मिक अनुष्ठानों में इसका कोई स्थान नहीं है। ऋग्वेद संहिता में इस पुरातन

आर्येतरीय प्रभाव

परम्परा की प्रतिध्वनि अवश्य मिलती है। पुरुषमेध के माध्यम से सृष्टि के उद्भव की कल्पना ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में है। हिलेब्रान्त महोदय का यह मत कि ऋग्वैदिक समाज में पुरुषमेध के प्रचलन के चिन्ह हैं, निराधार है।[२] उत्तर वैदिक युग में पुरुषमेध का उन्मज्जन तथा इसका तांत्रिक स्वरूप सम्भवतः इस बात का संकेत करता है कि यह मृत्प्राय परम्परा कतिपय नवीन सांस्कृतिक धाराओं के योग से पुनः बलवती हुई तथा इसके स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ। पुरुषमेध की परम्परा पर आंशिक आर्येतरीय प्रभाव को सूचित करने वाले साक्ष्य निश्चायक न होते हुए भी महत्वपूर्ण तथा अनुपेक्षणीय हैं। सुविदित है कि वैदिक आर्यों की ग्राम्य संस्कृति नगर निर्माण से उदासीन तथा भवन निर्माण में ईंटों के प्रयोग से अपरिचित थी। ऐसी स्थिति में चिति-निर्माण के लिए ईंटों का प्रयोग विस्मय जनज है। इष्टिकामय चिति निर्माण नागरिक सभ्यता की देन प्रतीत होती है न कि वास्तुकला में ईंटों के प्रयोग से अपरिचित सेमाज की। हस्तिनापुर के उत्खनन से ज्ञात है कि उत्तर-वैदिक आर्यों का परिचय इष्टि का निर्माण से अत्यन्त अल्प और सम्भवतः एकदम नया था। असम्भव नहीं है कि इष्टिकामय चितिनिर्माण की प्रथा नागरिक सैन्धव संस्कृति से ग्रहण की गई हो। आधार-वलि होने के कारण अग्निचयन के प्रसंग में चिति-निर्माण से सम्बन्धित 'पंचपशुबलि' भी प्रकृत्या उसी स्रोत से सम्बद्ध होनी चाहिये। सैन्धव संस्कृति के अन्तर्गत धर्म का स्वरूप अत्यन्त उदात्त था किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वहाँ धर्म का हीनतर पक्ष सर्वथा अज्ञात था। वहाँ से प्राप्त बहुसंख्यक ताबीज तांत्रिक क्रियाओं के प्रचलन के सूचक तो है ही, साथ ही कतिपय मुद्राओं पर उत्कीर्ण चित्र सैन्धव समाज में नरमेध के प्रचलन को प्रमाणित करते हैं।[३] इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय

---

१. उनका यह मत ऋग्वेद १०.१८.८ और १०.८५.२१-२२ पर आधारित है। उनके मत की आलोचना के लिये द्रष्टव्य— रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग २, पृ० ३४७

२. श्रोदर, प्रिहिस्टरिक एण्टिक्विटीज आव दि आर्यन पिपुल्स, पृ० ४२२

३. मार्शल, मोएनजोदड़ो एण्ड इण्डस सिविलिजेशन, भाग १, पृ० ५२, चित्र सं० २२

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

है कि अथर्ववेद में केवल रुद्र को पंच-पशु प्रदान करने का उल्लेख हुआ है।[१] अग्निचयन के प्रसंग में भी रुद्र सबसे महत्वपूर्ण देवता है।[२] चिति-निर्माण के पश्चात् सर्वप्रथम रुद्र को प्रसन्न करने के लिये शतरुद्रिय के पाठ का विधान है। अग्निचयन तथा पंचपशु वध से रुद्र का यह सम्बन्ध महत्वपूर्ण है। अथर्ववेद एवं यजुर्वेद का रुद्र ही पंचपशु यज्ञ तथा नरमेध से सम्बन्धित किया गया है जो सैन्धव शिव को आत्मसात करने के कारण प्रधानतः एक अनार्य देवता प्रतीत होता हैं। उनका अनार्यत्व इस बात से भी स्पष्ट होता है कि उन्हें यज्ञ की बलि चौराहे पर चींटियों के समूह पर हवि फेंक कर दी जाती थी तथा उनसे मूजवन्त से भी उस पार चले जाने की प्रार्थना की जाती थी। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि अग्निचयन की प्रथा का प्रारम्भ पश्चिमोत्तर लोगों में माना गया है।[३] कौशाम्बी में अग्निचयन तथा पुरुषमेध के सूचक जो प्रमाण मिले हैं वे भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। श्री शर्मा ने कौशाम्बी के नगर-निर्माण-पद्धति पर भी आर्येतरीय सैन्धव परम्पराओं का प्रभाव माना है।[४] उपर्युक्त सूत्रों को परस्पर जोड़ने पर अग्निचयन एवं पुरुषमेध के प्रचलन पर आर्येतर प्रभाव की सम्भावना दृढ़ होती है। इसमें सन्देह नहीं कि यज्ञ मूलक धर्म वैदिक आर्यों की अपनी विशेषता थी किन्तु सांस्कृतिक सामंजस्य के साथ यज्ञों के अन्तर्गत आर्येतर तत्व भी ग्रहण किये गये। उनका जो मिश्रित स्वरूप आज उपलब्ध है उससे आर्य एवं आर्येतर परम्पराओं का पृथक्करण अत्यन्त दुष्कर है।

पंचमहायज्ञ

यद्यपि पंच महायज्ञों का स्वरूप अत्यन्त सरल एवं साधारण था तथापि उनके अन्तर्गत यज्ञ-धर्म का उदात्त स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। ये यज्ञ प्रत्येक गृहस्थ के लिये कर्तव्य थे तथा साथ ही इनमें निहितत्याग, श्रद्धा एवं सर्वभूतानुकम्पा की भावना धार्मिक उच्चादर्शों का संकेत करती है। पंचमहा-यज्ञों का स्थान सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

---

१. अथर्ववेद ११.२.९, चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दशकृत्वः पशुपते नमस्ते
तमेवे पञ्च-पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषाअजावयः।
यहाँ पशुपति का उल्लेख सैन्धव शिव का स्मरण दिलाता है।

२. द्रष्टव्य, रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग २, पृ० ३५५

३. कीथ, पूर्व उद्धृत पुस्तक, भाग २, पृ० ३५४

४. एक्सकेवेसन्स ऐट कौशाम्बी

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

प्रत्येक गृहस्थ के लिये पंचमहायज्ञों के सम्पादन के पश्चात् ही भोजन ग्रहण करने का विधान था। शतपथ ब्राह्मण में भूत-यज्ञ, मनुष्य-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, देवयज्ञ और ब्राह्मयज्ञ 'पंच महायज्ञ' के रूप में उल्लिखित हैं।[१] देवयज्ञ के अन्तर्गत प्रातः और सायंकाल भोजन तैयार होने पर देवताओं को हवि प्रदान किया जाता था। 'यदन्ना पुरुषः तदन्ना तस्य देवता' में विश्वास करने वाले वैदिक समाज में भोजन के पूर्व देवताओं को सन्तुष्ट करना सर्वथा स्वाभाविक था। दूसरा भूत-यज्ञ है जिसका उद्देश्य विभिन्न प्राणियों को सन्तुष्ट करना था। गोभिल गृह्य सूत्र के अनुसार इसका प्रदान विविध देवताओं सर्पों और राक्षसों के लिये भी होता था।[२] पितृ-यज्ञ के अन्तर्गत बलि जल के साथ पितरों को समर्पित की जाती थी। वैदिक समाज में यह विश्वास था कि पितर परलोक में अपने वंशजों द्वारा प्रदत्त अन्न से ही पलते हैं। साथ ही परिवार के सुख एवं समृद्धि के लिये भी पितरों की प्रसन्नता एवं सन्तुष्टि आवश्यक मानी जाती थी। ब्रह्मयज्ञ के अन्तर्गत स्वाध्याय अर्थात् वेदाध्ययन का विधान था। शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्म यज्ञ की भूयसी प्रशंसा बड़ी ही आलंकारिक शैली में की गई है।[३] इस ग्रन्थ के अनुसार ऋक् का अध्ययन देवताओं के लिये पयकी आहुति है। यजुष का आज्याहुति, साम का सोमाहुति, अथर्वांगिरस का मेद-आहुति तथा अनुशासन, विद्या, वाकोवाक, इतिहास, पुराण, नाराशंसी गाथाओं का अध्ययन देवों के लिये मधु की आहुति है। इस प्रकार वैदिक ज्ञान की परम्परा को अमरत्व प्रदान करने के लिये ही ब्राह्मण साहित्य में वेद-वेदांगों का अनुशीलन एक पुनीत महायज्ञ माना गया। पांचवाँ महायज्ञ मनुष्य यज्ञ है जिसके अनुसार ब्राह्मण, अतिथि तथा भिक्षुओं को भोजन दिया जाता था। अतिथि सत्कार की महत्ता का वर्णन उत्तर-वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर मिलता है।[४] इसके विपरीत देवयज्ञ, मनुष्ययज्ञ तथा पितृयज्ञ से विमुख अपने शरीर मात्र के पोषण में संलग्न व्यक्ति की निन्दा की गई है।[५]

---

१. शत० ब्रा० ११. ५. ६

२. गो० गृ० सू० १. ४

३. शत० ब्रा० ११. ५. ७

४. ऐत० ब्रा० १.१७, १.२५, शिरो वा एतद् यज्ञस्य यद् आतिथ्यम्

५. ऐत० ब्रा० ७.९:

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

ब्राह्मण युग के अन्त तक वैदिक समाज विपुलकाय, औपचारिक एवं आडम्बरपूर्ण यज्ञों के प्रति उदासीन होने लगा था। यज्ञों में व्याप्त वाह्याडम्बर से मूल धार्मिक भावना प्रायः ग्रस्त हो चुकी थी। उसके त्राण हेतु प्रतीकों से आच्छन्न यज्ञों में अन्तर्निहित ज्ञान की सर्वोपरि महत्ता घोषित हुई। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ज्ञान के अभाव में परलोक की प्राप्ति न तो यज्ञ से सम्भव है और न तप से। इसकी प्राप्ति केवल उसे हो सकती है जो यज्ञ के मूल में निहित धार्मिक भावना को जानता है।[१] इसी ग्रन्थ में अन्ययज्ञ वाणी के समक्ष मन अर्थात् ज्ञान की श्रेष्ठता प्रजापति द्वारा स्वीकृत बताई गई है।[२] आरण्यकों में तो स्पष्टतः यज्ञों के भीतर विद्यमान याध्यात्मक तथ्यों की मीमांसा की गई। यज्ञ से सम्बन्धित अनुष्ठान नहीं बल्कि तदन्तर्गत दार्शनिक विचार ही आरण्यकों के मुख्य विषय हैं। आरुणकेतुक तथा सावित्रचयन सदृश अग्निचयनों में यज्ञविधि का भौतिक पक्ष प्रतीकात्मकता में विलीन-प्राय हो गया। इस प्रकार क्रमशः कर्मकाण्ड के समक्ष ज्ञान की श्रेष्ठता तथा देव यजन के समक्ष आत्मयजन की महत्ता स्वीकृत हुई। उपनिषत्काल तक ज्ञान की सर्वोच्च स्थिति सम्मान्य एवं अप्रत्याख्येय है। मुण्डक उपनिषद के अनुसार यज्ञीय अनुष्ठान अदृढ़रूप प्लव है जिनके द्वारा संसार का सन्तरण कभी नहीं हो सकता। यज्ञादि अनुष्ठान को ही श्रेष्ठ मानने वाले व्यक्ति स्वर्गलोक पाकर भी अन्ततः इस भूतल पर आते हैं।[३] इस प्रकार कर्मकाण्ड की हीनता तथा दोषों के वर्णन के अनन्तर ब्रह्मज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई तथा ब्रह्मज्ञानी के ब्रह्म में लय होने की तुलना नाम रूप को छोड़कर नदियों के समुद्र में मिल जाने से की गई है। यज्ञों के विरोध का एक प्रबल कारण यज्ञ में होने वाली हिंसा थी। यज्ञ में हिंसित पशुओं के विषय में कहा गया है कि वे दूसरे लोक में जाकर यज्ञकर्ता को खाते हैं।[४] इससे प्रकट है कि लोगों में हिंसात्मक यज्ञों के प्रति घृणा का भाव जग रहा था तथा लोग उनसे पराङ्मुख होने के लिए सचेष्ट थे।

यज्ञमूलक धर्म का विरोध और ज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन

---

१. शत० ब्रा० १०.५.४.१५
२. शत० ब्रा० १.४.५.८-१२
३. मुण्डक उप० १.२.१०
४. शांख्या० ब्रा० ११.१३

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

देव दत्व

उत्तर-वैदिक युग में देव समाज प्रायः ऋग्वेदिक देव समाज के ही समान है किन्तु परवर्ती संहिताओं तथा ब्राह्मणों द्वारा सम्वर्धित धर्म के अन्तर्गत देवताओं की श्रेष्ठता स्वीकृत नहीं है। अथर्ववेद मुख्यतः गृह्य एवं आभिचारिक संस्कारों का ही निरूपण करता है। कौशिक सूत्र के सांस्कारिक-विषयों सहित अथर्ववेद के बाद के अंश प्रेतात्मा और दैत्य विषयक अत्यन्त-रोचक विवरण प्रस्तुत करते हैं। अथर्ववेद में निर्दिष्ट देव-मण्डल ऋग्वेद से अवांतरकालीन विकास का सूचक और पोषक है। अथर्ववेद में इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि ऋग्वेदीय देवों की सत्ता है किन्तु उनका प्राकृतिक दृश्यों का प्रतीकात्मक रूप विस्मृत-प्राय बन गया है। अब वे केवल देव विशेष के रूप में ही उपस्थित होते हैं जिनका काम मुख्यतः राक्षसों का संहार, रोगों का विनाश एवं शत्रुओं का विध्वंशन है। अथर्ववेद में देवताओं के लिये अलग-अलग प्रशस्ति के सूक्त अपेक्षाकृत कम हैं जबकि अनेक देवताओं का एक साथ आवाहन इसकी विशेषता है। यजुर्वेद तथा ब्राह्मणों में देवगण छायात्मक व्यक्तित्व मात्र हैं। उनका उल्लेख यज्ञों के प्रसंग में हुआ है। उनके व्यक्ति-गत गुण प्रायः विलीन हो गये हैं। कुछप्रमुख देवताओं का महत्व घट गया है तथा ऋग्वेद के कतिपय साधारण देवता अधिक श्रद्धेय हो गये हैं। इस युग में ऋग्वेदिक युग के प्रमुख देवता इन्द्र और वरुण का स्थान गौण हो गया तथा उनका स्थान रुद्र शिव, विष्णु और सूर्य आदि लेने लगे। ब्राह्मण युग का प्रधान देवता प्रजापति है। उनका तादात्म्य यज्ञ से स्थापित किया गया है।[1] साथ ही उन्हें देवताओं तथा सम्पूर्ण सृष्टि का स्रष्टा माना गया है। इस युग में निर्जीव पदार्थों तथा पशुओं एवं वृक्षों में भी देवत्व की कल्पना मिलती है।[2] काल, काम और स्कम्भ आदि अमूर्त भावात्मक देवताओं का उल्लेख अथर्ववेद में प्रथम बार हुआ है। इनमें विशेष महत्ता स्कम्भ को दी गई है। उसका तादात्म्य ब्रह्मन और प्रजापति के साथ स्थापित किया गया है। देश और काल, देवता, वेद एवं समस्त नैतिक शक्तियां उसी में अन्तर्नि-हित मानी गई हैं।[3] अम्बिका आदि देवियों का यजुर्वेद में उल्लेख सम्भवतः मातृदेवी की वर्धमान लोकप्रियता का संकेतक है।

१. शत० ब्रा० ४.३.४.३

२. द्रष्टव्य—रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड दि उपनिषद्स, भाग १, पृ० १८४-१९७।

३. अथर्ववेद १०.७.७, १३, १७

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

उत्तर वैदिक युग में एक ओर जहां वैदिक धर्म का अन्तः-विकास हुआ वहीं इस पर आर्येतर धर्म धाराओं का प्रचुर प्रभाव भी पड़ा। पीछे हम देख चुके हैं कि किस प्रकार नवोदित वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत आर्यों एवं अनार्यों का सम्मिश्रण हुआ।[१] ऐसी स्थिति में आर्य एवं आर्येतर संस्कृतियों में सामंजस्य एवं समन्वय भी अवश्यम्भावी हो गया। वैदिक यज्ञ संस्था के अन्तर्गत भी आर्येतर धार्मिक तत्व आत्मसात हुये।[२] यह प्रभाव वैदिक देवतत्व पर भी परिलक्षित होता है जिसके परिणामस्वरूप कतिपय देवताओं के स्वरूप में परिवर्तन हुआ तथा उनकी महत्ता में भी वृद्धि हुई। अनार्य प्रभाव के कारण ही उत्तर-वैदिक युग में पूर्ववैदिक काल के गौण देवता रुद्र और विष्णु अतिशय लोकप्रिय हुये। इस युग में ऋग्वेदिक रुद्र ने प्रकृत्या समान होने के कारण सैन्धव शिव को आत्मसात किया। यजुर्वेद में अनेक ऐसे संकेत हैं जिनसे शिव का आंशिक अनार्यत्व पुष्ट होता है।[३] उभय सांस्कृतिक परम्पराओं से सम्बद्ध होने के कारण यह देवता जनसाधारण में अधिक श्रद्धेय हो गया। इसी प्रकार विष्णु की लोकप्रियता के पीछे भी आर्येतर धार्मिक परम्पराओं का प्रभाव प्रतीत होता है। ऊपर, प्रथम अध्याय में यह बताया गया है कि विष्णु आर्यों के सौर देवता होते हुये भी अंशतः द्रविड़ों के आकाश देवता हैं।[४] इसी प्रकार उत्तर वैदिक युग में क्रमशः मातृदेवी की उपासना भी लोकप्रियता प्राप्त करती है। यजुर्वेद में सर्वप्रथम अम्बिका नामक देवी का उल्लेख हुआ है तथा अम्बिका का सम्बन्ध रुद्र से बताया गया है।[५] बहुत संभव है कि सैन्धव शिव के साथ ही उनसे सम्बन्धित अम्बिका की अवधारणा भी सैन्धव संस्कृति से ग्रहण की गई हो।[६] यह विकल्प यजुर्वेद में इस देवी के आकस्मिक उल्लेख, शिव के साथ उनके सम्बन्ध तथा सैन्धव समाज में प्रचलित मातृदेवी की उपासना की लोकप्रियता को देखते हुए सहज कल्पनीय है। अथर्ववेद से उपलब्ध धार्मिक विश्वासों में विरोधी एवं

आर्येयर प्रभाव

---

१. द्रष्टव्य—ऊपर, अध्याय ३
२. द्रष्टव्य—इसी अध्याय का पृ० २१६
३. वाज० सं० १.६०, तै० सं० ४.४
४. विस्तृत अध्ययन के लिये द्र०—द्रविडिक स्टडीज, पृ० ६१-६२
५. वाज० सं० ३.५७
६. यह सुझाव श्री-श्रीराम गोयल का है।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

विचित्र तत्वों का सम्मिश्रण आर्य एवं आर्येतर सांस्कृतिक सम्पर्क का परिणाम माना गया है।[१] सम्भवतः पिप्पल जैसे वृक्षों में देवत्व की कल्पना तथा उनकी उपासना और विविध अभीप्सित फलों की प्राप्ति के लिये तांत्रिक क्रियाओं का आश्रय अथर्ववेद पर आर्येतरीय प्रभाव का ही सूचक है। यह उल्लेखनीय है कि सैन्धव संस्कृति के अन्तर्गत पिप्पल वृक्ष में देवत्व की कल्पना तथा तांत्रिक क्रियाओं में विश्वास प्रचलित धर्म का अनिवार्य अंग था।[२] इसके विपरीत ये तत्व पूर्व-वैदिक धर्म में प्रायः अज्ञात हैं। नाग जैसे जन्तुओं की उपासना निषाद जाति की देन हो सकती है। निषाद लोग घोर टोटमवादी थे तथा उनके अनेक समूहों में नाग (सर्प) की धार्मिक महत्ता एवं पवित्रता स्वीकृत थी।

देवताओं के महत्व के ह्रास के कारण

उत्तर-वैदिक युग में देव तत्व के ह्रास का प्रमुख कारण यज्ञों की सर्वातिशायिता थी जिनके प्रभाव से देवता भी आच्छन्न हो गये। यज्ञ को ही ऐहिक एवं पारलौकिक सुखों की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन माना गया तथा यह प्रतिपादित किया गया कि यज्ञ से ही देवताओं ने भी शक्ति, तेज एवं अमरत्व प्राप्त किया। ऐसी स्थिति में यज्ञों का सम्पादन ही परम-धर्म हो गया जिसके माध्यम से इच्छानुकूल फल की प्राप्ति के लिये देवताओं को विवश किया जा सकता था। इस प्रकार यज्ञ के समक्ष देवताओं का महत्व स्वभावतः कम हो गया। दूसरे विभिन्न देवताओं में सारभूत एकता ढूंढ़ने की भावना, जो ऋक्संहिता में ही उपलब्ध है, कालक्रमेण अधिक विकसित हुई और परिणामस्वरूप अन्त में एक ही परमदेव की सत्ता स्वीकृत हुई जिसे ब्राह्मणों में प्रायः प्रजापति माना गया है तथा यज्ञ से उसका तादात्म्य स्थापित किया है। उसे देवताओं का भी स्रष्टा माना गया है[३]। इस मनोवृत्ति के कारण बहुदेववाद को धक्का तो लगा ही साथ ही उदीयमान देवता प्रजापति की अतिशय महत्ता के कारण अन्य देवता उपेक्षित हुये। उनके व्यक्तिगत गुणों एवं विशेषताओं का भी लोप हो गया। रुद्र, विष्णु आदि जिन देवताओं की स्थिति सुरक्षित एवं सम्वर्धित हुई उनके प्रभाव के पीछे प्रबल परिस्थैतिक कारण थे जिनका

---

१. रैगोजिन, वैदिक इण्डिया, पृ० ११७-१८
२. ह्वीलर, इण्डस सिविलिजेशन, पृ० ८०–८४
३. ताण्ड्य ब्रा० ६. १

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

संकेत किया जा चुका है।[१] स्कम्भ आदि अमूर्त देवताओं का उद्गमन उस दार्शनिक चिन्तन के विकास का सूचक है जिसकी चरम परिणति ब्रह्म की कल्पना मेंदिखाई देती है।

इन्द्र और वरुण

ऋग्वेदिक युग के प्रमुख देवता इन्द्र और वरुण इस युग में महत्वहीन हैं। ऋग्वेद का सर्वाधिक लोकप्रिय देवता इन्द्र प्रारम्भ में युद्ध और शक्ति का देवता है। इन्द्रिय शब्द प्राचीन बौद्ध-साहित्य में भी बल का पर्यायवाची है। ऋग्वेदिक युग के अन्त तक इन्द्र वर्षा के देवता बन गये। यह बात उनके वृषन् विरुद से भी सूचित है। ऐतरेय ब्राह्मण में उन्हें द्युलोक का प्रधान कहा गया है[२] तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि देवताओं में अन्तिम इन्द्र की रचना प्रजापति ने की।[३] इन्द्र का उल्लेख देवताओं के शासक के रूप में भी अनेकशः हुआ है। यज्ञों में इन्द्र का प्रमुख स्थान था। राजाओं का अभिषेक भी प्रायः इन्द्र के अभिषेककी पद्धति से होने के कारण ऐन्द्र महाभिषेक नाम से ज्ञात था। ऋग्वेदिक युग में युद्ध में विजय के अभिलाषी व्यक्ति विशेषतः इन्द्र की स्तुति करते थे किन्तु उत्तर-वैदिक काल में दिग्विजय एवं शत्रूत्सादन के लिये अश्वमेध, वाजपेय आदि यज्ञों की सहायता अपेक्षित थी। ऐसी स्थिति में इन्द्र के प्रभाव का धूमिल हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। इसी प्रकार ऋग्वेद के सम्मान्य वरुण अथर्ववेद में सर्वोच्च शक्तियों से रहित हैं। अनेकशः उनका उल्लेख जल के नियंत्रक के रूप में हुआ है। इन्हें जल से उसी प्रकार सम्बन्धित किया गया है जिस प्रकार सोम को पर्वतों से।[४] वे जल के सर्वाधिपति हैं तथा उनका स्वर्ण आवास जल में ही स्थित माना गया है।[५] यजुर्वेद में वरुण का उल्लेख एक ऐसे शिशु के रूप में है जिसने अत्यन्त मातृत्व

---

१. कीथ महोदय के अनुसार रुद्र और विष्णु की लोकप्रियता इसलिये बढ़ी कि वे सामान्य जनों के देवता थे।

द्रष्टव्य—रिलिजन एण्डफिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग १,

२. ऐत. ब्रा० ८. १२

३. तै० ब्रा० २.२.१०

४. अथर्ववेद ४.३.३

५. अथर्ववेद ७.८३

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

भावना से युक्त जल को अपना आवास बनाया है।[१] ब्राह्मणों में मित्र और वरुण वर्षा के भी देवता माने गये हैं किन्तु ऋत के व्यवस्थापक महान् देवता के रूप में उनका उल्लेख प्रायः नहीं हुआ है। उनका कार्यक्षेत्र संकुचित एवं सुनिश्चित हो गया है। इस दृष्टि से वह यूनानी देवता पोसीडोन से तुलनीय है। नैतिकता की रक्षा एवं पापियों के दमन से वरुण का औपचारिक सम्बन्ध उत्तर वैदिक युग तक बना रहा। इसीलिये ब्राह्मणों में भी प्रायश्चित के प्रसंग में वह अतिशय महत्त्वपूर्ण है। उत्तर वैदिक युग में राजशक्ति के विस्तार के साथ राजा स्वयं दंडधर और व्यवस्था का रक्षक बना। उसके व्यक्तित्व में वरुण के गुणों का आरोप भी किया गया। ऐसी स्थिति में असम्भव नहीं है कि वरुण के कार्यक्षेत्र में संकोच और उनकी महत्ता में ह्रास का एक प्रमुख कारण राजशक्ति का विस्तार भी रहा हो। सर्वोच्च देवता के रूप में प्रजापति की धारणा के विकास के कारण भी वरुण का सर्वव्यापी और सार्वभौम स्वरूप विस्मृत प्राय हो गया।

प्रजापति

यजुर्वेद एवं ब्राह्मणों में सर्वाधिक सामान्य स्थान प्रजापति का है। यद्यपि ऋग्वेद में भी उनका उल्लेख हुआ है[२] किन्तु उनका स्थान देव-मण्डल में विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। प्रारम्भ में वे सृजन के देवता हैं इसलिये ऋक्संहिता तथा अथर्ववेद में सन्तान की कामना से ही उनकी स्तुति अधिक मिलती है। किन्तु उत्तर-वैदिक काल में उनका उल्लेख सम्पूर्ण विश्व के स्रष्टा के रूप में हुआ है। वे देवताओं, असुरों एवं मनुष्यों का सृजन करने वाले हैं।[३] उन्हीं से वेदों तथा वर्णों की उत्पत्ति भी मानी गई है। उनकी महत्ता इस बात से प्रकट है कि उन्हें यज्ञ का साक्षात् रूप माना गया है।[४] उत्तर-वैदिक युग का यह सर्वोच्च देवता अमूर्त (ऐब्सट्रैक्ट) है। वे प्रकृति के किसी अंग का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं और उनके मानवीकरण का भी विशेष प्रयास नहीं दिखाई देता है। उनसे सम्बन्धित पुराकथाओं में अपनी पुत्री उषस के साथ उनका निकटाभिगमन का प्रयास बहुचर्चित है। मैत्रायणी संहिता के अनुसार उनके इस कृत्य पर कुपित होकर रुद्र ने शर-संधान किया किन्तु प्रजापति द्वारा पशुपति बनाये

---

१. वाज० सं० १०.७
२. ऋ० १०. १२१, ८५. ४३, १६९. ४, १८४. १
३. ताण्ड्य ब्रा० ६. १
४. शत० ब्रा० ४. ३. ४. ३

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

जाने का गौरव प्राप्त कर उन्होंने लक्ष्य वेध नहीं किया।[१] ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार उनके इस दुष्कर्म से सभी देवता क्रुद्ध हुये तथा उन्होंने भयंकर तत्त्वों से प्रजापति के दमनार्थ रुद्र का सृजन किया।[२] इस पुराकथा का सामाजिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है। इससे प्रकट है कि पिता-पुत्री के बीच यौन-सम्बन्ध सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध एवं समाज के कोप का विषय था। प्रजापति जैसे महान् देवता को इस प्रकार के अनैतिक कर्म से सम्बन्धित करना विस्मयजनक है। अन्यत्र इस बात का उल्लेख मिलता है कि प्रजापति ने उषस का विवाह सोम के साथ किया था।[३]

प्रजापति का पशु-रूप में उल्लेख तथा उससे सम्बन्धित पुराकथाएँ विशेष महत्वपूर्ण हैं। शूकर रूप में जलमग्न पृथ्वी को उपर उठाने तथा कच्छप रूप में प्रजाओं की सृष्टि करने की बात ब्राह्मण साहित्य में उल्लिखित है।[४] सम्भवतः इसी कल्पना की आधारशिला पर परवर्ती युग से विष्णु के शूकर और कच्छप अवतार की बात हिन्दू धर्म में स्वीकृत हुई। उत्तर-वैदिक साहित्य में वर्णित प्रजापति का शूकर और कच्छप स्वरूप आर्येतर प्रभाव का परिणाम प्रतीत होता है। शतपथ ब्राह्मण में जलप्लावन की कथा का भी उल्लेख हुआ है।[५] वराह द्वारा पृथ्वी के उद्धार की कल्पना भी सम्भवतः जलप्लावन आख्यान से ही सम्बन्धित है। इस कथा में जलप्लावन आख्यान का अग्रिम विकास सूचित है। यह उल्लेखनीय है कि जलप्लावन तथा वराह द्वारा पृथ्वी के उद्धार सम्बन्धी पुराकथा से वैदिक आर्यों का परिचय बहुत बाद का है। वैदिक संहिताओं में इस पुराकथा का कोई संकेत नहीं मिलता। यह पुराकथा मूलतः सुमेरीय सभ्यता की देन प्रतीत होती है। जलप्लावन की कथा का प्राचीनतम उल्लेख सुमेरीय साहित्य में मिलता है। सैन्धव संस्कृति तथा सुमेरीय संस्कृति के घनिष्ठ सम्बन्ध को देखते हुये यह स्पष्ट है कि इस कथा से सैन्धव नागरिक भी सुपरिचित रहे होंगे। भारत में जलप्लावन और वराह द्वारा पृथ्वी के उद्धार की कथा मूल रूप में सैन्धव सांस्कृतिक परम्परा से ग्रहण की गई होगी

---

१. मैत्रा० सं० ४, २, १२
२. ऐत० ब्रा० ३.३३
३. जै० ब्रा० १.२१३. ऐत० ब्रा० ४.७
४. शत० ब्रा० १४.१.२.११, तै० सं० ७.१.५.१
५. शत० ब्रा० १.८.१

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

तथा सांस्कृतिक परिवेश के अनुकूल बनाने के लिये इसमें न्यूनाधिक संशोधन और परिवर्धन भी हुआ होगा।[१] इसी प्रकार कच्छप से सृष्टि के विकास की कथा से टोटमवादी मनोवृत्ति पूर्णतः परिलक्षित है। पुरा-ऐतिहासिक युग में गंगा की घाटी में निवास करने वाली निषाद जाति में टोटमवाद का प्रचलन अप्रत्याख्येय है। सैन्धव संस्कृति के निर्माण में भी निषाद जाति का योग था। ब्राह्मण साहित्य की रचना निषाद जाति के केन्द्र मध्यदेश में हुई अतः यह स्वाभाविक प्रतीत होता है कि उत्तर वैदिक साहित्य में टोटमवाद से प्रभावित ये कथायें निषाद स्रोत से ली गई होंगी।

रुद्र

रुद्र का वर्णन ऋक्संहिता में भी मिलता है। ऋग्वेदीय रुद्र आकाश के मध्यम कोटि के देवता हैं और सम्भवतः 'झंझावात के साथ आने वाले विद्युत्धारी घने काले मेघों' के दैवीकरण हैं। उनके स्वरूप में उग्रता का प्राबल्य होते हुये भी सौम्यता का अभाव नहीं है। अथर्ववेद में भी रुद्र का स्वरूप बहुत कुछ ऋग्वेदीय वर्णन के सदृश है, यद्यपि यत्र-तत्र उनके विषय में कुछ नवीन तथ्यों का भी उल्लेख किया गया है। अथर्ववेद में रुद्र को कृष्णोदर और लाल पीठ वाला कहा गया है।[२] वह धनुर्धारी और नीले केश वाले (नील शिखण्डिन) हैं।[३] उन्हें सहस्राक्ष भी कहा गया है।[४] इस विरुद को उनके वर्धमान प्रभाव का सूचक माना जा सकता है। ऋग्वेद के समान अथर्ववेद में भी रुद्र की स्तुति उग्र और सौम्य दोनों रूपों में की गई है, यद्यपि उग्र रूप पर अधिक बल दिया गया है। सौम्य रूप में

---

१. यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ऋक्संहिता १.६१.७ और ८.७७.१० में वराह का उल्लेख वृत्र के रूप में हुआ है तथा विष्णु द्वारा उसके वध की बात कही गई है। तैत्तिरीय संहिता ६.२.४.२, में भी उसका सम्बन्ध असुरों से बताया गया है तथा इन्द्र द्वारा उसकी हत्या का उल्लेख हुआ है। इन वर्णनों से भी उसका सम्बन्ध आर्येतर देवमण्डल से सूचित होता है। उत्तर वैदिक युग के मिश्रित समाज में उसका समी-करण प्रजापति के साथ स्थापित करने का प्रयास हुआ।

२. अथर्ववेद ११.१.७-८

३. अथर्ववेद ११.२.६

४. अथर्ववेद ११.२.२-७

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

उन्हें ऋग्वेद के समान ही 'जलाषभेषज' कहा गया है[१], और व्याधिनाश के लिये उनका आह्वान किया गया है। अथर्ववेद में रुद्र को प्रायः पशुपति भी कहा गया है। इस उपाधि का उनके लिये इस ग्रन्थ में ही सर्वप्रथम प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में भी उनके द्वारा पशुओं के कल्याण का उल्लेख है, इसलिये यह विरुद ऋग्वेदीय वर्णन का ही अग्रिम विकास माना जा सकता है। किन्तु आर्येतर सैन्धव धारा के अन्तर्गत भी आदि शिव की उपासना 'पशुपति' रूप में प्रचलित थी। इस प्रकार उत्तर-वैदिक काल में, जब आर्य एवं आर्येतर परम्पराओं का संगम हुआ, रुद्र-शिव के पशुपति रूप की महत्ता में वृद्धि आर्येतर प्रभाव को भी सूचित करती है। ऋग्वेद में रुद्र को पशुओं का कल्याण करने वाला कहा गया है, मात्र इससे उनके पशुपति रूप की कल्पना का जन्म नहीं हुआ, वरन् अवैदिक देवता शिव और वैदिक रुद्र के तादात्म्य में इस विश्वास को बल मिला।

उग्र रूप में अथर्ववेदीय रुद्र अपने विषधर शरों से व्याधियों को फैलाते हैं। उनसे प्रार्थना की गई कि अपने विद्युत् शरों को स्तोताओं से दूर रखें।[२] एकस्थल पर उनके मात्सर्य की भर्त्सना की गई है।[३] उन्हें ज्वर और विष से त्रस्त करने वाला भी कहा गया है।[४] एक स्थान पर उन्हें स्पष्टतः आतंकित करने वाला नरेश तथा विध्वंसक (उपहन्तु) कहा गया है। अथर्ववेद के कुछ मंत्रों से रुद्र का सम्बन्ध नरमेध से भी परिलक्षित होता है। इस वेद में एक स्थान पर रुद्र को यज्ञ में आहुति के रूप में पांच प्राणी समर्पित किये गये है। उनमें से एक प्राणी मनुष्य है।[५] इससे संकेतित है कि रुद्र को कभी कभी नरबलि भी दी जाती थी। इससे रुद्र की भयंकर प्रकृति और भी अधिक उद्भासित होती हैं। इस प्रसंग में एक और तथ्य उल्लेखनीय है। अथर्ववेद में एक स्थान पर रुद्र के भूंकने वाले विकराल श्वानों का उल्लेख हुआ है, जो भक्ष्य को बिना चबाए, निगल जाते हैं।[६] परवर्ती युग में श्वानों को यम का सहचर बताया गया है। यह सर्वथा सम्भव है कि अथर्ववेदीय युग में

---

१. अथर्ववेद २.२७.६
२. अथर्ववेद ११.२.२६
३. अथर्ववेद १.२८.५
४. अथर्ववेद ११.२.२२–२६
५. अथर्ववेद ११.२.९
६. अथर्ववेद १०. १. ३०

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

रुद्र के एक रूप को मृत्यु का देवता माना जाता रहा हो और इस रूप में उनके सहचर श्वानों की कल्पना की गई हो। कालान्तर में जब यम मृत्यु का देवता माना गया तब श्वानों का सम्बन्ध रुद्र के स्थान पर यम के साथ जोड़ दिया गया होगा। भारत के अनेक प्रदेशों में भैरव का, जो मुण्डमाल धारण करते हैं तथा शिव के ही एक रूप माने जाते हैं, वाहन श्वान ही माना गया है तथा उन्हें 'श्वाश्व' कहा जाता है। रुद्र का मृत्यु से सम्बन्ध भूत और पिशाच से उनके सम्बन्ध में भी संकेतित है। अथर्ववेद में पिशाचों का मृतकों से सम्बन्ध बताया गया है और उन्हें 'शव का भक्षण करने वाला' (क्रव्याद) कहा गया है।[१] एक स्थल पर अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह रुग्ण मनुष्य के उस मांस को जिसे पिशाचों ने खा लिया है पुनः प्रदान करें।[२] भूतपति के रूप में रुद्र की कल्पना सर्वप्रथम अथर्ववेद में ही मिलती है और इसी में उनकी अभिन्नता भव और शर्व से स्थापित की गई है, जिन्हें स्पष्टतः भूतपति कहा गया है।[३]

यद्यपि अथर्ववेदीय रुद्र प्रधानतः एक भयंकर तथा उग्र देवता है तथापि उसके प्रभाव एवं लोकप्रियता में क्रमिक वृद्धि के चिन्ह स्पष्ट हैं। यह विरोधाभास विस्मयजनक है। इस प्रसंग में उनका भव और शर्व इन दो देवताओं को आत्मसात कर लेना और सहस्राक्ष जैसे विरुद उदाहरणीय हैं। इस ग्रन्थ में कुछ स्थलों पर इन दोनों देवताओं के विनाशात्मक बाणों और विद्युत का उल्लेख हुआ है।[४] वहां इनको रुद्र से पृथक् देवता माना गया प्रतीत होता है। लेकिन अन्यत्र ये रुद्र के दो नाम बन गये है। स्पष्ट है कि अथर्ववेद के रचना काल में रुद्र और इन देवताओं को अभिन्न स्वीकृत किया जाने लगा। सम्भवतः इन विद्युत्धारी देवताओं का स्वरूप रुद्र के सदृश था। इसलिए अपने वर्धमान प्रभाव के युग में रुद्र ने इनको आत्मसात कर लिया तो कोई आश्चर्य नहीं।

उत्तर-वैदिक कालीन रुद्र सम्प्रदाय की वर्धमान लोकप्रियता तथा आर्येतर समाज से उसका सम्बन्ध अथर्ववेद के पन्द्रहवें मण्डल के व्रात्यसूक्त के अनुशीलनसे परिलक्षित होता है। इसमें रुद्र का उल्लेख व्रात्य के साथ हुआ है।

---

१. अथर्ववेद ५. २९. ९
२. अथर्ववेद ५. २९. ५
३. अथर्ववेद ११. २. ९
४. अथर्ववेद २. २७. ६, ६. ९३. १, १२. ४. १७ इत्यादि

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

यह व्रात्य कहीं देवता प्रतीत होता है और कहीं पर्यटक। इसके प्रारम्भ में ही कहा गया है कि व्रात्य महादेव बन गया। व्रात्य ईशान बन गया। अन्त में कहा गया है कि व्रात्य पशुओं की ओर चला और उसने रुद्र का रूप धारण किया। इस सूक्त का सही अर्थ क्या है, यह प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद है।[१] किंतु फिर भी इससे दो तथ्य सुस्पष्ट हैं। प्रथम, इसमें व्रात्यों को वैदिक आर्य धर्म से पृथक् और उसका विरोधी माना गया है और दूसरे व्रात्यों का सम्बन्ध रुद्रोपासनासे प्रदर्शित किया गया है।[२] इसका समर्थन यजुर्वेद से भी होता है जिसमें रुद्र के लिये दौर्व्रात्य शब्द का प्रयोग हुआ है तथा नके उपासकों में व्रात और व्रातपति की गणना की गई है। ये व्रात्य सांस्कृतिक दृष्टि से आर्येतर परम्परा से सम्बद्ध थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ताण्ड्य ब्राह्मण में व्रात्यों को रजत-निष्क धारण करने वाला बतलाया गया है।[३] वैदिक समाज में रजत-निष्क धारण करने की परम्परा नहीं थी। सत्य तो यह है कि ऋग्वेदिक आर्य रजत शब्द से प्रायः अपरिचित थे।[४] ऐसी स्थिति में व्रात्यों में रजत-निष्क के प्रयोग का प्रचलन उनके अनार्यत्व का ही संकेतक है।

---

१. विभिन्न मतों के लिये द्र०—ए० चक्रवर्ती, दि व्रात्याज, ए० आई० ओ० सी० नं० ३ (मद्रास), वी० एम० आप्टे, दि इम्पार्टेन्स आव दि कन्सेप्सन आव व्रत इन सोशल एण्ड रिलिजस लाइफ आव रिग्वेदिक आर्यन्स एंड इट्स बियरिंग आन दि प्राब्लम आव दि व्रात्याज, ए० आई० ओ० सी० ११ (हैदराबाद), ए० पी० करमारकर, दि व्राज्याज इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, सम्पूर्णानन्द, व्रात्यकाण्डम्

२. श्री कण्ठ शास्त्री, प्रोटो-इण्डिक रिलिजन, पृ० ७-६, ८८-९०, राधाकृष्ण चौधरी, व्रात्याज इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ३६-३७

३. ताण्ड्य ब्रा० १७.१.१४
व्रात्य-समाज में लोक-प्रिय रजत् 'भारोपीय भाषा' का शब्द है। ईरानी भाषा का 'अल्जत' और पश्चिमी भाषाओं में प्राप्त 'अर्जन्त' शब्द रजत के ही परिवर्तित रुप हैं। यह तथ्य विस्मय-जनक है कि भारोपीय सांस्कृतिक परम्परा से सम्बद्ध होते हुऐ भी 'रजत' वैदिक समाज में तिरस्कृत और उपेक्षित है और इसके विपरीत वैदिक आदर्शों के विरोधी व्रात्यों में सम्मान्य एवं लोकप्रिय।

४. ऋक्संहिता के आठवें मण्डल में केवल एक स्थान पर रजत का उल्लेख है जो प्रक्षिप्तांश प्रतीत होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आठवाँ मण्डल वंश मण्डल नहीं है तथा उसकी प्राचीनता पूर्णतः सन्दिग्ध है।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

अथर्ववेद में उनके विषपायी (गरगिरौ) होने का भी उल्लेख है जो अकस्मात् रुद्र के विषपान का स्मरण दिलाता है। ऋक्संहिता के दशम् मण्डल के केशि सूक्त में कहा गया है कि रुद्र ने केशी के साथ विषपान किया। यद्यपि यास्क और सायण ने केशी शब्द का लाक्षणिक अर्थ सूर्य माना है किन्तु काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण जैसे उत्तर वैदिक ग्रन्थों में केशियों का उल्लेख एक कबीले के अर्थ में हुआ है। इससे लगता है कि ऋग्वेद के इस सूक्त का केशी भी सूर्य न होकर केशी जातीय था। ऐसी स्थिति में केशी का अर्थ जटाधारी करना अधिक उपयुक्त होगा। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि इसी सूक्त के कुछ मंत्रों में केशी की तुलना मुनियों से की गई है।[1] इन मुनियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि उनके केश लम्बे और वस्त्र पीत होते हैं। वे पवन में विहार करते हैं, विषपान करते हैं और मौनेय से उन्मदित रहते हैं। यह सर्वथा स्पष्ट है कि इन मुनियों का केशियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। उनके चमत्कारपूर्ण विरल वर्णन और अन्य अनेक तथ्यों के आधार पर यह प्रायः स्वीकार किया गया है वे किसी समृद्ध आर्येतर सांस्कृतिक परम्परा के उच्छेदित अवशेष थे।[2] इस प्रकार व्रात्य, केशी और मुनि अवैदिक धार्मिक परम्पराओं के पोषक थे। इनमें प्रथम दो का सम्बन्ध रुद्र से स्पष्ट है। यह बात अत्यन्त कौतूहलजनक है कि रुद्र, व्रात्य, केशी और मुनियों को समान रूप से विषपान करने वाला कहा गया है। इससे भी उनके समान धार्मिक परिवेश का संकेत मिलता है।

यजुर्वेद तथा ब्राह्मणों में रुद्र के प्रभाव और अनार्यत्व में और अधिक वृद्धि हो जाने के चिन्ह स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं। अथर्ववेद में रुद्र द्वारा भव और शर्व को आत्मसात करने की प्रक्रिया संकेतित है जबकि यजुर्वेद में निश्चित रूप से वे रुद्र के दो नाम मात्र हैं। यद्यपि यजुर्वेद में भी उनका विनाशकारी एवं कल्याणकर दोनों रूपों में स्तवन हुआ है और उन्हें पुराने 'महाभिषक' आदि विरुद दिये गये हैं तथापि उनके स्वरूप की कल्पना में कुछ ऐसे नवीन तत्त्वों का समावेश हो गया है जो अंशतः पुराने तत्त्वों का विकास किन्तु मुख्यतः आर्येतर प्रभाव का परिणाम प्रतीत होते हैं। इस संहिता में रुद्र के लिये "दौर्वात्य" विरुद का प्रयोग हुआ है। महीधर ने इसका

---

१. ऋक्संहिता १०, १३६

२. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ४-५

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

अर्थ 'उच्छृङ्खल आचरणवाला' बताया है। यह शब्द अथर्ववेद के व्रात्य सूक्त के साक्ष्य से संगति रखता है और रुद्र की आर्येतर व्रात्यसमाज में लोकप्रियता का परिचायक है। यजुर्वेद में रुद्र का पशुपति रूप भी अपेक्षया स्पष्टतर हो गया है। यजुर्वेद में रुद्र की कल्पना के विकास पर सर्वाधिक प्रकाश 'त्र्यम्बक होम' और 'शतरुद्रिय' नामक दो सूक्तों से मिलता है। 'त्र्यम्बक होम' में रुद्र के सम्बन्ध में कुछ ऐसी महत्वपूर्ण सूचनाएँ भी है जो समस्यामूलक है। प्रथम इस सूक्त में रुद्र को त्र्यम्बक कहा गया है[१]। दूसरे, इसमें रुद्र के साथ पहली बार एक देवी अम्बिका का उल्लेख हुआ है जिसे उनकी बहन बताया गया है[२]। तीसरे, इसमें रुद्र को कृत्तिवासाः (खाल के वस्त्र पहनने वाला) कहा गया है[३]। चौथे, इसमें रुद्र के वाहन मूषक की चर्चा है। और पाँचवें, इसमें रुद्र से उनका यज्ञ भाग देने के उपरान्त 'मूजवत' पर्वत से परे चले जाने के लिये अनुरोध किया गया है[४]। यह प्रार्थना कुछ ऐसे ढंग से की गई है जिससे लगता है कि स्तोता अपने आपको रुद्र से दूर ही रखना चाहता था। रुद्र के सम्बन्ध में 'त्र्यम्बक होम' से अधिक दिलचस्प बातें शतरुद्रिय स्तोत्र के छाछठ मंत्रों में कही गई हैं। इसमें पहली बार रुद्र को शिव, शंकर गिरित्र, गिरिचर तथा गिरिशय आदि कहा गया है। ये उपाधियाँ परवर्ती युगों में अत्यन्त लोकप्रिय हुईं। दूसरे, इसमें उनकी पुरानी 'नील शिखण्डिन' उपाधि 'नील ग्रीव' में परिवर्तित हो जाती है[५]। तीसरे, इसमें रुद्र को कुछ ऐसी उपाधियाँ भी दी गई हैं जो किसी प्रकार भी सम्मानपूर्ण नहीं कही जा सकतीं—जैसे स्तेनानां पति (चोरों का स्वामी) स्तायूनांपति (ठगराज), तस्कराणांपति (तस्कर-राज), विकृन्तानांपति (गलकटों का सरदार), तथा वनानांपति आदि।[६] इस स्तोत्र में रुद्र के गणों का भी वर्णन है जिनमें व्रात, व्रातपति, तक्षन, कुलाल, कर्मकार, निषाद, श्वनि (श्वानपालक) मृगयु (व्याध) आदि सम्मिलित किये गये हैं। रुद्र सम्प्रदाय के अनुयायियों को देखते हुये स्पष्ट है कि रुद्र की उपासना समाज के हीन वर्ग में विशेष

---

१. वाज० सं० १. ६०
२. वाज० सं० ३. ५७, तै० ब्रा० १. ६. १०
३. वाज० सं० १६. ११
४. शत० ब्रा० २. ६. २. १७
५. वाज० सं० १६. २८
६. वाज० सं० १६, तै० सं० ४. ४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

लोकप्रिय थी। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उत्तर वैदिक युग में शूद्र वर्ग के अन्तर्गत परिगणित शिल्पियों एवं व्यवसायियों में आर्येतर तत्व ही प्रधान था। निषाद तो निश्चित रूप से प्रजातीय और सांस्कृतिक दृष्टि से वैदिक आर्यों से भिन्न थे।

ब्राह्मण काल में रुद्र के प्रभाव और पद में और अधिक वृद्धि दिखाई देती है। ऐतरेय ब्राह्मण के एक प्रसंग में कहा गया है कि रुद्र की उत्पत्ति सब देवताओं के उग्र अंश को मिला कर अपनी पुत्री पर आसक्त प्रजापति को दण्डित करने के लिये हुई।[१] वहाँ गौरव की दृष्टि से उनके नाम का उल्लेख नहीं हुआ है। प्रत्युत 'एष देवो भवत' कहकर सम्मान प्रकट किया गया है। ब्राह्मण काल में भी रुद्र पशुओं के विनाशक माने जाते थे। पंचविंश ब्राह्मण में तो उन्हें स्पष्टतः मृगयु कहा गया है।[२] ऐतरेय ब्राह्मण के लेखक का यह विश्वास है कि रुद्र प्रकृत्या इतने उग्र हैं कि उनका नाम लेने से ही अनिष्ट हो सकता है अतः वह स्तोता को रुद्र का नाम उच्चारित न करने और 'रुद्र' के स्थान पर 'रुद्रिय' पाठ करने की सलाह देता है।[३] किन्तु इस विधि से भी उसे विश्वास नहीं होता कि रुद्र की स्तुति करने से अनिष्ट नहीं होता। अतः वह सुझाव रखता है कि स्तोता को उस मंत्र का पाठ करना चाहिये जिसमें रुद्र के शान्त रूप का स्तवन उनका नाम लिये बिना किया गया है तथा उनसे पुरुषों, स्त्रियों और गायों के कल्याण की प्रार्थना की गई है।[४] ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार ऐसा करने से रुद्र भयास्पद देवता न होकर कल्याणकर हो जायेंगे। इस ग्रन्थ में उल्लिखित नाभानेदिष्ट की कथा से भी रुद्र का उत्कर्ष प्रमाणित होता है। इसमें रुद्र विश्व की सभी वस्तुओं पर अपना अधिकार बताते हैं और नाभानेदिष्ट के पिता उसका समर्थन करते हैं।[५]

शतपथ ब्राह्मण में रुद्र का स्वरूप और भी अधिक उग्र है। इसमें यद्यपि उन्हें सम्वत्सर और उषा के मिलन से उत्पन्न बताया गया है लेकिन यह भी

---

१. ऐत० ब्रा० ३. ३३. १
२. पंच० ब्रा० १४. ६. १२
३. ऐत० ब्रा० ३. ३४. ७
४. ऋ० १. ४६. ६
५. ऐत० ब्रा० ५. १४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

संकेत किया है कि 'उनसे स्तोता के पशुओं का अनिष्ट हो सकता है।[१] इस ग्रंथ में एक स्थल पर उनकी कल्पना एक ऐसी अशुभ शक्ति के रूप में की गयी है जो एक स्थान से दूसरे स्थान को भटकती रहती है और कहा गया है कि स्तोता को उत्तर दिशा में जाकर (जिस ओर रुद्र का विशेष आवास है) सड़कों और चौराहों पर हविष अर्पित करनी चाहिये।[२] अन्यत्र कहा गया है कि स्तोता रुद्र को हविष देने के बाद प्रार्थना करे कि वह अपने धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाए बिना अर्थात् उसे कोई हानि पहुँचाये बिना सूजबत के पार चले जायें।[३] इतना ही नहीं, इसके बाद यह विधान किया गया है कि किस प्रकार स्तोता, जो रुद्र की उपासना करने से अपवित्र हो गया है, अपने को पवित्र करे।[४] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार शतरुद्रिय की रचना भी रुद्र के क्रोध को शान्त करने के लिये की गई थी। ब्राह्मण साहित्य में यत्र-तत्र रुद्र को शुभ और कल्याणकर देवता भी माना गया है तथा कुछ प्रसंगों में उनका नैतिक उत्कर्ष भी संकेतित है।[५]

रुद्र की पत्नी पार्वती का उल्लेख तैत्तिरीय आरण्यक में तथा उमा हेमवती का केनोपनिषद में मिलता है।[६] उमा के उद्गमन पर कुछ विद्वानों ने द्रविड़ प्रभाव माना है। उनके अनुसार उमा शब्द द्रविड़ भाषा के 'अम्मा' शब्द से उद्भूत प्रतीत होता है।[७] उमा, हेमवती और पार्वती शब्द द्वारा इन देवियों का सम्बन्ध गिरि-प्रदेश से सूचित होता है। परवर्ती साहित्य में उमा को हिमवन्त-सुता कहा गया है तथा शिव को कैलाश-पति। यजुर्वेद के गिरिवर, गिरिशय आदि विशेषणों से तथा उनकी पत्नी के पर्वतीय होने से यह प्रकट है कि उत्तर वैदिक युग में रुद्र गिरि-कानन के अधिपति देवता भी माने जाने लगे थे। पर्वत मालाओं से सुशोभित उत्तर-दिशा में रुद्र के आवास और पर्वतीय प्रदेश के निवासी किरातों में उनकी लोक-प्रियता से भी यह बात सूचित है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने बढ़ते हुए प्रभुत्व के

---

१. शत० ब्रा० २.६.२.६
२. शत० ब्रा० २. ६. २. ७
३. शत० ब्रा० २. ६. २, १७
४. शत० ब्रा० २. ६. २. १८
५. जै० ब्रा० ३. २६१-३
६. केनोपनिषद ३.१५
७. ओपर्ट, ओरिजिनल इनहेबिटेन्टस् आव इण्डिया, पृ० ४२१

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

युग में रुद्र ने किसी पार्वतीय देवता को भी आत्मसात किया जिसकी उपासना मुख्यतः आर्येतर पहाड़ी जातियों (किरातों) में प्रचलित रही होगी।

उपनिषत्काल में रुद्र के महत्व और प्रभाव का वर्णन छान्दोग्य, वृहदारण्यक, महानारायण, श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में उपलब्ध होता है।[१] श्वेताश्वतर में रुद्र को ही विश्व का अधिपति तथा देवताओं का भी द्रष्टा माना गया है।[२] इसी ग्रन्थ में अनेकशः शिव का उल्लेख परमात्म-तत्व के रूप में भी हुआ है।[३]

विष्णु

ऋक्संहिता में विष्णु का उल्लेख सौर-देवता के रूप में मिलता है। विष्णु सूर्य के क्रियाशील रूप के प्रतिनिधि हैं। ऋग्वेद में उनके स्वरूप की तुलना पर्वत पर रहने वाले, यथेच्छ भ्रमण करने वाले, भयानक पशु-(सिंह) से की गई है।[४] विष्णु का महत्वपूर्ण कार्य पृथ्वी को तीन डगों से मापना है। विशाल डगों या क्रमों के कारण उन्हें 'उरुक्रम' और 'उरुगाय' भी कहा गया है। विष्णु के इन तीन पद-क्रमों के विषय में पर्याप्त वैमत्य है। यास्क ने आचार्य और्णवाभ का मत उद्धृत किया है जिनके अनुसार तीन पदक्रमों-द्वारा प्रातः मध्याह्न और सायंकाल में सूर्य के द्वारा अङ्गीकृत आकाश के तीन स्थान-विन्दुओं का निर्देश है।[५] अन्य आचार्य शाकपूणि के मतानुसार त्रिविक्रम से पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश—इन तीन लोकों के मापने तथा अतिक्रमण करने का संकेत है। इन दोनों मतों में से द्वितीय मत की पुष्टि ऋग्वेद के मन्त्रों से स्वतः होती है जिनमें तृतीय पद की सत्ता ऊर्ध्वतम लोक में मानी गई है।

विष्णु नामक सौर देवता उत्तर-वैदिक काल में विशेष महत्वपूर्ण हो जाता है।[६] ऐतरेय ब्राह्मण के प्रारंभ में ही विष्णु के परमदेव होने की सूचना दी

---

१. छा० उप० ३.७.४, वृ० उप० ३.९.४, महा० उप० १३.२, श्वेता० उप० ३. २.४

२. श्वेता० उप० ३.४ यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः

३. श्वेता उप० १.१०

४. ऋ० १.१५४.२

५. निरुक्त १२.१९

६. मैकडानेल, वैदिक माइथालोजी, पृ० ३७ रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आफ दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग १, पृ० ११०

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

गई है।[१] ब्राह्मण साहित्य में स्थान-स्थान पर उन्हें यज्ञ का प्रतिरुप माना गया है इससे भी उनकी महत्ता द्योतित है।[२] ब्राह्मण सहित्य में विष्णु के वामन अवतार की कल्पना भी अंकुरित हुई जिसका आधार विष्णु का त्रिविक्रम प्रतीत होता है। ब्राह्मणों में असुरों के सम्मुख देवताओं के अस्तित्व एवं महत्व की रक्षा का श्रेय विष्णु को ही दिया गया है। ऐतरेय-ब्राह्मणके अनुसार असुरों ने विष्णु को उतनी भूमि देना स्वीकार किया जितनी वे तीन पदों से अधिकृत कर सकें। विष्णु ने सभी लोकों को माप लिया।[३] तैत्तिरीय संहिता का वर्णन कुछ और स्पष्ट है। इसके अनुसार विष्णु ने वामन रुप धारण करके तीनों लोकों को अधिकृत किया।[४] शतपथ ब्राह्मण में भी असुरों द्वारा विजित पृथ्वी पर वामन-विष्णु की सहायता से देवताओं के अधिकार की बात कही गई है।[५] शतपथ ब्राह्मण में नारायण का भी उल्लेख हुआ है किन्तु विष्णु से उनका संबंध सूचित नहीं होता है।[६] मैत्रायणी संहिता में विष्णु का उल्लेख केशवनारायण के रुप में हुआ है[७] तथा तैत्तिरीय आरण्यक में भी विष्णु और नारायण का संबंध द्योतित है।[८] महाकाव्यों में विष्णु -नारायण की सत्ता परस्पर विलयित हो गई है किन्तु विष्णु और नारायण के तादात्म्य का प्रारम्भिक प्रयास उत्तर-वैदिक साहित्य में हीं उपलब्ध होता है। कतिपय विद्वान नारायण की अवधारणा को आर्येतरीय मानते है।[९] नारा- शब्द स्वतः द्रविड़ उत्पति का प्रतीत होता है।[१०]

---

१ ऐत० ब्रा० १.१

२ शत० ब्रा० ५. २. ३. ६, ५. ४. ५. १, १२. ४. १. ४

३ ऐत० ब्रा० ६. १५

४ तै० सं २. १. ३. १

५ शत० ब्रा० १.२.५.१

६ शत० ब्रा० १२.३.४.१

७ मैत्रा० सं० २.६

८ तै० आ० १०.११.१

९ डी० डी० कौशाम्बी, ऐन इन्ट्रोडक्शन टू दि स्टडी आव इण्डियन हिस्टरी, पृ० १११

१० वहीं

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

अन्य नवीन देवता

उत्तर वैदिक युग में अनेक नवीन देवताओं की कल्पना भी उपलब्ध होती है। इनमें कुछ तो अमूर्त हैं तथा दार्शनिक चिन्तन के परिणाम प्रतीत होते हैं। अथर्ववेद में परम सत्ता को अनेक संज्ञाओं द्वारा व्यक्त किया गया है। इस संहिता में एक स्थान पर 'काल' को ही जगत का परम तत्व स्वीकार किया गया है। काल समस्त प्रपंच का अधिष्ठान हैं। उसमें मन, प्राण तथा नाम ही समाहित नहीं है प्रत्युत वह सब का ईश्वर है तथा प्रजापति का भी पिता है।[१] 'काल' की अवधारणा का अपिम्र विकास आरण्यकों में मिलता है। तैत्तिरीय आरण्यक के प्रारम्भिक अनुवाकों में काल के पारमार्थिक और व्यावहारिक रूप का सुन्दर वर्णन मिलता है। अखण्ड सम्वत्सर के रूप में यही काल उद्भासित है तथा व्यवहार के लिये मुहूर्त, दिवा-रात्रि, पक्ष, मास, आदि में विभक्त होते हुये भी वह एकाकार है। उसकी तुलना उस महानदी से की गई है जो अक्षय स्रोत से सदा प्रवाहित होती है, जिसे नाना सहायक नदियां आकर पुष्ट बनाती है तथा जिसका प्रवाह कभी नहीं सूखता।[२] काल के अतिरिक्त अथर्ववेद में 'स्कम्भ'[३] और 'उच्छृष्ट'[४] का उल्लेख भी हुआ है जो परब्रह्म के ही नवीन अभिधान तथा स्वरूप प्रतीत होते हैं। जगत के आश्रय तथा आधार होने के कारण ही परमब्रह्म स्कम्भ की संज्ञा से मण्डित है। वह विश्व का ही नहीं प्रत्युत ब्रह्म का भी कारण है। इसीलिये उसे 'ज्येष्ठ ब्रह्म' कहा गया है। स्कम्भ में भूमि, अन्तरिक्ष, आकाश, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और वायु सभी समाहित माने गये हैं।[५] 'उच्छृष्ट सूक्त' में भी वही ब्रह्म उच्छृष्ट नाम से व्यक्त किया गया है। उच्छृष्ट शब्द का अर्थ है बचा हुआ, शेष पदार्थ। दृश्य जगत का निषेध करने पर जो वस्तु अवशिष्ट रहती है. सम्भवतः वही उच्छृष्ट है जिसकी तुलना परवर्ती साहित्य के 'नेति नेति' (ब्रह्म) से की जा सकती है। जगत के सभी पदार्थों की उत्पत्ति 'उच्छृष्ट सूक्त' में उच्छृष्ट से ही मानी गई है।[६] 'प्राण' का भी उल्लेख अथर्ववेद में

---

१. अथर्ववेद १९.५३,५४
२. तै० आ० १.२ नदीव प्रभवात् काचित् अक्षय्यात् स्यन्दते यथा
३. अथर्ववेद १०.७.८
४. अथर्ववेद ११.७
५. अथर्ववेद १०.७.१२
६. अथर्ववेद ११.७.२३

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

परम सत्ता के रूप में मिलता हैं तथा उसका तादात्म्य प्रजापति से स्थापित किया गया है।[१] आरण्यकों एवं उपनिषदों में प्राण-विद्या का जो विस्तार है उसका अंकुर अथर्ववेदीय 'प्राण' के वर्णन में माना जा सकता है। ऐतरेय आरण्यक के अनुसार देवता, वेद, ऋषि एवं संसार सबकी उत्पत्ति प्राण से हुई।[२] अथर्ववेद के त्रयोदश काण्ड में रोहित का वर्णन अनेकशः मिलता है जो सूर्य के रक्ताभ स्वरूप का प्रतीक मालूम होता है।[३] रोहितको भी यज्ञ का जनक तथा समग्र विश्व का निर्माता कहा गया है तथा उसी के अधिष्ठान के ऊपर यह संसार स्थिर माना गया है।[४] अथर्ववेद में रोहित का तादात्म्य भी प्रजापति से स्थापित किया गया है। अथर्ववेद के विवरण से रोहित भी ब्रह्म का पर्याय प्रतीत होता है।

उत्तर-वैदिक युग के कुछ नवीन देवता प्राकृतिक जगत से सम्बन्धित हैं। ऋग्वेद में वनस्पतियों की स्तुति में सूक्त रचित हैं[५] किन्तु अथर्ववेद तथा तैत्तिरीय संहिता में दैवी शक्ति का निवास विशेषतः अश्वत्थ, न्यग्रोध, उडुम्बर और प्लाक्ष में माना गया हैं।[६] अश्वत्थ की आकस्मिक महत्ता में वृद्धि का कारण सैन्धव धर्म का प्रभाव हो सकता है क्योंकि सैन्धव समाज में अश्वत्थ वृक्ष धार्मिक दृष्टि से समादृत था जब कि ऋग्वैदिक धर्म के अन्तर्गत ऐसी स्थिति नहीं थी। अथर्ववेद में एक स्थल पर पौधे का उल्लेख पृथ्वी देवी से जन्म लेती हुई एक देवी के रूप में हुआ है।[७] यह वर्णन सैंधव संस्कृति से सम्बन्धित उस मुद्रा से आश्चर्यजनक साम्य रखता है जिस पर देवी की योनि से पौधे का जन्म प्रदर्शित किया गया है।[८] पशुओं में अनेक को ऋग्वेद में ही आंशिक देवत्व से युक्त किया गया है किन्तु उनकी वास्तविक उपासना

---

१. अथर्ववेद ११.४
२. ऐत० आ० २.१.६, २.२.१०
३. रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग १ पृ० २०६
४. अथर्ववेद १३.१-३
५. ऋ० ७.३४.२३, १०.६४.८
६. तै० सं० ३.४.८.४
७. अथर्ववेद ६. १३६.१
८. मार्शल, मोहनजोदड़ो एण्ड दि इण्डस सिविलिजेशन, ग्रन्थ १, पृ० ५२ प्लेट १२

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

सर्वथा सन्दिग्ध हैं। उत्तर वैदिक काल में वराह और कच्छप में देवत्व की कल्पना स्पष्ट है। नाग उपासना की लोकप्रियता भी परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों के अध्ययन से स्पष्ट है। ओल्डेनवर्ग नागपूजा के मूल में टोटमवाद मानते हैं।[१] उनका यह मत ग्राह्य प्रतीत होता है। बौद्ध युग में कोशल और विदेह के समीपवर्ती प्रदेशों में नाग जाति का बाहुल्य था। इन नाग लोगों में सर्प की उपासना प्रचलित रही होगी। भय की भावना तथा उपासक से भयंकर सर्पों को दूर रखने की कामना को भी नाग-पूजा के विस्तार का एक कारण माना जा सकता है।

औपनिषद-दर्शन

वैदिक साहित्य से अन्तर्गत विकसित अध्यात्मवाद का प्रतिपादन उपनिषदों में उपलब्ध होता है। उपनिषदों में उल्लिखित अनेक विचार बीजरूपेण संहिताओं एवं ब्राह्मणों में भी मिलते हैं किन्तु ब्राह्मण युग में यज्ञिय कर्मकाण्डों का जो आशातीत विकास एवं विस्तार हुआ उससे मूल आध्यात्मिक भावना ग्रस्त हो गई। इसके स्वाभाविक प्रतिक्रिया स्वरूप यज्ञों के आडम्बरपूर्ण बाह्य स्वरूप का विरोध हुआ तथा उनमें अन्तर्निहित आध्यात्मिक तत्व के महत्व पर बल दिया गया। इस प्रकार यह सिद्ध करने का प्रयास हुआ कि यज्ञ अपने आप में साध्य नहीं है अपितु उनमें अन्तर्निहित सूक्ष्म आध्यात्मिक तत्व ही महत्वपूर्ण है। मुण्डकोपनिषद में यज्ञ और बलिदान का प्रकट विरोध मिलता है।[२] बृहदारण्यक उपनिषद में इस बात का संकेत है कि क्रमशः यज्ञ और बलिदान की भावना को चिन्तन और मनन में बदलने का प्रयास हो रहा था। परिणामतः उपनिषद् युग में देवयज्ञ से हटकर आत्मयज्ञ पर बल दिया गया। यद्यपि ब्रह्म अथवा परमपुरुष की प्राप्ति के लिए बाह्य-आडम्बर व्यर्थ बताए गए तथापि सामाजिक परिवेश एवं जनमानस को देखते हुए उपनिषत्कारों ने पूर्णतया यज्ञ धर्म की अवहेलना नहीं की। उन्होंने उसकी व्याख्या में परिवर्तन किया। उन्हें शंका थी कि समाज में दीर्घकाल से प्रतिष्ठित यज्ञों की आलोचना सम्भवतः लोकप्रिय नहीं हो सकेगी। अतः मनीषियों ने यज्ञमूलक धर्म के विरुद्ध क्रान्ति न करके उसके

---

१. रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग १, पृ० १९५ पर उद्धृत

२. प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येष कर्म एतच्छ्रयो येऽभिनन्दन्ति मूढ़ा जरा मृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

उद्देश्य एवं अभिप्राय में ही परिवर्तन का सफल प्रयास किया। वैदिक प्रार्थना और कर्मकाण्ड का स्थान उपनिषदों में चिन्तन, मनन और निदिध्यासन ने ले लिया। इस प्रकार बहिर्मुखी वैदिक धर्म उपनिषद् काल में अन्तर्मुखी हो गया। ज्ञान के समक्ष कर्म की हीनता को सूचित करते हुए यह भी कहा गया कि यज्ञ से मनुष्य को केवल नश्वर सुख ही प्राप्त हो सकते हैं। स्वर्ग सुख के विषय में भी उपनिषद यह मानते हैं कि स्वर्ग-सुख का भोग जीव तभी तक कर सकता है जब तक उसके पुण्य शेष हैं। पुण्य समाप्त होते ही पुनः उसे जन्म लेना पड़ता है और पुनः उसकी मृत्यु होती हैं। इस प्रकार यज्ञ से उत्पन्न सुख अनित्य हैं। इसके विपरीत ज्ञान के माध्यम से व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति करता है जिसके द्वारा वह जन्म और मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

मूल समस्याएँ

उपनिषद् युग बौद्धिक जिज्ञासा का युग था। इस युग के मनीषियों ने अनेक शाश्वत समस्याओं के समाधान का प्रयास किया जिनके चिन्तन एवं मनन के परिणामस्वरूप प्रौढ़ दर्शन का विकास हुआ। उपनिषद् कालीन दार्शनिक इस अन्वेषण में रत है कि इस संसार के मूल में क्या वास्तविक सत्य है। उपनिषदों के अध्यात्मवेत्ता ऋषियों ने इस नानात्मक, सतत परिवर्तनशील तथा अनित्य जगत के मूल में विद्यमान शाश्वत, सत्तात्मक पदार्थ का अन्वेषण तात्विक दृष्टि से कर निकाला है। इस अन्वेषण कार्य में उन्होंने तीन पद्धतियों का उपयोग किया है जिन्हें आधिभौतिक, आधिदविक तथा आध्यात्मिक कहा जा सकता है। आधिभौतिक पद्धति जगत के उत्पत्ति विकास एवं विनाश के कारणों की छानबीन करती हुई विलक्षण नित्य पदार्थ के निर्वचन में समर्थ होती है।[१] आधिदैविक पद्धति नाना रूप तथा स्वभावधारी विपुल देवताओं में शक्ति संचार करने वाले एक परमात्म तत्व को खोज निकालती है।[२] आध्यात्मिक पद्धति में मानस प्रक्रियाओं तथा शारीरिक कार्यकलापों के अवलोकन से उनके मूलभूत आत्मतत्व का निरूपण किया जाता है। इन तीन शैलियों के द्वारा उपनिषद्कालीन दार्शनिकों ने जिस परमततत्व का उहोपोह किया है उसे अन्ततः ब्रह्म कहा गया है। उपनिषद् साहित्य में इस संसार, शरीर तथा परम सदवस्तु के सम्बन्ध में

---

१. बृ० उप० ३.८.९

२. बृ० उप० ३.१-१०

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

अदम्य जिज्ञासा अनेकत्र मुखरित है। बृहदारण्यक उपनिषद में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि 'वह कौन सा यथार्थ मूल है जिससे बारम्बार मृत्यु द्वारा काट लिए जाने पर भी जीवन का वृक्ष फिर फिर उग जाता है'।[१] कठोपनिषद में यह जिज्ञासा प्रकट की गई है कि 'वह क्या है जो शरीर के सुषुप्ति अवस्था में चले जाने पर भी शेष रहता है तथा निरन्तर उत्पत्ति करता रहता है'।[२] मुण्डकोपनिषद में कहा गया है कि 'वह कौन है जिसके ज्ञान से सबको जाना जा सकता है'।[३] इस प्रकार, संक्षेप में, उपनिषद जगत के आदि-कारण, स्रष्टा, पालक एवं संहारक की खोज में थे। इसको उन्होंने प्रारम्भ में बाह्य प्राकृतिक जगत में ढूंढ़ा और वहाँ सन्तोष न मिलने पर मनोवैज्ञानिक जगत में उसकी खोज की और अन्त में रहस्यमय अनुभूति में उन्हें उसकी प्राप्ति हुई। उस परम तत्व को जीवन में उतारने का प्रयास भी उपनिषदों में हुआ। इसके लिए परमसाधन ब्रह्म-ज्ञान को बताया गया। इसीलिए बृहदारण्यक उपनिषद में असत् से सत्, अंधकार से ज्योति और मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलने के लिए प्रार्थना की गई है।[४]

सृष्टि के मूल में अन्तर्निहित परमतत्व को ढूँढ़ने में सूक्ष्मतम अन्वेषण तथा अन्तिम निष्कर्ष के पूर्व अनेक अवस्थाओं का संकेत उपनिषदों में मिलता है। पूर्ववर्ती वैदिक देवतत्व के अन्तर्गत प्राकृतिक शक्तियों को ही परमतत्व माना जाता था किन्तु उपनिषद्काल तक स्वीकृत हुआ कि प्राकृतिक शक्तियाँ परम तत्व नहीं वरन् उसका वाह्य आवरण मात्र हैं। प्रारम्भ में प्राकृतिक शक्तियों का स्थान शारीरिक शक्तियाँ लेती है। इस प्रकार छान्दोग्य उपनिषद के एक प्रसंग में परमतत्व को आँख अथवा शरीर की गर्मी कहा गया है।[५] किन्तु पुनः क्रमशः इन शारीरिक तत्वों से भी सन्तोष न पाकर जिज्ञासु मनोवैज्ञानिक तत्वों की ओर झुके। कौषीतकी तथा बृहदारण्यक दोनों ही उपनिषदों में इस प्रकार के प्रसंग मिलते हैं जिनमें शारीरिक शक्तियों का स्थान 'सुषुप्ति' इत्यादि मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं ने ले लिया

---

१. बृ० उप० ३.९.२८
२. कठोपनिषद, २.५.४–८
३. मुण्डकोपनिषद १.१.३ कस्मिन्नु खलु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।
४. बृ० उप० १.३.२८
५. छान्दोग्य उप० ४.१०.१५

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

है। बाद में इन मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं से भी सन्तोष नहीं हुआ तथा परमतत्व की कल्पना ब्रह्म के रूप में हुई जिसका वर्णन 'नेति-नेति' कहकर किया गया। इसी ब्रह्म को संसार की सृष्टि, स्थिति तथा लय का कारण माना गया।[१] तैत्तिरीय उपनिषद के अनुसार 'जिसमें समस्त जीव उत्पन्न हुए हैं, जिसमें रहते हैं तथा अन्त में जिसमें समा जांयगे वही ब्रह्म है।[२] जगत की सभी वस्तुओं का प्रकाश ब्रह्म के कारण है। कठोपनिषद में कहा गया है कि 'उसके सामने सूर्य नहीं चमकता। उसके सामने चन्द्रमा तारे और विद्युत नहीं चमकते। अग्नि की उसके समक्ष कोई स्थिति नही है। उसके चमकने से ही सब चमकते हैं। उसके प्रकाश से ही सभी प्रकाशित हैं।'[३] ब्रह्म को जगत में अन्तस्थ सूक्ष्म तत्व भी माना गया। छान्दोग्य उपनिषद में न्यग्रोध वृक्ष के फल की कथा के माध्यम से यह बात स्पष्ट की गई है कि वस्तु जगत उस सूक्ष्म जगत की बाह्य अभिव्यक्ति मात्र है। वृहदारैण्यक के अनुसार ब्रह्म ही जगत का एकमात्र देव है जिसका शरीर पृथ्वी है, दृष्टि अग्नि है, मानस प्रकाश है और वही समस्त मानव आत्माओं का परम गन्तव्य है।[४]

ब्रह्म का स्वरूप

उपनिषदों के अनुसार जगत का सार और परम तत्व ब्रह्म है। ब्रह्म अनन्त, नित्य, सर्वव्यापी, सर्वज्ञानी और शुद्ध चैतन्य है। वह सबका आत्मा है। तैत्तिरीय उपनिषद के शब्दों में परब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है।[५] छान्दोग्य उपनिषद में उसे जगत की सृष्टि, स्थिति और विनाश का कारण माना गया है।[६] उसका तादात्म्य ज्ञान और प्रज्ञा से भी स्थापित किया गया है।[७] उसे अन्तःस्थ भी माना गया है और परात्पर भी। जगत उसके एक अंश मात्र से बना है। वृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार ब्रह्म के एक पद

---

१. छान्दोग्य उप० ३.१४.१
२. तै० उप० ३.१
३. कठोपनिषद २.५.१५
४. वृ० उप० ३.१.१०
५. तै० उप० २.१, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहित गुहायां परमे व्योमन्।
६. छादोग्य उप० ३.१४.१, तै० उप० ३.१
७. केनोपनिषद, २.३

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

से तीनों लोकों की रचना हुई है तथा दूसरे में वेदों का त्रिविध ज्ञान आ जाता है। तीसरे में तीन प्राण हैं और चौथा पृथ्वी से परे सूर्य के रूप में चमकता है। आत्मा भी ब्रह्म का ही स्वरूप है जो पूर्ण है किन्तु पूर्ण आत्मा के निकलने के बाद भी ब्रह्म में कोई कमी नहीं आती और वह पूर्ण ही रहता है। वृहदारण्यक उपनिषन में इस प्रसंग में यह कहा गया है कि 'वह भी पूर्ण है, यह भी पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण निकलता है किन्तु उस पूर्ण के बाद जो कुछ बचता है वह भी पूर्ण है।[१] इस प्रकार सब कुछ उस अनन्त से निकलता है और अनन्त में पहुँचना ही उसका लक्ष्य है। उपनिषदों में ब्रह्म को इन्द्रियों द्वारा दुर्ज्ञेय तथा वाणी द्वारा अकथनीय बतलाया गया है। वह अणु से भी छोटा है और महान से भी महत्तर। उसके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए याज्ञवल्क्य गार्गी से कहते हैं कि परम ब्रह्म न तो स्थूल है और न सूक्ष्म, न छोटा है और न बड़ा, इसका कोई स्वरूप नहीं है। यह कान, आँख, और मस्तिष्क से भी परे हैं। इसी प्रकार केनोपनिषद में निष्प्रपंच ब्रह्म का सजीव चित्र मिलता है। इसके अनुसार "जिसे वाणी कह नहीं सकती किन्तु जिसकी शक्ति से बोलती है उसे तुम ब्रह्म जानो। इसे नही जिसकी तुम उपासना करते हो।" ब्रह्म निरुपाधि है। देश, काल एवं निमित्त रूपी उपाधियों से पूर्णतः विरहित है। वह देशातीत, कालातीत और निमित्तातीत है। प्रमाणातीत होने से वहनितरां अप्रमेय है। वह किसी भी प्राणी की बुद्धि का विषय नही हो सकता। मुण्डकोपनिषद में ब्रह्म की उपमा मकड़े से दी गई है तथा कहा गया है कि जिस प्रकार मकड़ा अपने शरीर से जाली का वितन्वन करता है तथा पुनः अपने में उसे समेट लेता है। उसी प्रकार ब्रह्म विश्व को उत्पन्न एवं नष्ट करता है। जिस प्रकार बीज के अदृश्य सार से वृक्ष उत्पन्न होता है उसी प्रकार सूक्ष्म परम-तत्व से विश्व का सृजन होता है। पानी में घुले हुए लवण की भाँति सर्वव्यापी ब्रह्म जगत में व्याप्त होते हुए भी दिखाई नहीं देता। ब्रह्म के इस परात्पर रूप के अतिरिक्त उपनिषदों में अपर ब्रह्म का भी उल्लेख मिलता है जो सीमित, सोपाधि, सगुण, सप्रपंच एवं अन्तःस्थ है।

उपनिषदों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपदेश अद्वैतवाद का है। इस युग के मनीषियों के मतानुसार अखिल सृष्टि जड़, जंगम चेतन स्थावर, सभी

---

१. बृ० उप० २.५.१९

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

पर-ब्रह्म परमात्मा के स्वरूप हैं। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' 'तत् त्वमसि,' 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महा वाक्यों द्वारा सूक्ष्म एवं अद्वैत ब्रह्म की सर्वव्याप्त सत्ता एवं आत्मा तथा परमात्मा की एकता प्रतिभासित की गई है[१] तथा आत्मा और ब्रह्म में अन्तर देखने का मूल कारण अविद्या अथवा अज्ञान माना गया है।

अद्वैतवाद

आत्मा और परमात्मा की एकता उपमाओं के माध्यम से भी स्पष्ट की गई हैं। जब कुम्हार कोई घड़ा बनाता है तो आकाश का एक अंश उस घड़े में भी व्याप्त हो जाता है। घड़ा शरीर है और घड़े के भीतर व्याप्त आकाश ही आत्मा है। जब घड़ा फूट जाता हैं अर्थात् आदमी का शरीर छूट जाता है तब उससे आवद्ध आकाश पुनः विशाल आकाश में मिल जाता है। जिस घड़े का आकाश कर्म की गन्ध से दूषित है उस आकाश-खण्ड (आत्मा) को पुनः किसी दूसरे घड़े में जाना होगा (अर्थात् पुनर्जन्म लेना पड़ेगा)। किन्तु जिसका आकाश निर्मल है, उस घड़े के फूट जाने पर उसका आकाश पुनः किसी घड़े में वापस नहीं आता (अर्थात निर्मल मनुष्य की आत्मा पुनः जन्म के बन्धन में नहीं पड़ती)।[२] नानात्व के बीच एकत्व को अत्यन्त सरल रूप में व्यक्त करते हुए कहा गया है कि विश्व ब्रह्म है। और ब्रह्म मेरी आत्मा है। इस प्रकार एक ही परम तत्व की सत्ता की अभिव्यक्ति समस्त पदार्थों में मानी गई है। वही एक प्रकार सर्वत्र आलोकित है।

श्वेताश्वतर उपनिषद में ब्रह्म को ईश कहा गया है। वह शिव रुद्र हर और महेश्वर भी कहलाता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि यह उपनिषद अन्य उपनिषदों से बहुत बाद का है। ईश्वर को प्रकृति एवं जीवों का स्वामी कहा गया है। जो अपनी शक्ति माया अथवा प्रकृति द्वारा जगत का सृजन करता है। प्रकृति एक अज, सत्व, रजस और तमस से बनी हुई तथा गतिशील है तथा इन गुणों से अपने जैसी अनेक वस्तुएं उत्पन्न करती है।[३] मायावी ईश्वर अपनी

श्वेताश्वतर उपनिषद का ईश्वर वाद

---

१. बृ० उप० १. ४. १०, छान्दोग्य उप० ६- ८. ७, छान्दोग्य उप० ३.१४. १

२. इस प्रसंग में आत्मा और जीव को एक ही माना गया है।

३. श्वेता० उप० ४. ५, अजामेकाम् लोहित शुक्लकृष्णां बहवीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

शक्ति से समस्त लोकों को बनाता तथा उन पर शासन करता है। वह गुणों का नियामक है तथा उसकी प्रकृति विचित्र जगत का निर्माण करने वाली महाशक्ति।

जीव और आत्मा

उपनिषदों के अनुसार वैयक्तिक आत्मा (इंडिवीड्अल सेल्फ़) और परम आत्मा (सूप्रीम सेल्फ़) अन्धकार और प्रकाश के समान एक ही शरीर की हृदय गुहा में साथ-साथ निवास करते हैं। इनमें प्रथम को जीव और दूसरे को आत्मा कहा गया है। जीव कर्म के फलों को भोगता है। तथा सुख-दुख का अनुभव करता है। इसके विपरीत आत्मा कूटस्थ और निर्लिप्त है। यद्यपि दोनों अज और नित्य हैं तथापि जीव अज्ञान के कारण दुख और बन्धन से युक्त है। आत्मा का ज्ञान होने पर यह अज्ञान और उसके साथ ही दुख और बन्धन भी नष्ट हो जाते हैं। कुछ उपनिषदों में आत्मा और जीव में अन्तर नहीं माना गया है किन्तु कुछ में यह अन्तर स्पष्ट है। उनमें आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य स्थापित करते हुए जीवको इनसे भिन्न माना गया है। जीवात्मा को भी शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से पृथक् और इनसे परे कहा गया है। वह नित्य, चेतन, अजर, अमर और अशरीरी है किन्तु उसमें अनन्त ज्ञान नहीं है। वह भोक्ता और कर्त्ता है अतः कर्मों के बन्धन में पड़ा रहता है। उसमें इच्छा, संकल्प, क्रिया और चरित्र है। इसका पुनर्जन्म होता है जो जीव के कर्मों पर आधारित होता है। जीव की चार अवस्थाओं का भी उल्लेख हुआ है। प्रथम 'जाग्रत' अवस्था है जिसमें वह विश्व कहलाता है तथा वाह्य इन्द्रियों द्वारा वह सांसारिक विषयों को भोगता है। 'स्वप्न' की अवस्था में वह तेजस है जो मन के द्वारा सूक्ष्म आन्तरिक विषयों को जानता और भोगता है। 'सुषुप्ति' अवस्था में वह प्रज्ञा कहलाता है जो एकरस, चैतन्य और आनन्द है तथा जो अन्तर्वाह्य किसी भी विषय को नहीं देखता। चौथी 'तुरीय' अवस्था में वह आत्मा कहलाता है जो न चेतन है और न अचेतन बल्कि एक अद्वैत विश्वचेतना है। यह आत्मा ही ब्रह्म है। उपनिषदों में जीव की स्थिति पांच पृथक् कोषों मे भी बताई गई है। जिन्हें क्रमशः अन्नमयकोष, प्राणमयकोष, मनोमयकोष, विज्ञानमय-कोष तथा आनन्दमय कोष कहा गया है। आनन्दमय कोष में ही विशुद्ध आत्मा का निवास है। यही आत्मा ब्रह्म है जिसके ज्ञान से जीव के बन्धन छूट जाते हैं। यह आत्म-ज्ञान अपरोक्षानुभूति से होता है।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

उपर ब्रह्म, आत्मा और जीव के स्वरूप के विषय में जो बातें कही गई है उनमें अनेकत्र विरोध परिलक्षित है। किन्तु उपनिषदों में इस प्रकार की परस्पर विरोधी बातों का सन्निवेश मिलता है। उपनिषद कभी तो ब्रह्म को निर्विकार कहते हैं और कभी कहते हैं कि सृष्टि की रचना उसी ने की। वे कभी आत्मा और परमात्मा को अभिन्न मानते हैं और कभी यह कहते हैं कि परमात्मा सर्वशक्तिमान है और आत्मा सीमित है। परमात्मा आनन्द स्वरूप है और आत्मा दुख से पीड़ित। आत्मा और परमात्मा एक है, आत्मा और परमात्मा पृथक् हैं तथा आत्मा और परमात्मा अलग भी हैं और एकाकार भी, ये तीन तरह के मत हैं जिनमें प्रायः तीनों का समर्थन उपनिषदों में खोजा जा सकता है। इन्हीं तीन प्रकार को बातों से कालान्तर में अद्वैतवाद, द्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद का विकास हुआ। उपनिषदों में इन परस्पर विरोधी मतों के प्रतिपादन का मूल कारण यह है कि वे किसी एक ऋषि की रचना नहीं है। उनमें अनेक ऋषियों की अनुभूतियां संग्रहीत हैं अतः उनमें न्यूनाधिक वैमत्य और विरोध स्वाभाविक है।

बन्धन और मोक्ष

उपनिषदों के अनुसार अविद्या बन्धन का कारण है और विद्या से मोक्ष होता है। अविद्या की स्थिति में नित्य और अनित्य का अन्तर स्पष्ट नहीं होता। उसमें भेद, नानात्व और अहंकार होता है। अहंकार बन्धन का कारण है। इसके कारण जीव इन्द्रियों, मन, बुद्धि और शरीर से तादात्म्य करने लगता है। वस्तु जगत के प्रति मोह बन्धन उत्पन्न करता है। अहंकार, स्वार्थ और वासना बन्धन के प्रमुख कारण माने गये हैं, जिनके प्रभाव से मनुष्य आवागमन तथा पुनर्जन्म के बंधन से मुक्त नहीं हो पाता है। विद्या द्वारा अहंकार से छूट कर अपने असली रूप ब्रह्म को पहचान कर उससे तादात्म्य स्थापित करने से बन्धन छूट जाते हैं। ब्रह्मज्ञान से मोक्ष होता है और ब्रह्म ज्ञान का अर्थ है ब्रह्मभावना अर्थात् सबमें ब्रह्म को देखना और अपने को सबमें देखना। इसी स्थिति को 'एकात्मदर्शन' (सबमें एक ही आत्मा को देखना) तथा 'सर्वात्मदर्शन' भी कहा गया है। इसे अमृत-पद भी कहा गया है क्योंकि इसमें जीवात्मा एवं परमात्मा का एकत्व है। इस स्थिति में धर्म, अधर्म, राग, द्वेष, सुख-दुख, मोह और भय इत्यादि नहीं है। वहाँ अनिर्वचनीय शाश्वत शान्ति है। वह परम प्रज्ञा, निःस्वार्थ संकल्प, निर्विशेष चेतना तथा अनिर्वचनीय आनन्द की अवस्था है।[१]

---

१. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, राधाकृष्णन्, इण्डियन फिलोसोफी, भाग १, पृ० १५२-२०७।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

तत्वविचार के साथ-साथ उपनिषदों में मोक्ष-प्राप्ति के साधनों पर भी विचार किया गया है। संक्षेप में मोक्ष-प्राप्ति का एकमात्र साधन, आत्मलाभ (सेल्फ रियलाइजेशन) अथवा ब्रह्म साक्षात्कार है।

मोक्ष के साधन

किन्तु पूर्ण आत्मलाभ के लिए क्रमशः अनेक अन्य साधनों का सहारा लेना पड़ता है। आत्मा अन्तर्यामी है वह बाह्य जगत की वस्तुओं के पीछे दौड़ने से नहीं मिल सकता परन्तु बाह्य विषयों के पीछे भागना मानव मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति को रोक कर इन्द्रियों को बाह्य विषयों से समेट कर अन्तःस्थ आत्मा पर मन को केन्द्रित करना आत्मलाभ के लिए आवश्यक है। इस प्रकार आत्मलाभ के लिए अन्तर्मुखता प्रथम आवश्यकता है। कठोपनिषद में कहा गया है कि आत्मा को न तो प्रवचनों से, न मेधा से और न बहुश्रुत होने से ही जाना जा सकता है।[१] उसके लिए जीवन में सत्य, तपस्या यथार्थ बोध और ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है।[२] इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए गुरु से दीक्षा भी आवश्यक है। कठोपनिषद में कहा है 'उठो, जागो, और जो तुमसे श्रेष्ठ है उनसे सीखो क्योंकि आत्मलाभ का पथ छुरे की धार के समान तीक्ष्ण है।'[३] छान्दोग्यउपनिषद में गान्धारनिवासी मनुष्य की कथा है। डाकू उसकी आखें बन्द करके उसे उसके देश से दूर ले जाकर जंगल में छोड़ देते हैं। तब किसी अन्य व्यक्ति के पथ प्रदर्शन करने पर ही वह घर पहुँच पाता है। इस कथा के माध्यम से आत्मलाभ के लिए गुरु की आवश्यकता को सुन्दर ढंग से समझाया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद में भक्ति को भी आत्मलाभ का साधन माना गया है। इसमें कहा गया है कि जब तक जिज्ञासु में देवता और गुरु के प्रति पर्याप्त भक्ति न हो तब तक उसको आत्मलाभ के मार्ग में दीक्षा नहीं देनी चाहिए।[४] कुछ उपनिषदों में सन्यास को भी एक आवश्यक शर्त माना गया है किन्तु सबमें ऐसा नहीं है। भक्ति, शुद्धि, अन्तर्मुखता तथा गुरु से दीक्षा मिलनेपर जिज्ञासु को योगाभ्यास और ओ३म पर निदिध्यासन अथवा प्रणव करना चाहिए। निदिध्यासन के पूर्ण होने पर आत्मा ब्रह्म से एक हो जाती है तथा आत्मलाभ होता है।

---

१. कठोपनिषद १.२.२२
२. मुण्डकोपनिषद ३.१.५
३. छान्दोग्य उप० ४.९.३
४. श्वेता० उप० ६.२२.२३ यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

प्रो० रानाडे ने आत्मलाभ के मार्ग में अग्रसर जीव की पाँच अवस्थाओं का संकेत उपनिषदों में माना है।[१] प्रथम अवस्था में व्यक्ति स्वयं को आत्मा से पृथक् देखते हुए अपने अन्दर स्थित आत्मा के रहस्यात्मक दर्शन द्वारा उसकी अनुभूति करता है। इस अवस्था की सूचना बृहदारण्यक उपनिषद में 'आत्मा वा अरे दृष्टव्यः' कह कर दी गई है।[२] इसी उपनिषद में दूसरी अवस्था को यह कर समझाया गया है कि हम यह अनुभव करें कि हम आत्मा ही हैं, शारीरिक, बौद्धिक अथवा भावात्मक कोष नहीं। इस प्रकार दूसरी अवस्था में शुद्ध आत्मा से तादात्म्य का अनुभव होता है।[३] बृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार तीसरी अवस्था में यह अनुभूति होनी चाहिए कि जिस आत्मा का हमने अनुभव किया है उसका एकत्व ब्रह्म से है।[४] चौथी अवस्था में प्रथम तीन अवस्थाओं के परिणामस्वरूप 'अहं ब्रह्मास्मि'[५] अथवा 'तत्वमसि'[६] की अनुभूति होती है। पांचवीं अवस्था में व्यक्ति को यह अनुभूति होगी कि समस्त जगत ही ब्रह्म है। छान्दोग्य उपनिषद में 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' का उद्घोष हुआ है।[७] इस पूर्ण अद्वैत की अवस्था में पहुँच कर पूर्ण आत्मलाभ हो जाता है। इस अवस्था में मनुष्य की शारीरिक वासनाओं का अन्त हो जाता है।[८] उसके हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं तथा उसके समस्त सन्देह एवं भ्रम दूर हो जाते हैं।[९] एक बार समस्त शक्ति के स्रोत परम तत्व से तादात्म्य हो जाने पर जीवात्मा के समस्त दुख दूर हो जाते हैं और वह विश्वात्मा की अनन्त शक्ति में भाग लेने लगता है।[१०] विश्वात्मा के योग से उत्पन्न परम आनन्द का सांगोपांग वर्णन तैत्तिरीय उपनिषद में हुआ है। बृहदारण्यक उपनिषद में इस आनन्द की तुलना प्रिय पत्नी

---

१. ए कान्सट्रक्टिव सर्वे आव दि उपनिषदिक फिलोसोफी, पृ० २७६
२. बृ० उप० २.४.५
३. बृ० उप० ४.४.१२
४. बृ० उप० २.५.१९
५. बृ० उप० १.४.१०
६. छान्दोग्य उप० ६.८.७
७. छान्दोग्य उप० ३.१४.१
८. बृ० उप० ४.४.१२
९. मुण्डकोपनिषद २.२.८ भिद्यते हृदय ग्रन्थि श्छेद्यते सर्वसंशया :
१०. मुण्डकोपनिषद ३.१.२

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

के साथ संयोग से उत्पन्न आनन्द से की गई है।[१] तैत्तिरीय उपनिषद के अनुसार इस आनन्द की अनुभूति भय की अनुभूति को समाप्त कर देती है। जीव निर्भय हो जाता है। क्योंकि उसने अदृश्य, अशरीर, अनिर्वचनीय, निर्भय और सबके निराधार आधार में आवास पा लिया है।[२] छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार जो आत्मा की खोज करके उसे पा लेता है उसे समस्त लोक प्राप्त हो जाते हैं और उसकी समस्त इच्छाएं पूर्ण हो जाती हैं।[३] यही आत्मलाभ अथवा ब्रह्म-ज्ञान उपनिषदों का प्रमुख विषय है इसीलिए उपनिषदों की विद्या को ब्रह्म-विद्या भी कहा गया है जिसके अनुशीलन से मुमुक्ष जनों की संसार-बीज-भूता अविद्या नष्ट हो जाती है तथा गर्भवास, पुनर्जन्म आदि के बन्धन शिथिल हो जाते हैं।

पुनर्जन्म और कर्मवाद का सिद्धान्त

उपनिषदों में पुनर्जन्म एवं कर्मवाद के सिद्धान्त का विकसित रूप दिखाई देता है। वृहदारण्यक उपनिषद में एक स्थान पर इन दोनों का परस्पर सम्बद्ध उल्लेख मिलता है।[४] इसके अनुसार मनुष्य जैसा कर्म करता है उसे वैसा फल अवश्य भोगना पड़ता है। कर्म के सुधरने से मनुष्य का अगला जन्म अच्छा होगा और उस जन्म में भी जब वह अच्छे कर्म करेगा तब उसका तीसरा अगला जन्म और अच्छा होगा। इस प्रकार जन्म-जन्मान्तर तक सत्कर्म में प्रवृत्त मनुष्य की मुक्ति हो जायगी और वह जन्म-मरण के बन्धन से छूट जायेगा। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। उसकी इच्छाओं अथवा वासनाओं से उसके कर्म प्रेरित होते हैं तथा कर्म के अनुसार ही निर्धारित होता है उसका भविष्य। इसी सिद्धान्त में उस बौद्ध विश्वास का बीज निहित है जिसके अनुसार आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी कर्म के आधार पर पुनर्जन्म माना गया है। छान्दोग्य उपनिषद में आवागमन के इस सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसके अनुसार मृत्यु के पश्चात् ज्ञानयुक्त अरण्यवासी देवयान से जाता है तथा ब्रह्मन से उसका तादात्म्य होता है। यज्ञ-कर्म में रत गृहस्थ पितृयान से चन्द्रलोक को जाता है तथा कर्मफल के समाप्त होने तक वहाँ रहता है।

---

१. वृ० उप० ६.३.२१
२. तै० उप० २.७
३. छान्दोग्य उप० ८.७.१
४. वृ० उप० ४.३-४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

तत्पश्चात् वह पुनः भूलाक को लौटता है तथा प्र मतः वीरुध के रूप में जन्म लेता है और पुनः किसी द्विज कुल में। दुष्ट लोग अन्त्यज, श्वान और शूकर की योनि में जन्म लेते है। इस प्रसंग से यह स्पष्ट है कि पुण्य कर्म से अच्छे योनि में तथा पाप कर्मों से कुत्सित-योनि में जन्म ग्रहण करना पड़ता है। छान्दोग्य उपनिषद के इस विवरण से मिलता-जुलता वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद के एक दूसरे प्रसंग में भी मिलता है।[१] कौषीतकि उपनिषद में पुनर्जन्म की इस प्रक्रिया का वर्णन कुछ भिन्नता के साथ हुआ है। इसके अनुसार मृत्यूपरान्त सभी चन्द्रलोक को जाते हैं। उनमें से कुछ पितृयान का अनुसरण करते हुए ब्रह्म को प्राप्त करते हैं तथा शेष, मनुष्य से लेकर कीट तक जितनी योनियां है, उनमें से किसी एक को धारण करके पुनः भूतल पर आते हैं।[२] पुनर्जन्म-सिद्धान्त का अविकसित रूप शतपथ ब्राह्मण में भी संकेतित है। सुनीतिकुमार चटर्जी का यह विश्वास है कि इस सिद्धान्त का ज्ञान पुरा-ऐतिहासिक युग के निषादों को था।[३] उपनिषद युग तक इस सिद्धान्त के पूर्ण-विकास के पीछे निषाद विश्वासों एवं परंपराओं का योग हो सकता है।

औपनिषद दर्शन का सामाजिक जीवन पर प्रभाव

उपनिषदों में प्रतिपादित दार्शनिक विचारों का सामाजिक चेतना पर गहरा प्रभाव पड़ा। सारी सृष्टि ब्रह्म से व्याप्त है और जड़ तथा चेतन, सबके भीतर एक ही सत्ता निवास करती है, इस मत के प्रचार से हिंसा की भावना समाप्त होने लगी तथा यज्ञ-धर्म विकास भी अवरुद्ध होने लगा। इसके विपरीत सभी प्राणियों में एक ही आत्मा के दर्शन के कारण सर्वभूतानुकम्पा की भावना बलवती हुई। मोक्ष का सिद्धान्त निरूपित करते हुए अनेकशः जीवन तथा जगत की क्षणभंगुरता और दुःख-पूर्णता की चर्चा की गई इससे निराशावाद तथा वैराग्यमूलक प्रवृत्तियों को बल मिला।[४] सन्यासियों का आरण्यक जीवन आदरणीय समझा जाने लगा क्योंकि वही विश्व के नश्वरता के सच्चे ज्ञाता थे। कर्मवाद के सिद्धान्त के

---

१. बृ० उप० ६. २. १५–१६
२. कौषीतकि उप० १.२–३
३. द्र० दि वैदिक एज, पृ० १५१
४. मैत्रायणी उप० १.२-४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj: Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

विकास के परिणामस्वरूप नैतिक चेतना का भी विकास हुआ। अब यह विश्वास किया जाने लगा कि आवागमन के बंधन से मुक्त होने के लिए सत्कर्म में प्रवृत्त होना आवश्यक है। कुत्सित कृत्य में लगे मनुष्यों के लिये पुनः श्वान अथवा शूकर योनि में उत्पन्न होने की कल्पना अवश्य भयावह रही होगी। तैत्तिरीयोपनिषद में सत्य और सत्कर्म पर बल दिया गया है।[१] वृहदारण्यक उपनिषद में संयम, दान और दया को सदाचार का अंग माना गया है।[२] मुण्डकोपनिषद में सत्य तपस्वी-जीवन तथा ब्रह्मचर्य को भी महत्व प्रदान किया गया है।[३] इसके अतिरिक्त अहिंसा, अस्तेय, त्याग और इन्द्रिय-निग्रह का भी उपदेश यत्र तत्र मिलता है। उपनिषदों में माता-पिता एवं अतिथियों को देवताओं के समान आदरणीय बतलाया गया है। ज्ञान की महत्ता तथा 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' के सिद्धान्त की लोकप्रियता के कारण वर्ण-व्यवस्था भी प्रभावित हुई। यद्यपि जनसाधारण में प्रचलित विश्वासों की रूढ़िवादिता के कारण इस व्यवस्था का मूलोच्छेदन न हो सका किन्तु इसके मूल पर कुठाराघात अवश्य हुआ। सभी मनुष्यों में समान रूप से एक ही ब्रह्म प्रतिबिम्बित हैं। इस सिद्धांत के स्वीकरण के पश्चात् ब्राह्मण की श्रेष्ठता और शूद्र की हीनता को स्थिर करना कठिन हो गया। द्विज और शूद्र कुलमें जन्म का कारण पूर्व जन्म में अर्जित कर्म माने गये। इस दृष्टि-परिवर्तन का प्रभाव उपनिषत्कालीन सामाजिक जीवन पर स्पष्टतःपरिलक्षित होता है। मनुष्य की महानता का आधार जन्म नहीं वरन् उसका शील माना गया। ब्रह्मज्ञान की शिक्षा पाने वाला सत्यकाम जाबाल था, जानश्रुति शूद्र थे और उन्हें आत्म-विद्या सिखाने वाले ऋषि-रैक्व गाड़ीवान थे। कर्मकाण्ड-प्रधान यज्ञ-धर्म के रहस्य-ज्ञाता तथा अधिकारी जहां केवल ब्राह्मण पुरोहित थे वहीं ब्रह्मविद्या के अनुशीलन में न केवल तत्कालीन जिज्ञासु राजन्यों ने अभिरुचि दिखाई वरन् मैत्रेयी और गार्गी आदि स्त्रियों ने भी मोक्षप्रद ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का प्रयास किया।

उपनिषत्कालीन मनीषियों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सफलता विविध धार्मिक एवं सांस्कृतिक धाराओं में समन्वय एवं सामंजस्य उत्पन करना है। इस

---

१. तै० उप० १. ११

२. बृ० उप० ५.२

३. मुण्डकोपनिषद ३.१.५

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

समन्वयवादी दृष्टिकोण

प्रसंग में ईशोपनिषद का निष्काम-कर्म का उपदेश विशेष उल्लेखनीय है, जिसका सुविकसित प्रौढ़ स्वरूप भगवद्गीता में मिलता है। स्पष्टतः निष्काम कर्म के अन्तर्गत प्रवृत्ति और निवृत्ति के सामंजस्य का प्रयास-अन्तर्निहित है। इन विरोधी धाराओं के समन्वय का प्रयास आश्रम-व्यवस्था के माध्यम से भी किया गया। छान्दोग्य उपनिषद में तप को जीवन के तीन धर्म-स्कन्धों में स्थान दिया गया है। तपस्वियों एवं सन्यासियों की आध्यात्मिक श्रेष्ठता भी अनेकत्र स्वीकृत है। मुण्डकोपनिषद स्पष्टतः मुण्डित-शिर सन्यासियों की रचना है जिसमें यज्ञ-धर्म का घोर विरोध है। उपनिषद-साहित्य में विश्व की क्षण-भंगुरता, सांसारिक सुखों की अनित्यता, तथा आत्मा की अमरता का जो उद्-घोष है उससे भी निवृत्ति-लक्षण धार्मिक परम्पराओं की लोकप्रियता परि-लक्षित है। जैसा कि प्रथम अध्याय में ही बतांया गया है, पूर्व-वैदिक आर्य-धर्म प्रवृत्ति-लक्षण था तथा उसमें निवृत्ति-लक्षण धार्मिक विश्वास सर्वथा अनुपस्थित थे। ऋक्संहिता में मुनियों की परम्परा का संकेत है किन्तु उनका विरला उल्लेख एवं विचित्र वर्णन ऋग्वैदिक धर्म के सामान्य पृष्ठभूमिमें असं-गत लगता है। वे किसी प्राचीन एवं समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा के उच्छेदित अवशेष प्रतीत होते हैं।[१] वैदिक संस्कृति ज्यों-ज्यों पूर्वाभिमुख हुई एवं श्रमणों मुनियों के धार्मिक विश्वासों से सुपरिचित होती गई। तैत्तिरीय आरण्यक में गंगा और यमुना के प्रदेश को मुनियों का निवास-स्थान बताया गया है। ब्राह्मण युग में भी तापस धर्म एक यज्ञ-विरोधी धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में विद्यमान था किन्तु उसकी लोकप्रियता अपेक्षाकृत कम थी। ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्टतः उनकी निन्दा की गई है।[२] इसके विपरीत शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि प्रजापति ने तप के द्वारा सृष्टि का निर्माण किया।[३] इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह उल्लेख मिलता है कि देवताओं ने तप के द्वारा ही देवत्व प्राप्त किया।[४] इन उद्धरणों से सिद्ध है कि ब्राह्मण युग में ही तप को यज्ञ के समकक्ष स्थान देने का प्रयास हो रहा था तथा उपनिषद-

---

१. प्रथम अध्याय में इनका सम्बन्ध निषाद संस्कृति से बताया गया है। द्र० पृ० १५-१७
२. ऐत० ब्रा० ३३.११
३. शत० ब्रा० २.५.१.१–३
४. तै० ब्रा० ३.१२.३

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

युग तक स्पष्टतः क्लेश-लक्षण तापस-धर्म की महत्ता स्वीकृत हुई। उपनिषत्कालीन धर्म के अन्तर्गत निवृत्तिमूलक तप और संन्यास की परम्परा का अंगीकार स्थानीय एवं आर्येतर (सम्भवतः निषाद) धार्मिक विश्वासों के प्रति ऋषियों के उदार दृष्टिकोण का संकेतक है। प्रथम अध्याय में यह बताया गया है कि निवृत्तिमूलक धार्मिक विश्वास निषाद संस्कृति की देन प्रतीत होते हैं। निषाद-संस्कृति के केन्द्र, मध्यदेश के दक्षिण पूर्व में निवृत्तिमूलक जैन धर्म के इतिहास का प्रारम्भ उत्तर-वैदिक काल में हो ही चुका था जिसका वैदिक संस्कृति धारा से कोई सम्बन्ध नहीं था। आर्य एवं आर्येतरीय सांस्कृतिक धाराओं के समन्वय की यह प्रवृत्ति धार्मिक एवं सामाजिक जीवन के विविध क्षेत्रों में दृष्टिगोचर होती है। उपनिषद युग के मनीषियों का यह प्रयास स्तुत्य एवं स्पृहणीय है।

★

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

आधार-ग्रन्थ सूची

मूलग्रन्थ

वेद

अथर्ववेद : सम्पादक आर० राथ और डब्लू० डी० ह्विटने, बर्लिन १८५६, सायण भाष्य सहित, सम्पादक एस० पी० पण्डित, बम्बई १८९५-९८,
अनुवादक डब्लू० डी० ह्विटने, संयुक्त राज्य अमेरिका, १९०५।

ऋग्वेद : संहिता और पद, सायण भाष्य सहित, सम्पादक एफ० मैक्समूलर, द्वितीय संस्करण, १८९०-२,
संहिता और पद, सायण-भाष्य सहित, वैदिक संशोधन मंडल, पूना १९३३-५१,
संहिता, एम० एन० दत्त, कलकत्ता, १९०६
आर० टी० एच० ग्रिफिथ का अनुवाद, बनारस १९९६-९७

काठक-संहिता : सम्पादक वान श्रेडर, लिपिफिग, १९००-११

तैत्तिरीय-संहिता : सम्पादक ए० बेबर, बर्लिन, १८७१-७२,
माधवकृत भाष्य सहित, कलकत्ता १८५४-९९,
अंग्रेजी अनुवादक, टी० एस० कीथ

मैत्रायणी संहिता : सम्पादक वान श्रेडर, लिपफिग, १८८१-८६

वाजसनेयी-संहिता : महीधर भाष्य सहित, सम्पादक ए० बेबर, लन्दन १८५२, निर्णय सागर संस्करण बम्बई १९१२

सामवेद : अनुवादक आर० टी० एच० ग्रिफिथ, बनारस १८९३

ब्राह्मण

ऐतरेय ब्राह्मण : अनुवादक हाग, बम्बई १८६३,
अनुवादक कीथ, हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज, केम्ब्रिज, मेसेच्युसेट्स, १९२०

गोपथ ब्राह्मण : सम्पादक राजेन्द्रलाल मित्र और एच
कलकत्ता १९७२

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

तैत्तिरीय ब्राह्मण : सम्पादक राजेन्द्रलाल मित्र, कलकत्ता, १८५५-७०
पंचविंश ब्राह्मण : सम्पादक ए० वेदान्त वागीश, कलकत्ता १८६९-७४
शतपथ ब्राह्मण : सम्पादक ए० वेबर, लन्दन १९२४
अनुवादक जे० एगलिंग, आक्सफोर्ड १८८२-१९००
जैमिनीय ब्राह्मण : सम्पादक रघुबीर और लोकेशचन्द्र, नागपुर १९५४

आरण्यक

ऐतरेय आरण्यक : सम्पादक ए० बी० कीथ, आक्सफोर्ड १९०९
तैत्तिरीय आरण्यक : सम्पादक हरिनारायण आप्टे, पूना १८९८
शांखायन आरण्यक : सम्पादक ए० बी० कीथ, आक्सफोर्ड १९०९

उपनिषद्

ईशोपनिषद : निर्णय सागर संस्करण, बम्बई १९३०
कठोपनिषद : निर्णय सागर संस्करण, बम्बई १९३०
छान्दोग्य उपनिषद : निर्णय सागर संस्करण, बम्बई १९३०
तैत्तिरीय उपनिषद : शांकर भाष्य सहित, पंचम संस्करण, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना १९२९
बृहदारण्यक उपनिषद : निर्णय सागर संस्करण, बम्बई १९३०
मैत्रायणी उपनिषद : निर्णय सागर संस्करण, बम्बई
श्वेताश्वतर उपनिषद : निर्णय सागर संस्करण, बंबई १९३९

श्रौत-सूत्र

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र : आर० गारबे द्वारा सम्पादित, कलकत्ता १८८२
आश्वलायन श्रौतसूत्र : आर० विद्यारत्न द्वारा सम्पादित, कलकत्ता १८६४-७४
कात्यायन श्रौतसूत्र : ए० वेबर द्वारा सम्पादित, लन्दन १८५५
सांख्यायन श्रौतसूत्र : हिलेब्रान्त द्वारा सम्पादित, कलकत्ता १८८२

गृह्य सूत्र

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र : सम्पादक एम० विन्टरनित्ज, वियना १८८७
लायन गृह्यसूत्र : सम्पादक ए० एफ० स्टेंज्लर, लिपझिग १८६४
गृह्यसूत्र : सम्पादक एफ० नादर, डारपेट, १८८४
ह्यसूत्र : सम्पादक गोपाल शास्त्री नेने, चौखम्बा संस्कृत साराज, बनारस १९२६
: सम्पादक आर० शामशास्त्री, मैसूर १९२०
: सम्पादक जे० कित्सें, वियना १८८९

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

धर्मसूत्र

आपस्तम्ब धर्मसूत्र : सम्पादक जी० बूलर, बम्बई संस्कृत सीरीज, बम्बई १९३२

गौतम धर्मसूत्र : सम्पादक स्टेज्लर, १८७६

बौधायन धर्मसूत्र : सम्पादक ई० हुल्श, लिपझिग १८८४

वाशिष्ठ धर्मसूत्र : सम्पादक ए० ए० फ्यूरर, बम्बई १९१६

अन्य संस्कृत ग्रन्थ

अर्थशास्त्र, कौटिल्य : हिन्दी अनुवाद सहित, अनुवादक उदयवीर शास्त्री, लाहौर १९२५

अंग्रेजी अनुवाद, आर० शाम-शास्त्री, बंगलोर १९२३

दीघनिकाय : सम्पादक टी० डब्ल्यू० राइस डेविड्स और जे० ई० कार्पेन्टियर, लन्दन १८९०–१९११

अनुवादक राहुल सांकृत्यायन एवं जगदीश कश्यप, बनारस १९३६

निरुक्त : (दुर्गाचार्य की टीका सहित) सम्पादक बी० के० राजवाड़े, ना १९२१–२६

पद्म पुराण : आनन्दाश्रम संस्करण, पूना

ब्रह्मपुराण : आनन्दाश्रम संस्करण, १८९५

भविष्य पुराण : श्री वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई

भागवत पुराण : कुम्भकोणम संस्करण, १९१६

मत्स्य पुराण : सम्पादक जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता १८७६

मनु-स्मृति : निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९४६

महाभारत : सम्पादक पी० सी० राय, कलकत्ता १८८१–८२, स्वाध्याय मण्डल संस्करण तथा कुम्भकोणम संस्करण

रामायण : निर्णय सागर संस्करण, पी० सी० राय द्वारा सम्पादित, कलकत्ता १८८१–८२

वायु पुराण : सम्पादक, एच० एन० आप्टे, १९०५

विष्णु-पुराण : सम्पादक जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८८२

हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस गोरखपुर सं० २००९

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

कोष

एन्साइक्लोपीडिया आव रिलिजन एण्ड एथिक्स
एन्साइक्लोपीडिया आव सोशल साइन्सेज
एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका

सामान्य आधुनिक ग्रन्थ

अल्तेकर, ए० एस० : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, प्रयाग सम्वत २००४
: एजुकेशन इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, बनारस १९३४
: पोजीशन आव वीमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन, बनारस १९३८
: स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, १९४९

अय्यर, एल० के० तथा बलरत्नम : एन्थ्रोपालोजी इन इण्डिया, बम्बई १९६१

अग्रवाल, वी० एस० : इंडिया ऐज नोन टु पाणिनि, १९५३

आप्टे, वी० एम० : शोसल एन्ड रिलिजस लाइफ इन गृह्यसूत्राज, बाम्बे १९५४

आयंगर, पी० टी० एस० : वीमेन इन ऋग्वेद, प्रथम संस्करण

ओल्डेन बर्ग : बुद्ध हिज लाइफ हिज डाक्ट्रिन हिज आर्डर, कलकत्ता १९२७

कपाडिया, के० एम० : मैरेज एण्ड फेमिली इन इण्डिया, द्वितीय सं०, १९५८

काणे, पी० वी० : हिस्टरी आव धर्मशास्त्राज, वाल्यूम दो और तीन, पूना १९४१

कार्वे इरावता : किनशिप आर्गनाइजेशन इन इण्डिया, पूना १९५३

काल्डवेल : कम्परेटिव ग्रामर आव दि द्रविडियन लैंग्वेज
: दि सेन्सस आव इण्डिया (१९०१, १९११, १९२१,
: १९३१, १९४३)

कीथ, ए० बी० : रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड
: षद्स १९२५

क्रुक : पापुलर रिलिजन एण्ड फाकलोर आव नार्दर्न इण्डिया,
: १८९६

कोशाम्बी, डी० डी० : ऐनइन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी आव इण्डियन हिस्
: बाम्बे १९५६

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

गुहा, बी० एस० : मेन आउट लाइन आव रेसियल एथ्नोलोजी आव : इण्डिया, कलकत्ता, १९३७

गोल्डेन वेजर, ए० : एन्थ्रोपोलोजी, न्यूयार्क १९४६

घुरिये, जी० एस० : कास्ट एण्ड क्लान इन इण्डिया, बाम्बे १९५०

: कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया, लन्दन १९३२

: फैमिली एण्ड किन इन इण्डो-यूरोपियन कल्चर

घोषाल, यू० एन० : स्टडीज इन इंडियन हिस्टरी एण्ड कल्चर कलकत्ता, १९५७

: ए हिस्टरी आव हिन्दू पब्लिक लाइफ, कलकत्ता, १९४५

: हिन्दू पोलिटिकल थियरीज, कलकत्ता १९२३

: कान्ट्रीब्यूशन टू दि हिस्टरी आव हिन्दू रेवेन्यूसिस्टम

: हिस्टिरियोग्रैफी एण्ड अदर ऐसेज

चन्दा, आर० पी० : इण्डो-आर्यन रेसेज, राजशाही १९१६

चाइल्ड, गार्डन : न्यू लाइट आन दि मोस्ट ऐन्श्येन्ट ईस्ट, लन्दन १९५४

चाट्विक, एच० एम० : हिरोइक एज, कैम्ब्रिज १९१२

जायसवाल, के० पी० : हिन्दू पालिटी, दो भाग, कलकत्ता १९२४

जाली, जे० : हिन्दू ला एण्ड कस्टम, (अनु० बी० के० घोष) कलकत्ता १९२८

झा, जी० एन और शास्त्री, एस० एस० : दि उपनिषद्स, (अंग्रेजी अनुवाद) मद्रास १८९८-१९०१

ठाकुर, उपेन्द्रनाथ : हिस्टरी आव मिथिला, प्रथम संस्करण

डांगे, एस० ए० : इण्डिया फ्राम प्रिमिटिव कम्यूनिज्म टू स्लेवरी, बाम्बे १९४९

थामस, पी० : एपिक्स मिथ्स एण्ड लीजेण्ड्स आव इण्डिया, ११वां संस्करण बाम्बे

दत्त, एन० के० : आर्यनाइजेशन आव इण्डिया, कलकत्ता १९२५

: ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आव कास्ट इन इण्डिया, लंदन १९३१

रामायर जी० सी० : स्टडीज इन दि ओरिजिन्स आव बुद्धिज्म, एलाहाबाद, १९५७

वायु : बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, १९६३

विष्णु , आर० बी० : हिन्दू संस्कार, वाराणसी, १९५७

टर, एफ० ई० : इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन, लन्दन १९२२

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

पाल, आर० बी० : दि हिस्टरी आव दि ला आव प्राइमोजेनिचर, कलकत्ता, १

पिगट, एस० : प्रिहस्टारिक इण्डिया, पेगुइन बुक्स, १९५०

पुसाल्कर, ए० डी० : (संपादक) दि वेदिक एज, लन्दन, १९५१

प्रभु, पी० एच० : हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, तृतीय संस्करण, लन्दन, १९५८

फिक, आर० : दि सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इण्डिया इन बुद्धाज टाइम, कलकत्ता, १९२०

फ्रेजर, जे० जी : दि गोल्डेन बाउ, लन्दन १९२२

बन्द्योपाध्याय, एन०सी० : एकोनामिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, : कलकत्ता १९४५

ब्लूमफील्ड, एम० : दि अथर्ववेद, १८९९

: दि रिलिजन आव दि वेद, न्यूयार्क १९०८

बार्थ, ए० : दि रिलिजन्स आव इण्डिया, लन्दन, १८८२

बाग्ची, पी० सी० : प्रि आर्यन एण्ड प्रिड्रविडियन इन इण्डिया, कलकत्ता, १९२९

ब्रिफाल्ट : दि मदर्स, लघु संस्करण

वेडेन पावेल : इण्डियन विलेज कम्यूनिटी, १८९६

वैशम, एम० एल० : दि वण्डर दैट वाज इण्डिया, लन्दन, १९५४

भण्डारकर : वैष्णविज्म शैविज्य एण्ड अदर माइनर सेक्ट्स, पूना, १९२८

मजूमदार आर० सी० : ऐन्श्येन्ट इण्डिया, १९५२

. कारपोरेट लाइफ इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९१८

मायर, जे० जे० : सेक्सुअल लाइफ इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, २ भाग, लन्दन १९३०

मार्शल, जे० : मोहनजोदड़ो एण्ड दि इंडस सिविलिजेशन, तीन भाग, १९३१

मिक्रिडल : ऐन्श्येन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाइ मेगस्थनीज एण्ड एरियन, लन्दन, १८७७

: इनवेजन आफ इंडिया

: ऐन्श्येन्ट इंडिया एज डिस्क्राइब्ड बाइ टालेमी, कलकत्ता, १८८५

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

मुकर्जी, आर० के० : हिन्दू सभ्यता: राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५५
: ऐन्श्येन्ट इंडियन एजुकेशन, लन्दन, १९४०

मेन, जे० : हिन्दू ला एण्ड यूसेज (श्रीनिवास आयंगर द्वारा सम्पादित) मद्रास १९३८

मेहता, आर० एन० : प्रिबुद्धिस्ट इण्डिया, बाम्बे, १९३९

मैके, ई० जे० एच० : दि इंडस सिविलिजैशन, लन्दन १९३५
: अर्ली इंडस सिविलिजेशन, लन्दन, १९४८

मैक्डानेल, ए० ए० : वैदिक माइथालौजी, १९५८

मैक्डानेल और कीथ : वैदिक इंडेक्स, दो भाग १९५८

मैक्समूलर : हिस्टरी आव ऐन्श्येन्ट संस्कृत लिटरेचर, एलाहाबाद १९१२
: दि उपनिषद्स, दो भाग (अनुवाद) आक्सफोर्ड १८७९, १८८४

मोती चन्द : सार्थवाह

मौर्गा, एल० एच० : ऐन्श्येन्ट सोसाइटी, न्यूयार्क, १९६०

राइस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया

राकहिल : दि लाइफ आव बुद्ध, लन्दन १९०७

राधाकृष्णन, एस० : इंडियन फिलोसोफी, २ भाग, लन्दन १९२९

रायचौधुरी, एच० सी० : पोलिटिकल हिस्टरी आव एन्श्येन्ट इंडिया, पांचवां संस्करण

रानाडे, आर० डी० : कान्स्ट्रक्टिव सर्वे आव दि उपनिषदिक फिलोसोफी, पूना, १९२६

राय, एस० सी० : दि ओरांव

राहुल सांकृत्यायन : ऋग्वेदिक आर्य, १९५६

रैगोजिन, जेड० ए० : वैदिक इंडिया, लन्दन १८९९

रैप्सन ई० जे० : दि कैम्ब्रिज हिस्टरी आव इंडिया, भाग १, केम्ब्रिज १९२२

लुई, राबर्ट : प्रिमिटिव सोसाइटी, लन्दन १९२१

विण्टरनित्ज : हिस्टरी आव इंडियन लिटरेचर, दो भाग, कलकत्ता १९३८

वेदालंकार, हरदत्त : हिन्दू परिवार मीमांसा, कलकत्ता, सं० २०११

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

वेस्टरमार्क, ई० : हिस्टरी आव ह्यूमेन मैरेज, पांचवाँ संस्करण, १९२१
: दि ओरिजिन एण्ड डेवलेपमेंट आव मारल आइडियाज, लन्दन, १९१७
सरकार एस० सी० : सम आस्पेक्ट्स आव दि अर्लियेस्ट सोशल हिस्टरी आव इंडिया, लन्दन, ५९२८
सरकार, बी० के : दि पाजिटिव बैकग्राउन्ड आव हिन्दू सोश्योलोजी, एलाहाबाद १९२१
सर्वाधिकारी, आर० के० : दि प्रिन्सिपुल्स् आव दि हिन्दू ला आव इनहेरिटेन्स, द्वितीय संस्करण मद्रास १९१२
सूर्यकान्त : वैदिक कोष
सेन, क्षितिमोहन : संस्कृति-संगम, एलाहाबाद, १९५७
सेनार्ट ई० : कास्ट इन इण्डिया (रास का अनुवाद), लन्दन, १९३९
श्मिट : ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आव रिलिजन
शर्मा आर० एस० : शूद्राज इन ऐन्श्येन्ट इंडिया, १९५८
: आस्पेक्ट्स आव पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन ऐन्श्येन्ट इंडिया, प्रथम सं०,१९५९
शंकालिया, एच० डी० : इंडियन आर्क्यालोजी टु डे, एशिया पब्लिशिंग हाउस, १९६२
शंकरानन्द, स्वामी : ऋग्वेदिक कल्चर आव दि प्रिहिस्टारिक इंडस, कलकत्ता १९४३–४४
हटन : कास्ट इन इंडिया, द्वितीय संस्करण १९५१
हाप्किन्स, ई० डब्यू० : दि रिलिजन्स आव इण्डिया, बोस्टन, १८९५
हाल, एच० आर० : दि ऐन्श्येन्टहिस्टरी आव दि नियर ईस्ट, लन्दन,१९३६
हीन-गेल्डर्न, आर० : आर्क्यलाजिकल ट्रेसेज आव दि वेदिक आर्यन्स, जे० आई० एस० ओ० ए० (कलकत्ता), ४, पृ० ८७–११५
हीस्टरमैन, जे० सी० : दि ऐन्श्येन्ट इण्डियन रायल कन्सेक्रेशन, १९५७
ह्वीलर, एम० : इण्डस सिविलिजेशन, केम्ब्रिज, १९५३
हेरोडोटस, : हिस्टरीज, पेंगुइन सीरीज में अनूदित, १९५४
हेवलाक एलिस : स्टडीज इन दि साइकालोजी आव सेक्स, छः भाग, लन्दन १९१०
श्रेडर : प्रिहिस्टोरिक एण्टिक्विटीज आव दि आर्यन पिपुल्स, जीवन्स कृत अंग्रेजी अनुवाद, लन्दन, १८९०

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

शोध पत्र-पत्रिकाएं

इण्डियन आर्क्यालोजी - ए रिव्यू
इण्डियन एण्टिक्वेरी
इण्डिन कल्चर, कलकत्ता
इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, कलकत्ता
एनल्स आव दि भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना
ऐन्श्येन्ट इण्डिया : बुलेटिन आव दि आक्योलाजिकल सर्वे आव इण्डिया
जर्नल आव दि अमेरिकन ओरियएटल सोसाइटी, संयुक्त राज्य अमेरिका
जर्नल आव दि इण्डियन सोसाइटी आव ओरियन्टल आर्ट
जर्नल आव दि एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल, कलकत्ता
जर्नल आव दि न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी आव इन्डिया
जर्नल आव दि बाम्बे ब्रांच आव दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई
जर्नल आव दि बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना
जर्नल आव दि रायल एशियाटिक सोसाइटी आव ग्रेट ब्रिटेन एंड आयरलैण्ड
प्रोसीडिंग्स आव दि आल इंडिया ओरियन्टल कान्फ्रेंसेज
प्रोसीडिंग्स आव दि इंडियन हिस्टरी कांग्रेस
मेमायर्स आव दि आक्यलोजिकल सर्वे आव इंडिया
मैन इन इंडिया, रांची

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

अनुक्रमणिका

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
अकर्मन्	२१	अध्वर्यु	३५
अगस्त्य	५५	अनग्निदग्ध	१४७
अग्नि	३४,२०१,२०४, इत्यादि	अनड्वान्	५४
अग्निदग्ध	१४७	अनष्टा-पशु :	५६
अग्निपरीक्षा	१४३	अनस	५४
अग्निशाला	६८	अनाथपिंडक	४८
अग्निषोमीय	२०४	अनुपजातपयोधरा	१४४
अग्निष्टोम	२०३	अनुशासन	२१८
अग्निहोत्र	२०३	अनुष्ठान	२०१
अग्नीध्र	१५७	अन्तरिक्ष	२०४
अघ्न्या	२८	अन्तःस्थ	२४२
अज	२०६, २४३	अन्धक-वृष्णि	१६९
अजातशत्रु काशिराज	९५	अन्नमय कोष	२४४
अजिधावन	२०७	अपर ब्रह्म	२४२
अज्जेयता	८८	अप्सुजित	६७
अणमन्ति	६	अफगानिस्तान	३७
अतिरात्र	२०३	अब्जु	६७
अत्ता	१०१, १५६	अभिप्रतारण	१२६
अत्यग्निष्टोम	२०३	अभिषेक-पुष्करिणी	१६९
अथर्ववेद संहिता	३६,५७,७२, १२८ इत्यादि	अभिषेचन	२०७
		अभ्रातृका कन्या	१४९
अथर्वांगिरस	९४	अमर्क	८९
अदेवयु	२१	अमात्य	१९५
अद्वैतवाद	२४३	अमात्यमंडल	१९६
अधिब्रू	९१	अम्बिका	११,२२०
अध्यात्मवेत्ता	२३९	अयज्ञीय शूद्र	१११
अध्यापन	९५	अयज्वन	२१

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

अयस ६२
अयोदंष्ट्र ६२
अयोध्या २८
अरदृदेश १०
अर्चा ८५
अर्जुन १६
अलजाचिति २१४
अलवर ३९
अवध्यता ८८
अश्ममयी २१
अश्वत्थ ५४
अश्वपति कैकेय १०२
अश्वमेघ ९२, २०७, २१३
अश्विन १७२, २०६
अष्टका यज्ञ २०३
अष्टाकपाल पुरोडाश २०४
अष्ट्रा १०७
असपत्न १७१
असम १८
असुरबनिपाल ६७
असुर विवाह १८
अहिच्छत्रा ६१
अहीन, यज्ञ २०३
अक्षपटलाध्यक्ष १६२
अक्षावाप १८६, १६२
अक्षु ६६
आंगिरस युक्ताश्च १४६
आइसिस ११
आग्नेय पुरोडाश २०४
आग्रयण २०३
आज्याहुति २१८
आचार्य कौटिल्य १६७
आटकी १४४
आत्मयजन १००
आदायी ८६
आदित्य ७८
आदि-शिव ६
आनन्दमय कोष २४४
आधिदैविक पद्धति २३६
आधिपत्य २१३
आधिभौतिक पद्धति २३६
आनुवंशिक राजपद ११०
आन्ध्र जाति ४२
आपस्तम्ब १३१
आपायी ८६
आप्तोर्याम ६०१
आभीर १०८
आमलक ५४
आंयगर ५
आयतन ६८
आयसी २१
आरण्यक ४७
आरुणकेतुक २१६
आरुणि ६५
आलमगीरपुर ३
आवसथ ६८
आशु ५३
आसन्दी ७१
आसन्दीवन्त ७१
आष्टिक १३
आस्ट्रेलिद १८
इन्द्र ३३,३४,५१
इन्द्र, देवता २०६
इन्द्रियनिग्रह २५०

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

इलाल ९
इषीका २०२
इष्टिकामयचिति २१६
ईरान ११५
ईशुप्रासन २०७
ईशोपनिषद ३७
ईषुकृत् ५९
उक्थ्य २०३, २०८
उच्छृष्ट २३६
उत्तर-वैदिक ग्राम ४३
उद्गाता ३५
उद्दालक १४७
उद्धित १४७
उपक्वस ५१
उपनयन संस्कार ११४
उपनिषद १६, ४१, ४९, ९६, ९९, १०८, २३८, २४० इत्यादि
उपहन्तु २२७
उपांशु याग २०४
उपास्यदेव-श्रेष्ठतावाद ३२
उमा २३३
उरुक्रम ६७
उरुगाय ६७
उर्वशी ६७
उर्वी २१
उशस्ति ११७
ऊँट गाड़ी ५७
ऊर्णावती ६०
ऊदर ५२
ऋग्वैदिक आर्य ४
ऋग्वैदिक दास ११०
ऋज्राश्व २४
एकपत्नीकता १३९
एकपत्नीव्रत १३९
एकराट् १६३
एकात्मर्शन २४५
एकादशकपाल पुरोडाश २०४
एकाह यज्ञ २०३
एकियन २०
एकेश्वरवाद ३२
एन्थ्रोपोमोर्फिक फिगर १२
एरियन १०८
एराकोशिया १०८
एशिया माइनर २०
ओथिन संप्रदाय २१०
ओफिर ६७
ओराँव १८
ओल्ड टेस्टामेंट १६१
ओल्डनवर्ग २३८
ओसिरिस ११
औदुम्बर १४५
औद्योगिक संघ ८७
औपनिषद दर्शन २३८
औपासन होम २०३
औशिज ७२
कक्षीवान् १४६
कच्छपावतार २२५
कंटकीकारी ६१
कनिंघम २०
कन्यावध १४८
कब्रिस्तान एच २२
करकन्धु ५४
करीष २५

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

कर्पस ६७
कर्मकार ५६
कर्मवाद २४८
कर्मार २५
कर्षण ५२
कलिंग ४०
कश्मीर १६६
कसाइट २०
कामचारिणी १०
कामोत्थाप्य १११
काम्पील ४८
कालातीत २४२
काशी ३६
किरात ११ १८, १९, २०
किरात संस्कृति १८
कुकुर १६६
कुन्ती १३६
कुभा २३
कुरुक्षेत्र ३८
कुरु-पंचाल ३८
कुलाल ५६
कुलिश ५६
कुलीन तंत्रात्मक शासन पद्धति १६८
कुल्या ५२
कुसीदिन ६६
कूटस्थ २४३
कूर्च ६६
कृकवाक १४
कृत्तिवासा २३१
कृवि ३८
कृष्णा ५३
कृष्णल ६३
केनोपनिषद् ३७
केशवनारायण २३४
केशिन् ३८
केशी २३०
केहोल जाति ६
कैलाशपति २३३
कैवर्त ६१
कोफ ६७
कोशल ३६
कोष १६५
कोषाध्यक्ष १६१
कौटिलीय अर्थशास्त्र १६०
कौण्डिनेय ४१
कौशाम्बी ३६, २१५, २१७
कौषीतकि ३७
कौषीतकि सूत्र ७७
खासी जाति १६
क्रय विवाह १८
क्रव्याद २२८
गंगा १५
गंजाम ४२
गंधार ६०
गजलक्ष्मी ५
गण ५८
गणपति ५८
गाथा ६४
गारो जाति १६
गार्गी वाचक्नवी १५३
गार्गीपुत्र १४०
गिरिशय २३३
गुप्तचर १८०
गुरुतल्पसेवी ७०

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

गृष्टि ५६
गृहविन्यास ३
गोचर भूमि ४५
गोतम, राहूगण ३६
गोनिकर्तन १६२
गोमती २१
गोविकर्तन १२१, १६२
गोव्यच्च १६२
गौतम हरिद्रुमत ८६
गौतमी पु १४०
ग्रामणी २६, १८९, १९०
ग्राम देवता ५
ग्राम्यवादिन् ४६
ग्वालियर ४३
घोषक श्रेष्ठी ४८
चंडाल ११७
चन्दश्रिति २१४
चन्द्रलोक २४८
चन्दूदडो २२
चम्पा ४८
चरण-प्रक्षालन १२१
चर्मण्वती ४१
चर्मम्न १०६
चातुर्मास्य २०३
चेतन सृष्टि २४२
छदिस ६६
जंगम सृष्टि २४२
जटिला गौतमी १४०
जड़सृष्टि २३२
जन कल्याणकारी राज्य १८१
जनपद १६५
जनमेजय, परीक्षित ६८
जनराज्य १६२
जनश्रुति पौत्रायण ४६
जन्यमित्र १२३
जम्य ५१
जयपुर ३६
जलपूजा ८
जल-प्रलय ८
जलाषभेषज २१७
जाग्रत अवस्था २४४
जानश्रुति, शूद्र २५०
जाँनसर बावर २०
जाबाद ११३
जियस, यूनानी देवता ३४
जीन सिलुस्की १४
जीवात्मा ३७
जुआरी ३०
जेन्द अवस्ता ४८
जैनधर्म १६
जैमिनीय उपनिषद् ४१
जैमिनीय ब्राह्मण १४२
ज्याकार ५६
ज्यैष्ठ्य् २१३
झंगर २२
झूकर २२
झूम प्रणाली ५०
टैबू १७
टोटमवादी १४
डाँसन १०१
डिओडोरस १०८
डेलब्रुइक १४८
तकमान १०८
तक्ष ५९, १२१

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

तप	१७	दाश	६१
तमस्	२४३	दशराज्ञ	२७
तमिल-संस्कृति	८	दासदस्यु	२१
तरन्त	९०	दीक्षितार	२
तल्प	७०	दीघनिकाय	१०८
तष्टा	१०६	दीर्घतमा	७२
तस्कराणां पति	२३१	दुन्दुभिवादन	२०७
तात	१४८	दुरोण	६८
तापस धर्म	२१५	दुर्ग	१९५
ताम्र-प्रस्तर-युगीन संस्कृति	३	दुहिता	३१
ताल्प	७०	दूर्श	६५
तितउ	५२	देधिषव्य	१६०
तियामत	६७	देवजनविद्या	९४
तुर्वश	३८	देवतत्त्व	१९८
तोनियार जाति	१४७	देवयज्ञ	३१८
त्र्यम्बक	२०५	देवयान	२४८
त्र्यम्बक होम	२३१	देवराज	६
त्रसदस्यु	१४६	देवराजन	८३
त्रिशुक्र	९४	देवलक्ष्म	२१५
त्रिशुक्रिय	९४	देवापि	२८
त्रिशूलधारी	६	देवेषित	१५
थियेन जाति	१४०	देवेषुर्हविषी	१६२
दंडधर	२२४	देशातीत	२४२
दक्षिणा	५६	दोर्व्रात्य	२२९
दंड	१९५	द्यूतक्रीडा	२०७
दधिद्रव्यक याग	२०४	द्रविड़	२
दम्पती	२९	द्रविड़ संस्कृति	२
दर्शपूर्णमास	२०३	द्रुह्यु	१६२
दशरथ	१४६	द्रौपदी	१३९
दान	८८	द्वादश मंडल	१८५
दामोदर नदी	१५	धनधानी	४८
दार्शनिक चिन्तन	१९८	धर्मपति	१७३

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

धर्माधिकारी १७४
धृष्टद्युम्न १४६
धृतराष्ट्र १६१
धृतव्रत १८०
धेनु ५६
धैवर ६१
नकुल १०८
नगरनिर्माण पद्धति २१७
नगरिन् ४८
नटराज ४
ननदृ १५०
नप्तृ १३५
नरबन्दर ६
नाग उपासना ८, २३८
नागरिक सभ्यता १
नाड ४१
नाभानेदिष्ट २३२
नारद ४१
नाराशंसी ९४
निकटाभिगमन २२४
निछावर १४
निदिध्यासन २३९
निधि ९४
निमित्तातीत २४२
निरुक्त ११२
निरूढपशुबन्ध २०४
निषाद १७
निषाद संस्कृति १३, १४, १५
निष्क ६३
निष्कासन १०१
नीलशिखण्डिन २२६
नीवार ५४
नैषधि ४१
नेपाल १८
नोकोम २०
न्यग्रोध ५४
पंचजन ३८
पंचपशुबलि २१६
पंचमहायज्ञ २१७
पंच-मार्क्ड सिक्के ६४
पंचविंश ब्राह्मण ६१
पचाग्नि विद्या १०२
पंचाल नरेश ८३
पंचौदन क्रिया १६०
पंजाब १, ३७
पणि ६५
पतंग ५१
पत्नीनां सदन ६७
परमप्रज्ञा २४५
परशु ५९
पराशर ११३
परिखा १९७
परिचक्रा ४८
पर्यग्निकरण २१०, २१२
पलद ६९
पवस्त ३५
पशुपति ४, २२७
पशुपालन ४९, ५४
पशुयज्ञ २०६
पशुवध २०६
पस्त्या ६८
पाणिनि ५६
पाण्डु १६१
पातिव्रत्य भावना १४५

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

पादप-पूजा ७
पाप्मा १२६
पारिवारिक जीवन २९,११६,१२८
पारिवारिक व्यवस्था २६
पार्णव यज्ञ २०३
पार्वती २३३
पार्श्वनाथ १६
पार्शद्वाण १४७
पाल १३०
पालागल १२१, १६३
पालागली ११३
पालीनेशियन १७
पाशिन ६१
पिण्डपितृयज्ञ २०३
पिता ३१, १४५, १४८
पितामह १३४
पितृपूजा २०१
पितृप्रधान १४५
पितृप्रभुत्व २६
पितृयज्ञ २१८
पितृयान २४८
पितृव्य १५२
पित्र्य ६४
पुंजिष्ठ ६१
पुंसवन १४५
पुण्ड्र ४०
पुनर्जन्म २४८
पुराण २१८
पुर १६७
पुरन्दर २२
पुरु १६२
पुरुमिल्ह ६०
पुरुष २०४
पुरुषनारायण २१३
पुरुषमेध २१३
पुरुष-सूक्त २८,७२, १०३, १०८
पुलिन्द जाति ४२
पुल्कश ११७
पूजा ७
पूर्ववैदिक आर्यधर्म ३२
पूषन् ३४, ५६
पृथ्वी १७२, १७९, २०४
पेशश् ६१
पैतृक व्यवसाय ६५
पैप्पलाद ऋषि ४१
पैप्पलाद शाखा (अथर्ववेद) ४०
पौरोहित्य ८३
प्रकृतिचित्रग्रहणापेक्षी १६७
प्रजाति १
प्रजातीय पार्थक्य १०६
प्रजापति २०२, २२४, २२५
प्रतिपत्ति कर्म ३५
प्रतिभ्रातृव्य १४१
प्रतिरूपचर्या ८८
प्रपितामह १३४
प्रवर्ग्य १५७
प्रवाहण जैवलि ८३, ९६
प्रश्नो पनिषद् ३७
प्राग्वैदिक १
प्राग-आस्ट्रेलिद १२
प्राचीर १६७
प्राणमय कोष २४४
प्रादेशिक राज्य १६४
प्रियंगु ५४

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

प्रोटो आस्ट्रलायड ५३
प्रोष्ठ १३१
फर्रुखाबाद ३६
बदायूँ ३९
बरेली ३६
बर्धा ४१
बर्हि ६६
बलिदान २०१
बलूचिस्तान २
बवेरू राज्य ६७
बहुपतिकता १३६
बहुपत्नीक १३६
बहुभर्तृता ३२
बालिकावध १४८
बुन्देलखंड ४२
बृषभवाह ६
बृहत्संहिता १६
बृहद्देवता १३
बृहस्पति ३४
बेन गंगा ४१
बैबीलोनिया २०
बोकजकुई २०, ६६
बौद्धिक कोष २४७
बौधायन श्रौतसूत्र २१४
ब्रह्मगाव ९८
ब्रह्मचर्यव्रत १४४
ब्रह्मजय ६८
ब्रह्मन् १७, २४१, २४२, २४३, २४४, इत्यादि
ब्रह्मयज्ञ २१८
ब्रह्मवर्चस ६४
ब्रह्मवादिनी १५३
ब्रह्मविद्याप्रणेता १०१
ब्रह्महत्या ६२
ब्रह्मा १५८
ब्रह्मोदय ६४
ब्राह्मण क्षत्रिय प्रतिस्पर्द्धा ६७
ब्राह्मण धर्म १६, ६३, ६४, ९५ ९५ इत्यादि
ब्राह्मण्य ८८
ब्रिफाल्ट ३०
भगतराव २
भरतपुर ३२
भविष्यपुराण ११३
भागधुक् १८२
भागवतपुराण १३
भावात्मक कोष २४८
भाषा वैज्ञानिक १३
भिषग् १०६
भील १८
भूतपति २२८
भूतयज्ञ २२८
भूमध्यसागरीय जाति २, ५
भूमि १६५
भोज १६६
भौज्य १६४
भौज्य शासनपद्धति १६६
भ्रातृव्य १२६
मंगोलिद ११
मंत्रिमण्डल १८४
मघवन् ३५
मटची ३६
मणिकार् ५६
मत्स्य पुराण ४३

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj. Lucknow

Digitized by Sarayu Foundation Trust , Delhi and eGangotri Funding : IKS

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratganj, Lucknow